Law Book Binding House

Near Hindu College, Sonepat-131001

Name..

....

सूर्य-सिद्धान्त

[आर्यभाषा-व्याख्या एवं बृहद् भूमिका सहित]

उदयनारायणसिंह

प्रकाशक—
श्रीमती सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट
१७० जी० ब्लाक, न्यू अलीपुर
कलकत्ता

प्राप्तिस्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ १३१०२१
(सोनीपत-हरयाणा)

प्रथम संस्करण—५००
सं० २०४३, सन् १९८६
मूल्य—५०-००

मुद्रक—
शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

प्राक्कथन

वैदिक वाङ्मय एवं वैदिक धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रकाशक **श्री सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट** (कलकत्ता) की ओर से श्री पं० उदयनारायणसिंह लिखित **सूर्यसिद्धान्त** की आर्यभाषा व्याख्या प्रकाशित की जा रही है। यह व्याख्या अपनी **बृहद् भूमिका** के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस भूमिका में ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी अनेक घटनाओं के गूढ रहस्यों को न समझने के कारण लोक में जो विविध भ्रान्त धारणाएं व्याप्त हो गई हैं, उन का भी स्पष्टीकरण किया है (द्र०—लेखकीय प्रस्तावना, पृष्ठ ६; भूमिका, पृष्ठ ३०, ३५-३८, ४८, ४९)।

श्री पं० उदयनारायणसिंह ने ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी **सिद्धान्त-शिरोमणि** और **आर्यभट्टीय** का भी आर्यभाषानुवाद किया। एवं दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी **सर्वदर्शन-संग्रह** और **न्यायवात्स्यायनभाष्य** तथा अनेक गृह्यसूत्रों का भी भाषानुवाद प्रकाशित किया। इससे स्पष्ट है कि श्री पं० उदयनारायण सिंह जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। आप के सभी ग्रन्थ 'शास्त्र-प्रकाश-कार्यालय' विद्दूर, जिला मुजफ्फरपुर (बिहार) से प्रकाशित हुए थे।

ज्योतिष-शास्त्र के अनेक सिद्धान्त ग्रन्थ थे। उन में **पितामह-सिद्धान्त, वसिष्ठ-सिद्धान्त, रोमक-सिद्धान्त, पुलिश-सिद्धान्त** और **सूर्यसिद्धान्त** ये पांच सिद्धान्त ग्रन्थ प्राचीन माने जाते हैं। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मय नामक असुर द्वारा पुनः प्रोक्त अथवा संस्कृत है। भारतीय वाङ्मय में अनेक ऐसे प्राचीन प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ हैं, जिनका उत्तर काल में पुनः प्रवचन अथवा संस्करण हुआ, यथा अग्निवेश कृत तन्त्र का चरक और दृढबल ने तथा धन्वन्तरि-तन्त्र का सुश्रुत ने पुनः प्रवचन किया। संप्रति उक्त मुनियों एवं आचार्यों द्वारा संस्कृत ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। वर्तमान ज्योतिषशास्त्री एवं आर्ष ग्रन्थों के अन्यतम प्रचारक वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।

अनेक व्यक्तियों का कहना है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में प्राचीन ग्रन्थों में सूर्यसिद्धान्त के नाम से उद्धृत वचन नहीं मिलते, अतः यह अप्रामाणिक ग्रन्थ है। हमारा इस विषय में इतना ही कहना है कि सूर्यसिद्धान्त के नाम से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत वचन मूल सूर्यसिद्धान्त में रहे होंगे। सूर्यसिद्धान्त के वर्तमान लघु-संस्करण के साथ मूल सूर्यसिद्धान्त बहुत समय तक प्रचलित रहा होगा। वृद्ध सूर्य-सिद्धान्त का भी यत्र तत्र उल्लेख मिलता है, सम्भवतः उसका मूल सूर्यसिद्धान्त

से सम्बन्ध हो अथवा सूर्यसिद्धान्त का कोई वृद्ध पाठ भी रहा हो। मनु अथवा वृद्ध मनु के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत शतशः ऐसे श्लोक हैं जो वर्तमान में उपलब्ध भृगुप्रोक्त मनुस्मृति (जिस का उत्तर काल में पुनः प्रवचन हुआ) में नहीं मिलते। ऐसा होने पर भी वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति धर्मशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसी प्रकार वर्तमान में उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त के विषय में भी जानना चाहिये।

युधिष्ठिर मीमांसक

[मूल मुखपृष्ठ]

ओ३म्

सूर्य्यसिद्धान्त

अर्थात्

खगोलविद्या का अतिप्राचीन सर्वमान्य आर्षग्रन्थ

जिस को बने २१६५००० सौर वर्ष हुवे

जिस को

श्रीयुत बा० शिवरामसिंह जी के कनिष्ठ पुत्र श्री

उदयनारायणसिंह "सर्वदर्शन संग्रह, सिद्धान्त

शिरोमणि और आयभट्टीय ज्योतिष

शास्त्र के अनुवादक" ने अपने

देशीय भाइयों के उप-

कारार्थ लोकभाषा में

प्रकाशित

किया

आर्य संवत्[1] १९७२९४९००४ विक्रम संवत्[1] १९६०

---

१. यह संवत् ग्रन्थकार द्वारा प्रथम बार प्रकाशित करने का है।

ओ३म्

प्रस्तावना

भारतभूमि सर्वविध रत्नों की प्रसवित्री है। भारतवर्ष जगत् का प्रदर्शनागार कहकर भूमण्डल पर सुप्रसिद्ध है। भारतवर्ष प्रकृति का प्रियतम निकेतन है, प्रकृति देवी की विभिन्न भीम कान्त मूर्त्ति का एकत्र समावेश भारत में पूर्णरूप से विकाशित दृष्ट होता है। भारतवर्ष में किसी दृश्य का अभाव नहीं। भारत विभिन्न-भाषाभाषी, विभिन्न धर्मावलम्बी, विभिन्न जातीय लोगों की आवास भूमि है। भारतवर्षभिन्न भूमण्डल में कहीं जाति, धर्म, भाषा, वर्ण, स्वभाव और आचारगत सम्पूर्ण वैसा दृश्य का इस प्रकार सन्निवेश परिलक्षित नहीं। संक्षप से भारतवर्ष को क्षुद्रायतन पृथिवी कहने से भी अत्युक्ति दोष से दूषित नहीं होना पड़ेगा।

भारतवर्ष जिस प्रकार मनोमुग्धकर नैसर्गिक दृश्यादि में जगत् में सर्वश्रेष्ठ है, एक समय धन एवं ज्ञान रत्न में भी भारत उसी प्रकार श्रेष्ठ आसन पर अधिष्ठित था। महामूल्य धन रत्न की प्रसवित्री कहकर मिसरीय, फिनिसीया, युहूदी, ग्रीक, रोमन, आरव और चैनिकप्रभृति नाना प्राचीन वैदेशिक जाति वाणिज्य व्यपदेश से भारत में आगमनकर भारत के धनों से अपना अपना धनागार परिपूर्ण करते थे। भारत के अतुल ऐश्वर्य पाने को दुराशा में विमोहित होकर नानाजातीय, नाना देशीय दिग्विजयी गण भारत को अपने करतल गत करने में विभिन्न समय में प्रयासी हुए हैं. एवं निदारुण उत्पीड़न से निरीह भारतवासी को उत्तप्त, उत्पीड़ित और भयसन्त्रस्त कर खींचते थे। विधर्मी एवं विजातीय वैदेशिक दस्युदल के वारंवार आक्रमण से भारतवर्ष विध्वस्त, विपर्यस्त और परपदानत होता आया एवं भारत की अतुलनीय धनराशि बारंबार विलुण्ठित होती रही है।

प्राचीन भारत जिस प्रकार धन रत्न में जगत् में सर्वश्रेष्ठ था, ज्ञान रत्न में भी उसी प्रकार अतुलनीय था। जिस समय पृथिवी का अधिकांश देश असभ्य, आममांसभोजी, अरण्यचारी मनुष्यों द्वारा परिपूर्ण था, उस समय भारत सभ्यता के उच्चतम शिखर देश में अधिष्ठित रहकर स्वीय सौभाग्य प्रभा में जगत् को मुग्ध और पुलकित करता था। जिस समय समस्त जगत् घोरतम अज्ञानान्धकार में समाच्छन्न था, जिस समय ज्ञान एवं सभ्यता का क्षीणालोक भी यूरोप आदि महादेश में शनैः शनैः पादविक्षेप द्वारा प्रसृत नहीं हुआ था, उस समय भारत विद्या, बुद्धि, ज्ञान और सभ्यता के पूर्ण आलोक से जगत् को आलोकित कर अविनश्वर गौरव महिमा में सविशेष गौरवान्वित हुवा था। क्या धर्म, क्या ज्ञान, क्या दर्शनशास्त्र,

क्या गणित, क्या ज्योतिष, क्या भेषज्य तत्त्व, क्या काव्य, क्या इतिहास, क्या शिल्प, क्या वाणिज्य, क्या भाषा, क्या साहित्य सर्वविध विषय ही में भारत जगत् के शीर्षस्थानीय था। जो आर्यजाति अतुल साहस, विक्रम, तेजस्विता और मनस्विता प्रभाव से भूमण्डल में अक्षयकीर्त्ति लाभ कर गई है, जा आर्यजाति एक समय पृथिवी में सब विषयों में सर्वश्रेष्ठ जाति कहकर परिगणित हुई थी, जो आर्यजाति ज्ञान और सभ्यता के विमल आलोक में जगत् को उद्भासित कर जगत् का शिक्षा गुरु बहुसम्मानार्ह वरणीय पद पर अधिरूढ़ थी, जिस आर्यजाति के गौरव के प्रभाव से भारतवर्ष जगत् के इतिहास के शीर्षस्थान में विराजमान हो रहा है, जिस आर्यजाति के वंशधर कहकर हम परपददलित होकर भी अब तक सभ्यसमाज में सम्मान से परिगृहीत होते हैं, उसी जगद्गुरु आर्यजाति की अपूर्व विद्या ज्योतिष-शास्त्र आज अदृष्ट चक्र के आवर्त्तन से कीर्त्तिविलोपकारी कराल काल की विस्मृति कवल में निहित है।

इस समय आर्यप्रतिभा पर कुछ कहूंगा। अधिकांश सभ्य जनपद में जो संख्या लिखने की प्रणाली चल रही है, भारतवर्ष ही उस की उत्पत्ति का स्थान है। एक से ९ संख्या एवं शून्य, एवं संख्या आदि आर्य लोगों ने ही पहिले सृष्ट की थी।

पाटीगणित की दशगुणोत्तर संख्या लिखने की प्रणाली आर्यों की सृष्टि है। अरबवासीगण ने भारतीय आर्यों के निकट से यह सीख कर यूरोप में प्रचार किया। अरबवासियों ने स्पष्टतः इस विषय में अपने को आर्यशिष्य कहकर स्वीकार किया है। यूरोपीय लोग इस मत का अनुमोदन करते हैं, जो निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है।

(a.) "The Hindoos are distinguished in Arithmetic by the acknowledged invention of the decimal notation"...... —P. 142, Elphinstone's History of India.

(b.) "The Hindoos invented the decimal notation, Arabians took hints from them, whence the Europeans came to know the figures."

S. W. JONES, in his ann-dis-Courses.

(c.) "Bahauldin, an Arabian, ascribes the invention of the numeral figures in the decimal scale to the Indians. As the proof commonly given of the Indians being the inventors of these is only an extract from the perface of a book of Arabic poems, it may be as well as to mention that all the Arbic and Persian books of Arthmetic ascribe the invention to the Indians. P. 184. XII Vol. Asiatic researches.

बीजगणित भी भारतवासी की सृष्टि है। यूरोपीय लोगों ने बीजगणित को मुसलमानों से पाया था। बीजगणित का Algebra नाम 'आलजिवर' शब्द से समुत्पन्न है। खीष्टीय त्रयोदश शताब्दी के आरम्भ में लिउनार्ड ने मुसलमानों के निकट बीजगणित सीखकर, इस का यूरोप में प्रचार किया। मुसलमानों ने आलजिवरा ग्रीस देश में दिउफाण्डस को सिखलाया, किन्तु मुसलमान लोगों ने इस विषय में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त प्रभृति ग्रन्थों से शिक्षा ली। ७७३ खीष्टाब्द में खलीफा आलमनसूर के राजत्वकाल में पहिले अरवी भाषा में भारतवर्षीय गणितशास्त्र अनुवादित हुवा। बहुत से लोगों की सम्मति यह है कि "ग्रीकदेशीय गणितवित् दिउफाण्डस ३६० खीष्टाब्द में प्रादुर्भूत हुवा। वह आर्यभट्ट से पहिले हुवे" किन्तु फाण्डस पण्डित के पहिले पराशर, गर्ग प्रभृति भारतीय गणितविद्गण ने जन्म ग्रहण किया था। १५८९ खीष्टाब्द में वन्वेली ने बीजगणित प्रकाशित किया यही दिउफाण्डस का अनुवाद है। वन्वेली ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि आरब आदि के पहिले भारतवर्षीय लोग बीजगणित जानते थे। फलतः आरव लोगों के निकट यूरोपीय लोग अनेक विषयों में ऋणी एवं ये आरव लोग हम आर्यों के निकट पद पद में ऋणी हैं। इस विषय में यूरोपीय पण्डित का जो लेख है उसे प्रकाशित करता हूं।

"Linoards of Pisa introduced Algebra into Europe; he learned it at Beegin, in Barabary. where his father ascribe in the Custom House by appointment from Pisa, his is dated A. D. 1202." Cowell's note to Elphinstone's History of India P. 145.

"Mohammed Ben Musa is recognized among the Arabians as the first who made Algebra known to them. He is the same who abridged, for the gratification of Almamum, an astronomical work taken from Indian system in the prececing age, under Almansur. He framed tables like-wise, ground on those of the Hindoos, which he professed to correct. And he studied and communicated to his country-men the Indian compendious method of computation."

Cole-brook's dissertion prefined to his translations from Sanskrit Algebra.

"Prearity seems their decisive in favor of Greeks and Hindoos against any pretensions on the part of the Arabians who, in fact, however,

prefer none inventors of Algebra. They were avowed borrowers in science and by their own unvarri-d acknowledgement from the Hindoos, they learnt the science of numders. That they also received the Hindoo Algebra, is much more probable than that the same Mathematician who studied the Indian Arithmetic and taught it to his Arabian brethren, should have bit upon Algebra unaided by any hint or suggestion of the India analysis."

Cole-brook's dessertions.

"The first Arabian Mathematician translated a Hindoo book in the reign of the Khalif Almansur, A D. 773."

Cowe..'s note to Elphinstone's History of India P. 145.

The Arabs became acquainted with the Indian Astronomy and numeral science, before they had any knowledge of the writings of Grecian astronomers and Mathematicians; and it was not until after more than one century, and nearly two, that they had the benefit of an interpretation of Diophantus, whether version or paraphrase, executed by Mohammed Abul Waphs Al Buggane."

Cole-brook's Dissertion P. XXI.

"We know of no Greek writer on Algbra, but Diophantus; neither he nor any know another of any age or of any country, has spoken directly or indirectly of any other Greek writer on Algebra has with a term to designate the science."

P. 163, Vol. XII Asiatic researches.

"In 1579 Bembulli published a treatise of Algebra, in which he says that he and a lecturer at Rome whom he names, had translated part of Diophantus adding that they had found that in the said work the Indian authors are often cited, by which they learnt that science was known among the Indians before the Arabians had it." P. 161, Vol. X I.

Asiatic researches.

वेकनसाहब कहते हैं कि ख्रीष्ट के ४००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में गणित ज्योतष की ग्रत्युन्नति थी। वेलीनामक जनैक फरासी पण्डित ने लिखा है कि हिन्दु-

स्तान में ५००० वर्ष पहिले ज्योतिषशास्त्र उत्तम अवस्था में पाया जाता था।

ऐसे भारतीय प्राचीन ज्योतिषशास्त्ररूपी अमूल्य रत्न के अन्वेषण में निश्चेष्ट, निष्क्रिय, परपदानत भारतवासी आर्यसन्तान की प्रवृत्ति और उत्साह नहीं उत्पन्न होते।

जिस प्रकृत ज्योतिषशास्त्र के न जानने से भारतवासी वेद आदि सच्छास्त्रों के गूढार्थ मर्म समझने में असमर्थ होकर वेद, ब्राह्मण, पुराण आदि प्रतिपादित ज्योतिष मूलक आलङ्कारिक लेखों का उलटा निन्दित आशय समझकर हमारे ऋषियों को गुरुतल्पगामी, किसी को चोर, किसी को इन्द्रिय परवश होकर नन्दन वन में रम्भादि अप्सरा लेकर क्रीड़ा की, कोई अभिमानी, कोई स्वार्थपर, किसी को लोभी, सब ही महापापी, सब ही दुर्बल, ब्रह्मा ने अपनी लड़की के साथ भोग किया। श्री कृष्ण ने व्रजाङ्गनाओं के साथ शास्त्रविरुद्ध मैथुनादि कर्म किया, यम-यमी संवाद, गौतम अहल्या कथा इत्यादि। चन्द्रमा ने अपनी ३३ स्त्रियों में से विशेषतः रोहिणी के साथ प्रीति की। पृथिवी का पुत्र मङ्गल, चन्द्रमा का पुत्र बुध, देवताओं का गुरु बृहस्पति आदि।

आज हम उसी वेद के छः अङ्गों में से सर्वप्रधान सिद्धान्त ज्योतिष के अनुवाद करने को प्रवृत्त हुए हैं। आशा है कि हमारे भारतवासी इस अमूल्य भारतरत्न प्राचीन वेदाङ्ग ज्योतिषशास्त्र (सूर्यसिद्धान्त) के भाषानुवाद को पढ़कर वेद एवं अन्यान्य वैदिक एवं लौकिक ग्रन्थों का प्रकृत अर्थ समझ कर लाभ उठावेंगे।

हम प्रथम ज्योतिष विषयक शङ्का समाधान प्रमाण एवं युक्ति पूरित 'वृहद्-भूमिका' लिखेंगे तदनन्तर सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद आरम्भ करेंगे। इस समय धनाभाव से इस के साथ चित्र (नकशा) नहीं छपवा सके। कारण यह है कि अनुमानतः चित्रों के छपने में ३००) रुपये लगेंगे, परन्तु यदि हमारे ऋषि सन्तान ने इस आवृत्ति के सूर्यसिद्धान्त को हाथों हाथ लेकर हमारे परिश्रम को सफल किया तो आशा है कि अगली आवृत्ति में अवश्य सचित्र सोदाहरण सूर्यसिद्धान्त छपवायेंगे।

स्थान मधुरापुर
डाक— विद्दूपुर
जिला मुजफ्फरपुर
१८। ७। ६६

आप का शुभचिन्तक—

उदयनारायणसिंह (आर्य)

सूर्यसिद्धान्त—भूमिकास्थ विषयानुक्रमणिका सूचीपत्रम्

ओ३म्

अथ सूर्यसिद्धान्तस्थ विषयानुक्रमणिका सूचीपत्रम्

ओ३म्

भूमिका

ज्योतिष शास्त्र

ज्योतिष शब्द का सामान्य अर्थ तारा आदिक प्रकाशमान वस्तु और शास्त्र का अर्थ बतलाने वाला । "ज्योतिषशास्त्र" अर्थात् जिसके द्वारा सूर्य्य, चन्द्रमा तथा अन्यान्य नक्षत्रादिकों की गति विधि प्रभृति का ज्ञान हो—जिसका लक्षण श्री भास्कराचार्य्य ने अपनी सिद्धान्तशिरोमणि में यों लिखा है:—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलनामानप्रभेदः क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः ।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः ॥६॥

भावार्थः -काल के सब से छोटे भाग को "त्रुटि" कहते हैं। त्रुटि से कल्प पर्य्यन्त काल की गणना, सौर, सावन, नाक्षत्रादि कालमान, एवं प्रत्यनुकला से भगण पर्य्यन्त क्षेत्रपरिमाण, ग्रह एवं नक्षत्रादिकों की गति, व्यक्त तथा अव्यक्त गणित (Mathemetics), प्रश्नोत्तर सहित एवं पृथ्वी आदि ग्रहों की संस्थिति और यन्त्रादिकों का वर्णन इत्यादि जिसमें हों उस को पण्डित लोग "सिद्धान्त ज्योतिष" कहते हैं ॥६॥

कतिपय पण्डित लोग ज्योतिषशास्त्र के दो भाग मानते हैं—एक पूर्वोक्त सिद्धान्त ज्योतिष एवं दूसरा फलित ज्योतिष। फलित का लक्षण "फलित विचार" में लिखा गया है, वहीं देखें।

ज्योतिष शास्त्र का वेदाङ्गत्व

प्राचीन इतिहासों से यह बात सर्वथा सिद्ध है कि दुनियां भर में वेद से प्राचीन धर्मपुस्तक दूसरा कोई नहीं है। इस अपौरुषेय वेद को (किसी व्यक्ति ने इसकी रचना नहीं की) अनादिकाल से हम मनुष्यों के हितार्थ ईश्वर ऋषियों द्वारा प्रत्येक सृष्टि के आदि में प्रकाशित करता है। वेद सब विद्याओं का भण्डार है। इस वेद के चार भाग हैं:—१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद, एवं इनकी ११२७ शाखायें हैं।

इन वेदों को समझने व पढ़ने पढ़ाने के लिये हमारे महर्षियों ने ४ उपवेद, ६ अङ्ग और ६ उपाङ्ग बनाये हैं। उपवेद—१ आयुर्वेद (वैद्यकशास्त्र), २ धनुर्वेद (युद्धशास्त्र), ३ गान्धर्ववेद गानविद्या और ४ अर्थवेद (शिल्पशास्त्र) हैं। अङ्ग—१ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ ज्योतिष और ६ छन्दःशास्त्र हैं। और उपाङ्ग—१ वैशेषिकशास्त्र, २ न्यायशास्त्र, ३ योगशास्त्र, ४ सांख्यशास्त्र, ५ पूर्वमीमांसा, ६ उत्तरमीमांसा वा वेदान्त हैं। जब तक इन उपवेद, अङ्ग और उपाङ्गों को प्रथम नहीं पढ़ ले तब तक वेदों का यथार्थ तत्त्व मनुष्य नहीं जान सकता। हमें इन छः अङ्गों में से यहां ज्योतिष शास्त्र के विषय में वक्तव्य है। भास्कराचार्य्य ने लिखा है कि—

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण ।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात् ॥९॥
सिद्धान्तशिरोमणौ ॥

भावार्थः—जिस कारण वेदों में बहुधा यज्ञ का विधान है और यज्ञ करने में समय निर्दिष्ट किया जाता है कि अमुक समय यज्ञ करना चाहिए, यज्ञवेदी इतनी लम्बी चौड़ी होनी चाहिये, यज्ञकुण्ड अष्टकोण, चतुष्कोण आदि आकार का होना चाहिये, और यज्ञशाला इस इस प्रकार की होनी चाहिये इत्यादि ज्ञान विना ज्योतिष शास्त्र के नहीं हो सकता—इसलिये ज्योतिषशास्त्र का "वेदाङ्गत्व" है। अब रूपकालङ्कार से वेद को अङ्गी एव निरुक्तादि छः शास्त्रों को इसके अङ्ग वर्णन करते हैं:—

शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी, श्रोत्रमुक्तं निरुक्तञ्च कल्पः करौ ।
या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका, पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः ॥१०॥
वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं, मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते ।
संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः ॥११॥
सिद्धान्तशिरोमणौ ॥

भावार्थः—वेद (शरीर) के व्याकरण तो मुख, ज्योतिषशास्त्र नेत्र, निरुक्त कान, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका और छन्दःशास्त्र पैर हैं। वेद के नेत्ररूपी ज्योतिषशास्त्र होने से छः अङ्गों में सब से श्रेष्ठ ज्योतिष शास्त्र है—क्योंकि नेत्रहीन व्यक्ति अन्यान्य सब अङ्ग रहने पर भी अन्यान्य अङ्गों से नेत्र का काम नहीं ले सकता। इसलिये किसी कार्य के करने में असमर्थ होता है। इसी प्रकार विना ज्योतिष शास्त्र पढ़े वेद के यज्ञादिक कार्य्य तथा गृहनिर्माणादि कार्य नहीं हो सकते।

यहां ज्योतिषशास्त्र से "सिद्धान्त ज्योतिष" समझना चाहिये, फलित नहीं।

फलित वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र नहीं है और न उसका वेदोक्त यज्ञादिक कार्य से सम्बन्ध है, क्योंकि वेद या उसकी शाखा में विधिवाक्य हैं कि "पुत्रेष्टि" आदि यज्ञ अमुक वर्ष, मास, ऋतु, पक्ष, तिथि, नक्षत्र में करना चाहिये और यज्ञकुण्ड समचतुष्कोण आदि होना चाहिये, तथा यज्ञशाला आदि इतनी लम्बी चोड़ी होनी चाहिये। अब इसके अनुसार ज्योतिष शास्त्र से वर्ष, मास आदि यथोचित निर्धारित होता है, फलित ज्योतिष से नहीं।

इस में सन्देह नहीं कि फलित ज्योतिष से स्वार्थसिन्धु लोगों को टका कमाने का और भारत को गारत कर आरत बनाने का अच्छा सुविधा मिलता है। छींकना, मैथुन करना, धोती पहनना, पढ़ना, लिखना, बेचना, खरीदना, विवाह करना, चोरी करना, परदेश जाना आदि जितने सांसारिक कार्य्य वा अकार्य हैं सब ही के लिये जैसी फीस दाखिल करें, वैसा मुहूर्त्त लीजिये।

सिद्धान्त ज्योतिष (Astronomy)

काल के सब से छोटे भाग को "त्रुटि" कहते हैं, त्रुटि से लेकर कल्प पर्यन्त काल की गणना, सौरमास, नक्षत्रादि कालमान, एवं विकला से भगण पर्यन्त क्षेत्र परिमाण तथा नक्षत्रादिकों की गति, व्यक्त एवं अव्यक्त गणित (Mathemetics) प्रश्नोत्तर सहित एवं पृथिवी आदि ग्रहों की संस्थिति और यन्त्रादिकों का वणन इत्यादि विषय जिस में हों उस को पण्डित गण "सिद्धान्त ज्योतिष" कहते हैं।

इसके निम्नलिखित प्रामाणिक ग्रन्थ हैं

१. ब्रह्म सिद्धान्त	८. गर्ग सिद्धान्त	१५. सुन्दर सिद्धान्त
२. सूर्य्य ,,	९. व्यास ,,	१६. तत्त्वविवेक ,,
३. सोम ,,	१०. पराशर ,,	१७. सार्वभौम ,,
४. रोमक ,,	११. भोज ,,	१८. लघु आर्य्य ,,
५. वसिष्ठ ,,	१२. वराह ,,	१९. वृहद् आर्य्य ,,
६. पौलस्त्य ,,	१३. ब्रह्मगुप्त ,,	२०. ऋग्वेद ज्योतिष
७. वृहस्पति ,,	१४. सिद्धान्तशिरोमणि ,,	२१. यजुर्वेद ज्योतिष
		२२. अथर्व ज्योतिष

सूर्य्य सिद्धान्त रचना काल

आधुनिक सूर्य सिद्धान्त में १४ अधिकार और ५०० अनुष्टुप्छन्द के श्लोक हैं। इस के आरम्भ के श्लोक में लिखा है कि सत्ययुग के अन्त में सूर्य की आज्ञा से

सूर्यांश पुरुष ने मय नामक असुर को ज्योतिष का उपदेश किया जिस को बने आज शाके १८२५ तक २१६५००४ सौर वर्ष हुए।

परन्तु आधुनिक सूर्य्यसिद्धान्त कृतयुगान्तकालिक नहीं है, इस विषय में महामहोपाध्याय श्री पण्डित सुधाकर द्विवेदी प्रोफ़ेसर संस्कृत कालिज बनारस ने पञ्चसिद्धान्तिका की भूमिका में लिखा है, जिस का मैंने उपयोगी समझ कर यहां उल्लेख किया है—

सूर्यसिद्धान्तरचनाकालस्तु नित्यानन्देन सिद्धान्तराजकृता कलेः षट्त्रिंशच्छतमितेऽब्दगणे व्यतीते निगद्यते। स कालस्तु आर्यभट्टकृतसिद्धान्तस्य समकालिक एव सिध्यति विभाति च तथ्यं नित्यानन्देन प्रतिपादितमार्यभटीयसिद्धान्ते न कुत्रापि सूर्यसिद्धान्तमतप्रतिपादनात्। साम्प्रतं प्रचलितसूर्यसिद्धान्तः कृतयुगान्तकालिकस्तु केनचिदन्येन प्रकल्पितो नवीन इति स्फुटमेव सूक्ष्मविचारप्रवृत्तानां गणकानाम्। भारतवर्षे ऋषिप्रणीतानां सिद्धान्तानामेव प्रमाणं नान्येषां तेन भारतवर्षीयाश्चिरंतना आचार्याः कमपि मुनिप्रणीतसिद्धान्तं स्वीकृत्य तत्र बीजादिकं दत्वा स्वं स्वं सिद्धान्तं चक्रुर्यथा ब्रह्मगुप्तेन ब्रह्मसिद्धान्तं स्वीकृत्यात्मसिद्धान्तो विरचितः।

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम्।
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ॥

भास्कराचार्येणापि स एव ब्रह्मसिद्धान्तः स्वीकृत एवमन्येऽपि सूर्य्यसिद्धान्तादीन् स्वीकुर्वन्ति तेन तत्तदाचार्यरचितसिद्धान्तान् तत्तत्स्वीकृतमुनिसिद्धान्तनाम्ना व्यवहरन्ति तत्तदुत्तरकालीना विद्वांसोऽत एव वदति वराहमिहिराचार्यः "पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ व्याख्यातौ लाटदेवेन" अर्थात् लाटाचार्येण द्वौ पौलिशरोमकसिद्धान्तौ व्याख्यातौ तयोर्भगणादिषु बीजं दत्त्वा विस्तारितौ स्वकृतसिद्धान्ते अत्रेदमुक्तं भवति—लाटाचार्येण पौलिशरोमकसिद्धान्तौ स्वीकृत्य तत्र बीजादिविशेषं विधाय रचितोऽन्यः सिद्धान्तः। अत एव यथा मदीयं करणं सर्वजनस्वीकृतं भवेदिति बुद्धया पञ्चानां सिद्धान्तानां मतानि स्वीकृत्य रचिता चाचार्येणेयं पञ्चसिद्धान्तिका। एवमेव विष्णुचन्द्रादयो वसिष्ठसिद्धान्तादीन् स्वीकृत्य स्वान् सिद्धान्तान् रचयामासुः न ते साक्षाद् वसिष्ठादिसिद्धान्तकर्त्तार इति मन्मतम्।

भावार्थः—सिद्धान्तराज ग्रन्थकार नित्यानन्द कहते हैं कि सूर्य्यसिद्धान्त कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने पर बना। यह समय आर्यभट्टकृत आर्यसिद्धान्त के समकाल प्रसिद्ध ही है और सत्य ही प्रतीत होता है। क्योंकि आर्यसिद्धान्त में सूर्य्यसिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आधुनिक सूर्य्यसिद्धान्त को सत्ययुगान्तकालिक मानना केवल लोगों की कल्पनामात्र है।

भारतवर्ष में ऋषिकृत सिद्धान्त ग्रन्थों का ही प्रमाण माना जाता है—औरों

का नहीं। इसलिये भारतवर्षीय चिरन्तन आचार्यों ने किसी मुनिप्रणीत सिद्धान्त को मानकर उसमें वीजादिक दे अपने अपने सिद्धान्त को वनाया—जैसे ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्म-सिद्धान्त मान कर अपना सिद्धान्त रचा।

"ब्रह्मोक्त ग्रहगणित बहुत काल होने से जो नष्टप्राय हो गया उसी को जिष्णु-पुत्र ब्रह्मगुप्त स्पष्ट करते हैं"।

भास्कराचार्य ने भी उसी ब्रह्मसिद्धान्त को माना। इसी प्रकार और लोग भी सूर्य्यसिद्धान्तादिक को मानते हैं। इस कारण उन उन आचार्य्यरचित सिद्धान्तों को उन उन के माने हुए मुनिकृतसिद्धान्तों के नाम से तदुत्तरकालीन विद्वान् लोग व्यवहार करते हैं। इसलिये वराहमिहिराचार्य्य कहते हैं कि पांच सिद्धान्तों में से प्रथम दो की व्याख्या लाटदेव ने की है अर्थात् लाटाचार्य्य ने पौलिश और रोमक सिद्धान्त की व्याख्या की है। इन के भगणादि में वीज मिलाय विस्तारित कर अपना सिद्धान्त वनाया। यहां यह कहा जाता है कि लाटाचार्य्य ने पौलिश और रोमक सिद्धान्त को मान कर उन में वीजादि विशेष देकर अन्य सिद्धान्त रचा। अत एव मेरा वनाया करण (ग्रन्थ) सब लोगों से माना जावे। इस वुद्धि से पांचों सिद्धान्तों के मत को मानकर आचार्य्य ने इस पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ को रचा। इसी प्रकार विष्णुचन्द्रादिक ने वसिष्ठसिद्धान्तादि को मानकर अपने सिद्धान्त को वनाया। वसिष्ठ आदि मुनियों ने स्वयं नहीं वनाया—यह मेरा मत है।

और आर्य्यभट्ट ने शाके ३९८ में जन्म लेकर २३ वर्ष की अवस्था में आर्य-सिद्धान्त वनाया जिस का प्रमाण उसी ग्रन्थ से मिलता है—

"कालः षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः। त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः" (आर्यसिद्धान्ते कालक्रियापादे)

अर्थात् शाके ४२१ में यह ग्रन्थ वना—इस में सूर्यसिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है। एवं वराहमिहिराचार्य्य ने जिस का देहान्त शाके ५०९ में हुआ अपने पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ में जिस सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख किया है उस से और आधुनिक सूर्यसिद्धान्त से अन्तर पड़ता है—इससे अनुमान होता है कि जो सू० सि० वराहमिहिर के समय में था वह प्रचरित सूर्यसिद्धान्त से भिन्न दूसरा था। पाठकों के अवलोकनार्थ थोड़ा सा दोनों सूर्यसिद्धान्तों का विषय नीचे लिखते हैं:—

महायुगीय भगण संख्या—

वराहमिहिर उल्लिखित सूर्यसिद्धान्त ग्रहगण	भगण	आधुनिक सूर्य्यसिद्धान्त भगण
बुध	१७९३७०००	१७९३७०६०

ग्रहगण	भगण	भगण
शुक्र	७०२२३८८	७०२२३७६
मङ्गल	२२९६८३४	२२९६८३४
बृहस्पति	३६४२२०	३६४२२०
शनैश्चर	१४६५६४	१४६५६८

वराहमिहिर के देहान्त होने का (शाके ५०९ में) प्रमाण—

नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः ॥

(ब्रह्मगुप्त टीकाकार पृथूदक स्वामी धृत)

इससे बोध होता है कि आधुनिक सूर्यसिद्धान्त शाके ५५० से ९५० के अभ्यन्तर किसी समय संगृहीत हुआ।

पुनः यदि यह सूर्यसिद्धान्त सतयुग के अन्त में बना माना जाये तो इस में जो शब्द व्यवहृत हुए हैं अतिनवीन हैं जो उस समय के नहीं हैं। जैसे—राम (तीन का वाचक) नन्द (९ का वाचक), जिन वा सिद्ध (२४ का बोधक) ये रामादि सतयुग के पीछे हुए तो होने के पहिले सूर्य्यसिद्धान्त में क्योंकर लिखा गया और जिन शब्द संस्कृत का नहीं है।

इसी प्रकार लिप्ता वा लिप्तिका, होरा, केन्द्र, वार ये शब्द संस्कृत के नहीं, परन्तु सूर्यसिद्धान्त में लिखे हैं। महाभारत, वाल्मीकीय और अमरकोषादि में नही हैं (कलियुग के बने ग्रन्थ होने पर भो)। आधुनिक विद्वानों की सम्मति है कि ये शब्द ग्रीक भाषा के हैं।

अनुमान होता है कि जिस समय भारतवर्ष से संस्कृत विद्या का सूर्य्य अस्तप्राय होता था, एवं फलित ज्योतिष का ग्रीक आदि अन्य देशों से इस देश में प्रचार आरम्भ हुआ था उसी समय किसी म्लेच्छभक्त, मय नामक (असुर जाति के) ज्योतिषी के शिष्य ने इस बुद्धि से कि मयासुर का नाम ऋषितुल्य ख्यात हो, एवं इसको असुर समझ कर लोग इसके नाम को तुच्छ दृष्टि से न देखें, प्राचीन सुप्रसिद्ध सूर्य्यसिद्धान्त के स्थान में नवीन सूर्य्यसिद्धान्त का संग्रह कर मयासुर ने सूर्य्य की तपस्या द्वारा सूर्यांश पुरुष से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त कर ऋषियों को उपदेश किया यह कल्पना की। ऐसे ही लोगों ने कई नवीन ग्रन्थों में लिखा है कि:—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्देववद् द्विजः ॥

(वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता अ० २)

अर्थात् ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान सम्यक्तया यवनों ही को है, अन्यों को नहीं, इसीलिये वे (म्लेच्छ) ऋषितुल्य पूज्य हैं फिर देवतुल्य द्विज उन के सामने क्या।

प्रचरित सूर्य्यसिद्धान्त के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थ बने हैं। मकरन्दविवरण, ताजिकाभूषण, ज्योतिषदर्पण, रामविनोदकृत करण ग्रन्थ, सिद्धान्त तत्त्वविवेक और सूर्यसिद्धान्त के ऊपर यद्यपि इस समय केवल रङ्गनाथ की टीका मिलती है पर तीन और टीका हैं—नृसिंह दैवज्ञकृत सौरभाष्य, विश्वनाथ दैवज्ञकृत गहनार्थप्रकाशिका और दादा भाईकृत किरणावलि ।

संहिता स्कन्ध

केवल सिद्धान्त ज्योतिष के अतिरिक्त "संहिता" नाम से भी ज्योतिष का एक भिन्न स्कन्ध वा शाखा थी जिसकी पुस्तक इस समय दुष्प्राप्य है। "संहिता" भाग में निम्नलिखित विषय होते हैं—गृहनिर्माण, कूआ, सड़क बनाना, बढ़ई का काम, राज का काम, यज्ञशाला बनाना, ईंट पकाना, पुल बांधना, कौन कौन लकड़ी किस किस काम के लिये होती है, भूमि माप, (Suiveying) दरीची बनाना, वृक्षायुर्वेदविद्या, मणि रत्न आदि का पहचानना, पत्थर शीशा आदि पदार्थों से काम लेना आदि इंजिनियरिङ्ग विद्या है।

इस के प्राचीन ग्रन्थ एक "मयसंहिता" दूसरी "शुक्रसंहिता" थी जो इस समय नहीं मिलती। यद्यपि संहिता नाम से ज्योतिष में इस समय भी अनेक ग्रन्थ प्रचरित हैं—परन्तु वे वास्तविक उपर्युक्त लक्षणों से युक्त नहीं हैं! हां, केवल वराहमिहिरकृत वृहत्संहिता में कुछ कुछ उपर्युक्त विषय आये हैं, परन्तु उस में भी फलित ज्योतिष का अंश अधिक है, इस कारण वह भी संहिता कहाने योग्य नहीं है। उसी वृहत्संहिता में अनेक संहिताओं का उल्लेख है, पर वे संहिता नहीं मिलतीं। जैसा कि—गर्ग, पराशर, असित, देवल, वृद्धगर्ग, कश्यप, भृगु, वसिष्ठ, वृहस्पति, मनु, मय, सारस्वत ऋषिपुत्र। इसी प्रकार टीकाकारों ने भी व्यास, भानुभट्ट, विष्णुगुप्त, विष्णुचन्द्र, यवन, रोम, सिद्धासन, नन्दी, नग्नजित् आदि संहिताओं का उल्लेख किया है, पर इन में से कोई संहिता नहीं मिलती।

मुहूर्त्तग्रन्थ

सिद्धान्त ज्योतिष के अतिरिक्त संहितास्कन्ध में मुहूर्त्तग्रन्थ भी संप्रति माने जाते हैं, परन्तु मुहूर्त्तग्रन्थ प्राचीन नहीं हैं और न किसी प्राचीन ग्रन्थ से मुहूर्त्त ग्रन्थ का होना सिद्ध होता है।

गर्भाधानादि १५ संस्कार, यात्रा, एवं अन्यान्य काम अमुक समय में करने से लाभप्रद वा हानिप्रद होगा, ऐसे ठहराये हुए समय की मुहूर्त्त संज्ञा है। मुहूर्त्त के ग्रन्थ शाके ५०० किंवा ६०० से बनना आरम्भ हुए हैं, क्योंकि श्रीपतिकृत रत्नमाला

लल्लकृत रत्नकोश के आधार से बनी है और यह लल्लकृत ग्रन्थ वराहमिहिर के अनन्तर बना है। शाके ५०० या ६०० के पहिले मुहूर्त का कोई ग्रन्थ नहीं पाया जाता।

नक्षत्रों के नाम और उन की देवता इत्यादि कल्पना करके योनि और स्थिर चर आदि कल्पित संज्ञा, इसो प्रकार राशि की मेपादि संज्ञानुसार बोध होने योग्य मेषादि प्राणी, राशियों के भौमादि स्वामी, तिथियों की नन्दादि संज्ञा, तिथि के स्वामी या इस प्रकार के नक्षत्रादि के कर्मविशेष में शुभाशुभत्व माने हैं। उदाहरण चर नक्षत्र में स्थिर कार्य करने से अशुभ एवं वधू वर को नक्षत्रानुक्रम से रोहिणी और उत्तराषाढा इनकी योनि सर्प और नकुल से वैर अर्थात् अशुभ इत्यादि। इस कल्पित मुहूर्तग्रन्थ से लोक व्यवहार का अत्यन्त निकट सम्बन्ध लगाया गया है। इससे सम्प्रति विवाहादि संस्कार विना मुहूर्त्त के नहीं होता। घर छाना, नूतन गृह-प्रवेश, धान्य बोना आदि काम विना मुहूत के कर नहीं सकते और इसका प्रचार लिङ्गायत, जैन, पारसी, मुसलमान, हिन्दू आदि जातियों में है।

मुहूर्त्तग्रन्थों के बनने का समयादि

१. रत्नकोश—शाके ५६० लल्ल ने बनाया।
२. रत्नमाला—शाके ६६१ में श्रीपति ने बनाया।
३. राजमार्त्तण्ड—शाके ६६४ में भोजकृत।
४. विवाहवृन्दावन—शाके ११६५ में केशव नामक ज्योतिषी ने बनाया।
५. विवाहपटल—शाके १४०० में शार्ङ्गधर ने बनाया।
६. मुहूर्त्त तत्त्व—शाके १४२० में केशव ने बनाया।
७. विवाहपटल—शाके १४४४ में पीताम्बर ने बनाया।
८. ज्योतिषदर्पण—शाके १४७६ में कञ्चपल्लु ने बनाया।
९. मुहूर्त्तमार्त्तण्ड—शाके १४९३ में अनन्त दैवज्ञपुत्र नारायण ने बनाया।
१०. गौडानन्द—शाके १५०६ में नीलकण्ठ ने बनाया।
११. मुहूर्त्तचिन्तामणि—१५२२ में रामभट्ट ने बनाया।
१२. मुहूर्त्तचूड़ामणि—१५४० में शिव नामक ज्योतिषी ने बनाया।
१३. मुहूर्त्त कल्पद्रुम—१५४६ में विट्ठल दीक्षित ने बनाया।
१४. मुहूर्त्त माला—विक्रमसंवत् १७१७ में रघुनाथ ज्योतिशी ने जो अकबर बादशाह का पादरी था, बनाया।
१५. मुहूर्त्त दीपक—शाके १५८३ में महादेव ज्योतिषी ने बनाया।
१६. मुहूर्त्त गणपति—विक्रमीय संवत् १७४२ में गणपति नामक ज्योतिषी ने बनाया।

१७. मुहूर्त्त सिन्धु—शाके १८१० में गङ्गाधर शास्त्री ने बनाया।
१८. विद्वज्जनवल्लभ—शाके ११८५ में भोज ने बनाया।
१९. अद्भुतसागर—शाके १०८२-१०९० में राजा लक्ष्मणसेन ने बनाया।
२०. व्यवहारप्रदीप—शाके १०७२ में पद्मनाभ ने बनाया।
२१. ज्योतिर्विदाभरण--शाके ११६४ में कालिदास ने बनाया-(यह दूसरा कालिदास था)
२२. ज्योतिर्निबन्ध—शाके १४४६ में शिवदास ने बनाया।
२३. शकुन—विक्रम संवत् संवत् १२३२ में अल्हिल पट्टण जैनी ने बनाया।

यह संक्षेप से प्रचरित मुहूर्त्त ग्रन्थों का इतिहास लिखा गया। इन प्रत्येक ग्रन्थों का रचनाकाल आदि उस उस मूल एवं टीका ग्रन्थ के प्रमाण से लिखा गया। विस्तारभय से श्लोकादि नहीं लिखे गये हैं।

तीसरा स्कन्ध—होरा (जातक ताजक) शास्त्र

सम्प्रति होरा शास्त्र भी ज्योतिष की तीसरी शाखा मानी जाती है। यह स्कन्ध तो एक मात्र नवीन एवं ग्रीक और मुसलमानों से हिन्दुओं ने सीखा है। हमारे भारतवर्षीय प्राचीन ग्रन्थों में इसका कुछ भा वर्णन नहीं पाया जाता। इसका लक्षण देखो "फलित समीक्षा प्रकरण"।

इस स्कन्ध का सब से पुराना अपौरुषेय ग्रन्थ १ गौरीजातक, २ कालचक्र को मानते हैं। इसी प्रकार पाराशरी, जैमिनिसूत्र, भृगुसंहिता, बृहत्पाराशरी, एवं लघुपाराशरी को आर्षग्रन्थ मानते हैं। पौरुषेय ग्रन्थों में सब से प्राचीन ग्रन्थ वराहमिहिरकृत बृहज्जातक को मानते हैं, जो शाके ५०० में बना। इन ग्रन्थों में अरबी एवं फारसी के शब्द व्यवहृत हुए हैं जिस से अनुमान होता है कि मुसलमानी बादशाहत के समय में ये सब ग्रन्थ रचे गये हैं। और ऋषियों का नाम ग्रन्थ की प्रतिष्ठा के लिये जोड़ा है।

भृगुसंहिता—यह ग्रन्थ सम्प्रति टका कमाने के लिये बड़ा प्रसिद्ध हैं। नाम तो इस का ऋषिकृत होने के लिए "भृगुसंहिता" है एवं इस के ग्रन्थकार का पता नहीं है। परन्तु वराहमिहिर और भट्टोत्पल ने जो आधुनिक संहिता ग्रन्थकारों में सब से पुराने हैं, अपने ग्रन्थों में इतने बड़े ग्रन्थ का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यदि यह ग्रन्थ उन के समय में होता तो अवश्य इस का उल्लेख उन के ग्रन्थों में होता। इससे अनुमान होता है कि वराहमिहिर के पीछे यह टका कमाने का ढङ्ग रचा गया।

इस ग्रन्थ में भिन्न भिन्न स्थानगत ग्रह और मानानुसार ७४६४९६०० जन्मकुण्डली हैं। एक कुण्डली के लिये न्यून से न्यून यदि दश दश श्लोक रक्खे जायें

तो ७५०००००००० पचहत्तर करोड़ श्लोक होते हैं। एक एक लग्न की भिन्न भिन्न ग्रंश की भिन्न भिन्न कुण्डली वनी हुई है। कश्मीर के पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की संख्या १६०००० ग्रौर २३०० पत्रे हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न स्थानों में इसके ग्रपूर्ण खण्ड सब पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ में जन्मकुण्डली के ग्रतिरिक्त ग्रन्य कुछ नहीं है।

केरलमत—जातक में केरल भी एक मत है। उस में ग्रन्यान्य ग्रन्थों की ग्रपेक्षा भिन्न नियम हैं। केरलमत के भी वहुत से ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—ग्रमुक कार्य होगा या नहीं ? होगा तो कैसा ? इत्यादि ग्रनेक प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं—इस के उत्तर देने के भी ग्रनेक प्रकार हैं।

१—प्रश्ननारदी—ग्रन्थकार का पता नहीं।

२—प्रश्नसप्तति—भट्टोत्पल ने शाके ८८८ में बनाया।

रमल वा पाशक विद्या—पासा फेंक कर जिस पर चिह्न किया करते हैं उसी के द्वारा सब प्रश्नों के शुभाशुभ भावी फल वतलाते हैं। इस विषय के पुस्तकों में ग्ररवी के बहुत से पारिभाषिक शब्द हैं।।

पाशकावलि, रमलचिन्तामणि, रमलामृत ग्रादि ग्रनेक ग्रन्थ हैं।

ताजिक—जन्मकालिक लग्नानुसार ग्रहस्थित्यनुसार वर्ष भर का वा ग्रनेक वर्षों का भावी शुभाशुभ फल कहने का प्रकार है। इसमें भी ग्ररवी एवं फारसी के ग्रधिक शब्द हैं।

१. हायनरत्न—बलिभद्र कृत	शाके	१४८०	में
२. ताजकभूषण—गणेश कृत	,,	,,	में
३. देवालंकृति—तेजसिंह कृत		१३०६ ईसवी	में
४. ताजकतन्त्रसार—समरसिंह कृत	,,	१३५६	में
५. ताजकपद्धति—केशव कृत	,,	१४०५	में
६. ताजकसार—हरिभद्र कृत	,,	,,	में
७. ताजकालंकार—सूर्य कृत	,,	१४३०	में
८. ताजकनीलकण्ठी—नाट माधव कृत	,,	१५०६	में
९. ताजक कौस्तुभ—वालकृष्ण कृत	,,	१५७१	में
१०. ताजकसुधानिधि—नारायण कृत	,,	१६६०	में

विस्तारभय से ग्रौर ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया गया।

फलित ज्योतिष का विचार

A Lecture on astrology by Pandit Bapu Deva Shastry, professor of Astronomy, Benares Sanskrit College, Honorary Member of the Royal Asosiation Society London &c, the Asiatic Society Bengal, Fellow of the Calcutta University.

फलित उस को कहते हैं जिस में इष्ट काल के ग्रहों की स्थिति पर से भूत भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों काल के शुभ और अशुभ फल जानने के प्रकार रहते हैं। यह दो प्रकार का है, एक संहिता और एक होरा।

संहिता उसे कहते हैं जिस में उस उस काल के ग्रहों की स्थिति पर से सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, सुवृष्टि, अतिवृष्टि, अग्निभय, वा राजकीय उपद्रव इत्यादि सर्वसाधारण शुभ वा अशुभ फल जानने के प्रकार हैं और जिस में किसी काम का आरम्भ करने के लिये ऐसा काल ठहराने के प्रकार रहते हैं, कि जिस काल में उस कार्य का आरम्भ करने से वह काम सफल हो जावे। ऐसे (ठहराये हुये) काल को संस्कृत (फलित ग्रन्थ) में "मुहूर्त्त" और भाषा में "साग्रत" कहते हैं।

होरा अथवा जातक उसे कहते हैं जिस में हर एक प्राणी के जन्म काल के ग्रहों की स्थिति पर से उस के समग्र जीवन का वृत्तान्त समझने की विधि रहती हैं। इस होरा शास्त्र का और भी एक भेद है जिस को ताजिक कहते हैं। इस में प्राणी के जन्म काल से हर एक वर्ष मास आदि के आरम्भ काल के ग्रहों की स्थिति पर से उस उस वर्ष, मास आदि का वृत्तान्त समझने के प्रकार रहते हैं।

यह फलित शास्त्र का इस देश में जिस समय संस्कृत विद्या का सूर्य्य अस्त-प्राय होता था जिसको लगभग······वर्ष हुये कि प्रचार होने लगा। इस में जातक के ग्रन्थों में तो कितने एक शब्द केवल यवन अर्थात् ग्रीक भाषा के हैं। इस से स्पष्ट जान पड़ता है कि जातक शास्त्र के कुछ विषय यहां के ज्योतिष के ग्रन्थकारों ने ग्रीक लोगों से लिये हैं और "ताजिक" के तो सब विषय अरब वालों से लिये हैं क्योंकि उस के सब सांकेतिक शब्द अरबी भाषा के हैं। अधिकांश आर्य लोग इस फलितज्योतिष को समझते हैं और प्रायः इस में जो लिखा है उसके अनुसार आचरण करते हैं। मुहूर्त्त के विषय में तो किसी काम का आरम्भ अच्छी साइत देखे विना नहीं करते। जो किसी को कुछ रोग होवे तो उस पर साइत देख के औषध लेते हैं। परन्तु शीत रस और सर्पदंश इत्यादि रोगों पर औषध देने के लिये मुहूर्त्त की अपेक्षा नहीं करते। इस प्रकार से और भी आवश्यक कार्य के आरम्भ में मुहूर्त्त नहीं देखते। इस पर ऐसी एक कहावत है किः—

घड़ी में घर जले नौ घड़ी भद्रा ।

इस का अभिप्राय यह है कि किसी घर में आग लगने पर अभी कुछ काल तक भद्रानामक एक बुरा मूहूर्त्त है तब तक आग मत बुझाओ । यों समझ के वहां अच्छे मुहूर्त्त की राह देखनी न चाहिये, तुरन्त आग बुझाने आ आरम्भ करना उचित है । इस लिये आवश्यक कार्यों में मुहूर्त्त की अपेक्षा नहीं करते ।

होरा शास्त्र के विषय में ऐसा लिखा है कि:—

साक्षाद्भवेद् भाग्यनिरीक्षणाय, सुनिर्मलादर्शतलं किलेदम् ।
शास्त्रं विपद्वारिनिधि प्रततुं, तरिस्तथार्थार्जननाय मित्रम् ।।

अर्थात् यह शास्त्र अपना भाग्य देखने के लिये साक्षात् निर्मल दपण है और विपत्ति रूप समुद्र में तैरने के लिये नौका है और द्रव्य सम्पादन के लिये मित्र है। इस लिये हिन्दुओं में हर एक मनुष्य की जन्मपत्री बनती है, उस का प्रयोजन होरा शास्त्र में यों लिखा है कि:—

श्रीजन्मपत्रीशुभदीपकेन व्यक्तं भवेद् भाविफलं समग्रम् ।
क्षपाप्रदीपेन यथालयस्थं घटादिजातं प्रकटत्वमेति ।।

अर्थात् जैसे घर में घड़ा वस्त्र इत्यादि सर्व पदार्थ रात्रि के समय दीये से स्पष्ट होते हैं, वैसे जन्मपत्री रूप उत्तम दीपक से समग्र भाविफल स्पष्ट होता है । और भी लिखा है कि:—

सा जन्मपत्री शुभदा न यस्य तज्जीवितं संततमन्धकं स्यात् ।

अर्थात् वह कल्याणकारक जन्म पत्री जिस की नहीं है, उस का जीवन सदा अन्धकार में रहता है । इस लिये यद्यपि प्राय: सभी की जन्मपत्री सामान्यत: बनती है, तथापि जो किसो को कुछ विपत्ति प्राप्त हो तो वह दूर होने के लिये ज्योतिषी से उस काल की ग्रहों की स्थिति पर से कुछ अधिक विचार करवाके वह ज्योतिषी जो जो ग्रह अनिष्टकारक कहेगा उसके लिये ब्राह्मणों को दान देता है और उन से जप होम इत्यादि करवाता है । यही चाल हिन्दू लोगों में है ।

फल जानने के लिये गणित का ज्ञान अवश्य चाहिये, यही गणित वा "सिद्धान्त ज्योतिष शास्त्र" का मुख्य उपयोग अधिकांश आर्य (हिन्दू) लोग समझते हैं। सिद्धान्त में भी यों लिखा है कि:—

ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते,
ननं लग्नबलाश्रितः पुनरयं तत् स्पष्टखेटाश्रयम् ।

ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोपि न ज्ञायते,
तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति ।।

अर्थात्—पुराने ज्योतिषी लोग कहते हैं कि "आदेश" अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान इन तीनों काल के शुभ वा अशुभ का जो कहना है, सो ज्योतिष शास्त्र का प्रयोजन है। फिर आदेश लग्न के वल के आश्रय से है और यह लग्न स्पष्ट ग्रह से और स्पष्ट ग्रह "गोल" से ज्ञात होता है और विना गणित के गोल समझ में नहीं आता, इस लिये जो गणित नहीं जानता सो गोल आदि कैसे जानेगा।

इस लिये वराहमिहिर ने अपनी संहिता में लिखा है कि:—

तन्त्रे सुपरिज्ञाते छायाम्बुयन्त्रसंविदिते ।
होरार्थे च सुरूढे नादेष्टुर्भारती वन्ध्या ।।

अर्थात् जो गणित और सिद्धान्त को उत्तम प्रकार से जानता हो और शङ्कु की छाया और घड़ो यन्त्र से लग्न जानता हो और जातक शास्त्र का सब अर्थ ठीक किया हुआ हो उस का कहा हुआ फल कभी व्यर्थ नहीं होगा।

इसीलिये यहां के बहुत लोग यों समझते हैं कि ये अंग्रेज लोग जो गणित और सिद्धान्त में बहुत प्रवीण होते हैं और जो वड़े वड़े यन्त्रों से सूक्ष्म वेध करके ग्रहों की स्थिति उत्तम प्रकार से जानते हैं, वे फलित में अवश्य बहुत अच्छे होंगे और इस लिये वे अच्छी साइत पर युद्ध करते होंगे। तभी उन का सर्वत्र जय होता है।

और जो कोई उन से कहे कि अंग्रेज लोग फलित नहीं मानते तो वे यह कहना झूठ समझते हैं और जो किसी को इस कहने पर विश्वास हो जाए तो उस को वड़ा ही आश्चर्य होता है, जो अंग्रेज लोग फलित नहीं मानते तो वे गणित में ग्रहों की स्थिति जानने में इतना व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हैं? परन्तु पहिले विलायत में भी सिद्धान्त विद्या का प्रचार फलित ही के लिय था। अनुमान १७५ वर्ष पहिले जर्मनी देश में केप्लर नामक एक वड़ा ज्योतिषी हुआ। उस ने एक ग्रन्थ में यों लिखा है कि "सिद्धान्त विद्यारूपी विदुषी माता की फलित विद्यारूप एक मूर्ख वेटी है और माता का जीवन केवल उसी मूर्ख से है।" परन्तु आश्चर्य का विषय है कि हिन्दुस्तान में फलित विद्या का प्रचार बहुत है और सिद्धान्त विद्या जो फलित के लिए बहुत आवश्यक है सो वहुत क्षीण हुई है, उस का थोड़ा सा अंश प्रसिद्ध है। यहां जिस को ज्योतिषी होने की इच्छा होती है वह केवल "पत्रा" (पञ्चाङ्ग+जन्त्री) बनाने की एक सारणी (Table) ग्रन्थ पढ़के और दो चार फलित के ग्रन्थ पढ़ लेता है। इतना पढ़ के ज्योतिषी बन के लोगों की जन्मपत्री और वर्ष फल लिख के अपना निर्वाह करता है और जो जन्मपत्री वा वर्षफल में फल लिखा रहता है, कहीं

मिलता और कहीं नहीं मिलता। वह फल न मिलने का दोष अपने ऊपर न आवे इस लिये ज्योतिषी लोग जन्मपत्री के आदि में प्रायः यह श्लोक लिखते हैं:—

जनुषः समये धृतं न यन्त्रं न मया च निवेशिता च नाडी।
अपरैरुपदिष्टजन्मकालाज्जनिपत्रीह विलिख्यते मयैषा।

अर्थात्—(जन्मपत्री लिखने वाला ज्योतिषी कहता है कि) मैंने जन्मकाल ठीक जानने के लिये उस समय कोई तुरीय आदि यन्त्र लगाया नहीं था, न कोई घड़ी भी वहां स्थापित की थी। दूसरे ने जो जन्मकाल कहा उस पर से मैं यह जन्मपत्री लिखता हूं। इस लिये विश्वगुणादर्श नामक पुस्तक में ज्योतिषी का वृत्त लिखा है कि:—

विलिखति सदसद्वा जन्मपत्रं जनानां फलति यदि तदानीं दर्शयत्यात्मदाक्ष्यम्।
न फलति यदि लग्नं द्रष्टुरेवाह मोहं हरति धनमिहैवं हन्त दैवज्ञपाशः॥

अर्थात् ज्योतिषी अच्छा वा बुरा किसी प्रकार का एक जन्मपत्र लोगों को लिख देता है। जो उस में लिखा हुआ फल मिल जावे तो सभी को अपना सामर्थ्य दिखलाता है, और जो न मिले तो कहता है कि जन्मकाल देखने हारा चूका है। खेद की बात है कि इस प्रकार से कुत्सित ज्योतिषी लोगों से द्रव्यहरण करता है।

यों हिन्दुओं में फलित की और ज्योतिषी की अवस्था है। मुसलमान लोग भी कहते हैं कि फलित विद्या सच्ची है। उन में शोआ लोग तो हिन्दुओं की नाईं उस को मानते हैं। लखनऊ में कितने कितने एक ब्राह्मणों ने फलित विद्या पर मुसलमानों से लाखों रुपये पाये हैं। सुन्नी लोग विद्या को सच्ची समझते हैं परन्तु प्रायः अपनी जन्मपत्री और वर्षफल बनवाके शुभाशुभ फल नहीं देखते।

अब पहिले लिखा है कि फल कहीं मिलता है और कहीं नहीं मिलता, तिस पर फलित के आचार्य्य कहते हैं कि जो फल नहीं मिलता सो फलित शास्त्र का दोष नहीं है, परन्तु वह फल लिखनेहारे ज्योतिषी का अज्ञान है। उस ने जो ग्रहों का गणित किया होगा सो चूका होगा वा फलित के विचार में कहीं भूला होगा इस में कुछ संशय नहीं है। यों ज्योतिषी की भूल से फलित शास्त्र झूठ नहीं हो सकता। क्योंकि इस शास्त्र के बनाने हारे जो आचार्य्य हो गये हैं उन लोगों ने उस उस काल के ग्रहों की स्थिति पर से वह वह फल निश्चय से होता है, यों वारम्वार परीक्षा करके फलित के सिद्धान्त लिखे हैं सो झूठ क्योंकर होंगे? जैसे अमुक रोग पर अमुक औषध देने से वह रोग दूर होता है, यों वैद्यक के ग्रन्थकारों ने बार बार परीक्षा से ठहरा के वह औषध उस रोग का नाशक है, यों ग्रन्थ में लिख दिया है। फिर वैद्य लोग रोगियों को औषध देते हैं उस में कितने एक रोगियों का रोग दूर होता है और

कितने एक का नहीं होता। उस में वैद्यकशास्त्र का दोष नहीं वह वैद्य का दोष है। उस रोग के दूर न होने में कारण यही है कि उस वैद्य को उस रोग की परीक्षा अच्छी भांति न हुई होगी वा औषध की वृत्ति अच्छी न बनी होगी, परन्तु इस से वैद्यकशास्त्र झूठ नहीं हो सकता। इसी प्रकार से फलित भी झूठ नहीं है। जो कोई यों कहे कि आकाश में ग्रह और नक्षत्र पृथिवी पर से उस उस स्थान में दृष्ट हों तो वह वह फल होता है। यह जो समग्र फलित में लिखा है इस में परस्पर दूरस्थित जो ग्रह और नक्षत्र हैं, इन में क्या सम्बन्ध हैं ? और उन से वह फल क्योंकर होगा, इस में कोई युक्ति ही दीख नहीं पड़ती। इस लिये यह फलित शास्त्र युक्तिशून्य है, यह सत्य नहीं हो सकता। इस पर फलित जानने हारे यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि आकाश में परस्पर दूर स्थित ग्रह और नक्षत्रों के उस स्थान पर आने में और पृथिवी पर उस उस फल के होने में क्या सम्बन्ध है ? और फल होने में क्या कारण है, यह हमारे ध्यान में नहीं आता। तथापि उस उस ग्रह स्थिति के अनुसार वह वह फल स्पष्ट दीख पड़ता है, तब उसको झूठ नहीं कह सकते। जैसे अमावास्या, पूर्णिमा और अष्टमी इन चार तिथियों में सूर्य और चन्द्र आकाश में कुछ नियत अन्तर पर रहते हैं और जो बहुत रोगी होते हैं उन का रोग इन तिथियों में बढ़ता और जो रोगी मरणासन्न हो तो प्रायः उन के लगभग काल में मर जाता है और जो कदाचित् ये तिथि बीत जायें तो रोग शान्त होता है। यह बार बार परीक्षा करके देखा है। यों सूर्य और चन्द्र के दृष्ट अन्तर से भूमि पर रोग की वृद्धि और ह्रास होता है। इस का कारण यद्यपि ध्यान में नहीं आता, तथापि फल स्पष्ट दीख पड़ता है, वह झूठ नहीं हो सकता। इसी प्रकार से और भी ग्रह आकाश में उस उस स्थान में दीख पड़ने से वह वह फल होता है, यह परीक्षा करके फल ग्रन्थ बनाये हैं। इन में जो फल की उपलब्धि होती है सो ही युक्ति है, दूसरी नहीं है। यों ज्योतिषी लोग स्पष्ट कहते हैं और भी कहते हैं कि जैसे हल्दी पीली होती है और चूना शुभ्र होता है, पर जो ये दोनों पानी में इकट्ठे किये जायें तो उस मिश्र द्रव्य का रङ्ग लाल होता है। यह रङ्ग होने में क्या कारण है ? यद्यपि मन में नहीं आता तो भी लाल रङ्ग को झूठ नहीं कह सकते। इसी प्रकार से ग्रहों की स्थिति के अनुसार जो फल होता है उसे झूठ नहीं कह सकते।

इस पर फलित को न मानने वाले कहते हैं कि फलिती लोग ऐसी ऐसी चाहे जितनी फलित की उपपत्ति दिखलावें परन्तु फलितशास्त्र किसी प्रकार से काम में लाने के योग्य नहीं है। यह शास्त्र सब परस्पर विरुद्ध उक्तियों से भरा है। जैसा कि भावसाधन अनेक प्रकार का लिखा है, उस से भावी घटना भिन्न भिन्न प्रकार की ज्ञात होगी, उस में कौनसी सत्य कहनी चाहिये ? इसी प्रकार से आयुर्दाय का

गणित अनेक प्रकार का है तब कौन गणित पर से मनुष्य के आयुष्य का निश्चय होगा ? यों ही ग्रन्थों में ग्रहों की दशा बहुत प्रकार को लिखो हैं तब यह ग्रह को दशा का फल किसी प्रकार से नहीं ठहराया जा सकता, ऐसी ऐसी अनेक विरुद्ध उक्ति इस में हैं तो फल का निर्णय क्योंकर होगा ? और भी पृथिवी पर एक ही समय में अनेक मनुष्य जन्म लेते हैं पर उन सब की वृत्ति एकसी कभी नहीं होती। और एक इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि जो दो युगल जन्म लेते हैं उन के जन्म लग्न में तो क्या पर नवांश में भी प्रायः भेद नहीं होता। इसलिये उनकी जन्मपत्री एकही सी बनती है, पर जो उनकी जीवन की वृत्ति देखो तो दोनों की भिन्न भिन्न प्रकार से होती है, सो उस जन्मकुण्डली से किसी प्रकार से ज्ञात नहीं हो सकता। तब फलितशास्त्र किस काम का होगा ?

और भी फलित को न मानने वाले कहते हैं कि यह भावी फल पहिले ही कह देना केवल व्यर्थ है। इतना ही नहीं है, यह प्रायः बाधक भी होता है। जैसे कोई मनुष्य किसी ज्योतिषी से पूछे कि जो मैं व्यापार करता हूं उस में लाभ होगा वा हानि होगी ? तब जो ज्योतिषी कह देवे कि इस में तुम को हानि होगी तो यह सुनते ही वह मनुष्य खिन्न होके उस व्यापार के काम में ढीला हो जायेगा और जो उस को उस व्यापार में लाभ भी होने वाला हो तो भी उसकी ढोलाई से हानि ही होगी। इसलिये यह भावी फल का कथन उद्योगी मनुष्य को ढीला कर देता है। इस लिये फल के न मानने वाले स्पष्ट कहते हैं कि फलितशास्त्र का भरोसा न करके केवल ईश्वर के भरोसे पर सब काम प्रयत्न से करो, इसी में सब सिद्धि और वृद्धि है।

इस फलित विचार को श्रीयुत पं० बापुदेव शास्त्री ने जो ज्योतिष शास्त्र के आचार्य थे, सन् १८९२ ई० में संस्कृत कालिज बनारस में भारतेन्दु श्रीयुत बा० हरिश्चन्द्र जी आदि महाशयों के अनुरोध से वक्तृतारूप से कहा था, जो श्रीयुत बा० हरिश्चन्द्र जी की आज्ञा से सर्वसाधारण के लाभार्थ बनारस मेडिकल हाल प्रेस में छाप कर प्रकाशित किया गया।

नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह

अन्धकार रात्रिसमय गगनमण्डल में जो असंख्य नक्षत्र दीखते हैं वे देखने में यद्यपि छोटे छोटे जान पड़ते हैं, परन्तु वस्तुतः वे छोटे नहीं हैं। ये नक्षत्र पृथिवी से अत्यन्त दूर पर अवस्थित हैं। इस कारण पृथिवी से कई गुणा बड़े होने पर भी छोटे छोटे दीखते हैं। इन नक्षत्रों की दिनरात्र एक ही दशा रहती है, परन्तु दिन में सूर्य

की किरणों की प्रखरता से हम लोग उनको नहीं देख सकते और रात्रि में देखते हैं। ये नक्षत्र सब एक प्रकार के नहीं हैं, जिन सब नक्षत्रों की दूरी परस्पर एक ही सी रहती है एवं नित्य अपने ही स्थान में दीख पड़ते हैं अर्थात् किन्हीं लोकलोकान्तर को परिक्रमा नहीं करते, केवल अपनी ही धुरी पर घूमते हैं, उन्हीं को नक्षत्र कहते हैं। ये नक्षत्र दो प्रकार के हैं। एक अचल नक्षत्र, दूसरा चल नक्षत्र। अचल नक्षत्रों में से अद्यावधि आधुनिक विद्वानों ने ५००००, ७०००० के लगभग देखे हैं। अचल नक्षत्र का वर्णन ऊपर हो चुका है।

चल नक्षत्र वा ग्रह

बहुत से नक्षत्र कभी गगनमण्डल के एक स्थान में कभी अन्य स्थान में अवस्थिति करते हैं। एवं कभी अचल अवस्था में रहते हैं, इन्हीं सब नक्षत्रों से अधिक प्रकाश होता है। इस लिये इन को ग्रह कहते हैं। ये ग्रह सब सूर्य से प्रकाशित होते हैं अर्थात् इन में स्वकीय तेज नहीं। परन्तु पूर्वोक्त अचल नक्षत्र स्वयं प्रकाशमान हैं। उन में सूर्य का प्रकाश नहीं है।

आकाश में जो सब नक्षत्र दीखते हैं उनमें से जो हम लोगों को दिन में सबसे अतिप्रभायुक्त दीखता है वही सूर्य है। पूर्वोक्त नियमानुसार सूर्य ग्रह नहीं है, क्योंकि यह किसी की परिक्रमा न करके अपनी ही धुरी पर घूमता है और स्वयं प्रकाशित होता है। भारतवर्षीय बहुत से नवीन ग्रन्थों में सूर्य को ग्रह माना है, परन्तु वेदादि सच्छास्त्रों में इस को ग्रहपति माना है अर्थात् ग्रहों का केन्द्र स्वरूप। वेद का प्रमाण आगे ग्रह प्रकरण में दिया जायगा। अमरकोष वाले ने सूर्य के नामों में एक नाम "विभावसु" "ग्रहपतिः" लिखा है। इदानीं विद्वानों ने दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा अनेक दूरस्थित नक्षत्रों को देख कर निश्चय किया है कि वे एक एक सूर्य हैं अर्थात् हमारे सूर्य की नाईं ग्रह, उपग्रह आदि के मध्य स्थित हो सब को प्रकाशित करते हुए अपनी धुरी पर घूमते हैं। इनके तीन भेद हैं। एक सामयिक नक्षत्र, दूसरा अन्तर्हित एवं तीसरा यमल वा मिथुनमाला नक्षत्र है।

सामयिक नक्षत्र

जो सब नक्षत्र किसी किसी समय अति उज्ज्वल, किसी समय अत्यन्त निष्प्रभ एवं कभी कभी अदृश्य होते हैं उन को सामयिक वा नव्यतारा कहते हैं।

अन्तर्हित वा रूपविकारी नक्षत्र

बहुत से नक्षत्र पहिले अत्यन्त दीप्तिमान् होकर प्रकाशित होते हैं और कुछ दिन पीछे उन की ज्योतिः क्रमशः न्यून होने लगती है एवं कुछ दिनों पीछे आकाश में

अदृश्य हो जाते हैं। ऐसे नक्षत्रों को अन्तर्हित नक्षत्र कहते हैं। बहुत दिनों के पीछे जो दृश्य होते हैं इस से अनुमान होता है कि वे अपनी गति से अपनी कक्षा में बहुत दूर तक भ्रमण करते हैं, इसी कारण कुछ काल तक अदृश्य हो जाते हैं।

यमल वा मिथुनमाला नक्षत्र

रात्रि में गगनमण्डल की ओर देखने से जो कतिपय नक्षत्र एक एक दीखते हैं। वे वस्तुतः एक एक नहीं हैं। प्रत्युत दूरवीन से देखने पर इधर उधर दो दो नक्षत्र पाये जाते हैं ऐसे नक्षत्रों को यमलनक्षत्र कहते हैं। इदानीं विद्वानों ने निश्चय किया है कि ये नक्षत्र सब यमल नहीं हैं, किन्तु भिन्न भिन्न दो नक्षत्र हैं परन्तु हमारी स्थूल दृष्टि से यमल प्रतीत होते हैं। बहुत से लोग समझते हैं कि ये सब नक्षत्र जो अचल दीखते हैं, वे चलते नहीं, परन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् प्रायः सब ही नक्षत्र अपनी धुरी पर घूमते हैं और वे एक एक सूर्य्य स्वरूप हैं एवं अनेक नक्षत्र हमारे सूर्य की अपेक्षा भी बड़े व तेजोन्वित हैं। वास्तविक गणना द्वारा निश्चय किया गया है कि लुब्धकनामक नक्षत्र सूर्य की अपेक्षा ३६ गुणा उज्ज्वल है। ये नक्षत्र सब पृथिवी से अत्यन्त दूर स्थित होने के कारण छोटे जान पड़ते हैं और इनकी दूरी का निश्चय करना असाध्य है। अभिजित् नामक नक्षत्र पृथिवी से इतनी दूर पर हैं जो इस की ज्योतिः पृथिवी पर पहुंचने में हमारे २१ वर्ष बीत जाते हैं। एवं बहुत से नक्षत्र पृथिवी से इतनी दूर हैं जो उनका तेज पृथिवी पर पहुंचने में दशलाख वर्ष व्यतीत होते हैं।

छायापथ वा आकाशगङ्गा

रात्रि में जब चन्द्रमा की ज्योत्स्ना न्यून रहती है और मेघशून्य गगनमण्डल रहता है उस समय कुछ उज्ज्वल, बहुत लम्बा और ८ आठ अंश से २० अंश तक चौड़ा असंख्य छोटे छोटे नक्षत्र समाकीर्ण, नक्षत्रपुञ्ज दीख पड़ता है। उस को छाया-पथ हरितालो या आकाशगङ्गा एवं अन्य भाषा में यम का जङ्गल कहते हैं। वस्तुतः यह नदी या जङ्गल नहीं हैं किन्तु अत्यन्त दूर स्थित होने से नक्षत्रपुञ्ज सब नदी वा जङ्गल की नाईं दीखता है। अमरकोष के स्वर्गवर्ग में देवनदी का नाम लिखा है "मन्दाकिनी वियद्गङ्गा सुरनदी सुरदीर्घिका—श्लोक ४८" अर्थात् गगनमण्डलस्थ नक्षत्रादि दिव्य पदार्थों को देव कहते हैं उनमें यह नदी स्वरूप तारापुञ्ज है।

इस आकाशगङ्गा में इतने असंख्य नक्षत्र हैं जो उनकी संख्या करनी असम्भव है, दूरवीन से देखने पर ४१ मिनट में लगभग तीन लाख नक्षत्र देखे गये हैं।

गगनमण्डल का विभाग

आधुनिक ज्योतिर्विद्यावित् पण्डितगण ने आकाशमण्डल को तीन भागों में विभक्त किया है। मध्यखण्ड, उत्तरखण्ड, दक्षिणखण्ड। पृथिवी के दक्षिण ओर

उत्तर अयनान्त वृत्त के मध्य स्थान में जो अंश है उसको मध्यखण्ड कहते हैं। इसी मध्यखण्ड में राशिचक्र है अर्थात् मेषादि १२ राशियां और उन के अन्तर्गत १०१६ नक्षत्र सामान्यतः देखे गये हैं। गगनमण्डल के मध्यखण्ड के उत्तर जो अंश है उसको उत्तरखण्ड कहते हैं। एवं इस उत्तरखण्ड में ३५ राशि अर्थात् तारापुञ्ज एवं उस के अन्तर्गत १४५६ नक्षत्र हैं। और मध्यखण्ड के दक्षिण जो अंश है उस को दक्षिण-खण्ड कहते हैं। इस दक्षिणखण्ड में ४६ राशि एवं उस के भीतर ९९५ नक्षत्र हैं। पाश्चात्य पण्डितों तथा कतिपय भारतवर्षीय नवीन शिक्षित व्यक्तियों की ऐसी धारणा है कि भारतीय ग्रन्थों में केवल मध्यखण्ड के राशि एवं नक्षत्रों का उल्लेख है और शेष उत्तर एवं दक्षिणखण्ड के राशि और नक्षत्रों का कुछ भी उल्लेख नहीं है इत्यादि। परन्तु यह उनकी भ्रममूलक एवं युक्तिशून्य धारणा है।

ग्रहगणों के विभक्त करने के नियम

पूर्वोक्त ग्रह दो प्रकार के हैं। एक अन्तरस्थ वा अन्तर्वर्त्ती और दूसरे वहिःस्थ वा वहिर्वर्त्ती ग्रह हैं। बुध, शुक्र, पृथिवी और मङ्गल अन्तर्वर्त्ती ग्रह हैं और वृहस्पति, शनि, प्रजापति (यूरेनस) और वरुण (नेप्चून) वहिर्वर्त्ती ग्रह हैं। पृथिवी को छोड़-कर किसी अन्तर्वर्त्ती ग्रह का उपग्रह नहीं है। एवं वहिःस्थ जितने ग्रह हैं, सब के उपग्रह हैं। अन्तरस्थ ग्रहगण वहिर्वर्त्ती ग्रहगण की अपेक्षा अधिक सान्द्र (घन) हैं और वहिःस्थ ग्रहगण की अपेक्षा थोड़े काल में अपनी अपनी कक्षा का एक बार भ्रमण कर लेते हैं। ग्रहों को और भी एक प्रकार से विभक्त कर सकते हैं। जैसे जो ग्रहगण पृथिवी और सूर्य के मध्य स्थान में स्थित हैं उन को लघु एवं जो ग्रहगण पृथिवी के गमनीय मार्ग के वाहर जाते हैं उन को ज्येष्ठ ग्रह कहते हैं।

आधुनिक रीति से नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि का वर्णन हो चुका। अब कुछ वैदिक प्रमाण जो मिले हैं वे लिखे जाते हैं:—

प्रवाहुग्वाऽग्रे क्षत्राण्यातेपुः ॥ तेषामिन्द्रः क्षत्राण्यादत्त ॥ न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति ॥ तन्न क्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ॥ तै० ब्रा० २।७।१८।३॥

अर्थात्—जितने नक्षत्र हैं वे सूर्य की नाईं वा उस से भी अधिक तेज वाले हैं, परन्तु उनके प्रकाश वा क्षत्र इन्द्र=(सूर्य) ने ले लिये अर्थात् उन नक्षत्रों की दूरता प्रयुक्त और सूर्य की प्रखर किरणों से हम लोग उन्हें एक एक तारे की नाईं (छोटे छोटे) देखते हैं। इस कारण से इन्हें "नक्षत्र" (न=नहीं, क्षत्र=सूर्य की नाईं प्रकाश) कहते हैं। आशय यह है कि प्राचीन समय में जिन नक्षत्रों का प्रकाश हम लोगों के निकट दूरता के कारण अत्यन्त न्यून पहुंचता एवं जो बहुत थोड़ी गति वाले हैं उन्हें नक्षत्र कहते थे और नक्षत्रों में जो देखने में कुछ बड़े जान पड़ते थे उन्हें कहीं कहीं "ऋक्ष" कहते थे।

सलिलं वा इदमन्तरासीत् ।। यदतरन् ।। तत्तारकाणां तारकत्वम् ।। यो वा इह यजते ।। अमुं सलोकं नक्षत्रे ।। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।। देवगृहा वै नक्षत्राणि ।। य एवं वेद ।। गृह्येव भवति यानि वा इमानि पृथिव्याश्चित्राणि ।। तानि नक्षत्राणि ।। तस्मादश्लीलनामंश्चित्रे ।। नावस्येन्न यजेत ।। तै० ब्रा० १।५।२।।

अर्थात्—वर्तमान सृष्टि के आदि में जल था । उस से जो सृष्टि होती हुई— खस्थ पदार्थों में सब से निकट, एवं अधिक गति वाले हैं, वे ही तारे हैं, एवं जिस प्रकार यज्ञ करने वाले ऊंची गति को पाते हैं इसी प्रकार जो अपेक्षाकृत ऊपर के "नक्षत्र" हैं उन्हें "नक्षत्र" कहते हैं । सौर जगत् में एक एक नक्षत्र मानो ग्रहादिक अन्यान्य विशेष गतिमान् खस्थ पदार्थों के घर हैं। जिस प्रकार इस पृथिवी पर चित्रविचित्र घर हैं, इसी प्रकार आकाश में भी नक्षत्रपुञ्ज की आकृति भिन्न भिन्न प्रकार की है ।

प्रत्येक नक्षत्रादि एक एक लोक विशेष है । इस का प्रमाण वेदों में है:—

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः ।।
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ।। (अथर्व ११ । ३ । ५२,५३)

अर्थात्—ब्रह्मा ने ३३ लोक (२७ अश्विनी से रेवती पर्यन्त और ६ कृत्ति नक्षत्र की योगतारा नक्षत्र ये ३३ नक्षत्र) रचे हैं। जिन के जानने के लिये यज्ञ का विधान है अर्थात् यज्ञ करने से सात्त्विक बुद्धि होने पर शीघ्र विद्या द्वारा इन लोकों का ज्ञान हो जावे । यह उपलक्षण मात्र कहा गया । इसी प्रकार जितने आकाशस्थ नक्षत्रादिक हैं वे सब एक एक लोक विशेष हैं।

सूर्य

सौर जगत् में सूर्य ही सब ज्योतिष्क पदार्थों में वृहत् एवं उत्ताप और आलोक का आकर है। सूर्य २५ दिन ८ होरा २२।। पल में अपनी कक्षा पर पश्चिम से पूर्व को एक बार घूम आता है । सूर्य सौर जगत् में केन्द्र स्वरूप होने से ग्रहों में इस की गणना नहीं, वेदादि सच्छास्त्रों में भी इस को ग्रह नहीं माना है। एव सूर्य की बीच में और उसकी चारों ओर अन्यान्य ग्रहों की संस्था लिखी है । अब हम उन प्रमाणों का उल्लेख करते हैं, जिन से पूरा पूरा निश्चय हो जायेगा कि भारतवर्षीय लोग अनादि काल से सूर्यादि ज्योतिष्क पदार्थों की वास्तविक गति विधि आदि जानते थे।

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ।। ऋग्वेद १।५०।११।।

अर्थात्—हे ईश्वर ! जिस प्रकार सूर्य का उदय होने से अन्धकार दूर होता है, इसी प्रकार मेरे हृदय के अज्ञानान्धकार रूपी रोग का नाश करो ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ ऋ० १।१६४।२॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षण ॥ सामवेद प्र० ६ अ० प्र० ३। द० १४।१४ ॥

अर्थात् हे सूर्य ! तुम्हारे मण्डल में सात प्रकार की किरणें हैं।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्व भुवनाधि तस्थुः ॥ अ० ६ ६।२
अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ॥ अ० ७।१०७।१॥

अर्थात्—सूर्य की सातों किरणें दिन में प्रकाशित होती हैं। पुराणों में सूर्य के ७ घोड़े अरुण नामक सारथी और रथ आदि की जो कथा लिखी है, वह वस्तुतः कुछ नहीं है। सूर्य के न कोई रथ, न घोड़े, न सारथी आदि हैं। यह आलङ्कारिक वर्णन से कहा गया है कि एक ही किरण (रश्मि) सात नामों (सात प्रकार के रङ्ग) से सूर्यमण्डल (चक्र) में प्राप्त होता है। इस अक्षय और प्रतिबन्ध चक्र में तीन नाभि हैं (उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत्)। इसी सूर्यमण्डल (सौर जगत्) में सब लोक ठहर रहे हैं और (अनर्वं) जिस सूर्य के रथ में घोड़ा नहीं है। हमारे पौराणिक पण्डित लोग सूर्य को ग्रहों में गिनते हैं, परन्तु यह उन की भूल है क्योंकि प्राचीन प्रमाणों के अतिरिक्त अमरकोष में भी सूर्य को "ग्रहपति" लिखा है, ग्रह नहीं है।

विभावसुर्ग्रहपतिस्त्विषांपतिरहर्पतिः ॥३०॥
(अमरकोष काण्ड १ कालवर्ग)

वायु का कारण सूर्य

सवितारं यजति यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः पश्चादयं भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्पवते। ऐ० ब्रा० २।७॥

वह वायु सूर्य की सेवा करता है। जिस लिये सूर्य की सेवा करता है, इस कारण सूर्य की उत्तर पश्चिम आदि नाम से वारंवार वायु चलता है।

आशय यह है कि सूर्य से उत्पन्न होकर वायु बहता है।

ऋतु का कारण सूर्य

पूर्वामनु प्र दिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्वि दधावनुष्ठु ॥ (ऋ०सं० १।९५।३)

हे सूर्य ! तुम्हारे द्वारा पृथिवी पर पूर्वादि दिशा की व्यवस्था होती है और ऋतुओं को उत्पन्न करते हो।

सौरजगत् में एक ही सूर्य है

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति। ऋ० ८।५८।२।

एक ही अग्नि बहुत प्रकार से जलाया जाता है और एक ही सूर्य सब लोकों को प्रकाश करने में समर्थ है और एक ही उषा (सूर्योदय से पूर्व लालिमा से भी पूर्वकाल) सम्पूर्ण जगत् को सुशोभित करती है।

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत्पतयदूर्ध्वसानुः। (ऋ० सं० १।१५२।५)

घोड़ारहित ही सूर्य उत्पन्न हुआ परन्तु विना घोड़े के बड़ा तेज एवं ऊपर को अपनी परिधि में चलता है[1]।

अंग्रेजों ने जो दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा सूर्य मण्डल में कलङ्क देखा है और उत्तर दक्षिण किञ्चित् दवा हुआ निश्चय किया है यह विषय कई सहस्र वर्ष पूर्व ही से हमारे शास्त्रों में लिखा है:—

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषस्तु लोहितः।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते।। (वाल्मीकीय रा० यु० सर्ग २४)

श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि हे लक्ष्मण! सूर्य मण्डल सन्ध्या के कारण लाल है, एवं इस का अङ्ग कुछ कृश (दवा) है और नील रङ्ग का कलङ्क (चिह्न) दीखता है।

शुक्र

बुध के अनन्तर शुक्र की संस्था है। यह ग्रह अन्यान्य ग्रहों की अपेक्षा अतिशय सुन्दर और बड़ा है। सूर्य के उदय और अस्तमन से पहिले अर्थात् सन्ध्याकाल में एवं अरुणोदय के पहिले प्रातः काल में यह ग्रह दृश्य होता है, इसी कारण सर्वसाधारण इस को प्रभाततारा वा सन्ध्यातारा कहते हैं।

बुध और शुक्र को जो हम लोग सम्पूर्ण रूप से नहीं देख सकते, इस का कारण यह है कि ये दोनों ग्रह पृथिवी के गमनीय पथ और सूर्य के मध्यस्थान हो कर गमन करते हैं। चन्द्रमा की नाईं शुक्र की कला को भी वृद्धि और ह्रास होते हैं। इसी कारण कभी कभी यह इतना सूक्ष्म हो जाता है, जो हम लोगों को ठीक ठीक दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी कारण भारतवर्ष में शुक्र को "काणा" वा दैत्या-

---

१. किन्हीं लोगों की जो यह धारणा है कि सूर्य पृथिवी की परिक्रमा करता है, यह एकमात्र भ्रमूलक है क्योंकि वेदादि सत्यशास्त्रों में इस का प्रमाण नहीं पाया जाता है। देखो पृथिवीभ्रमण विचार।

चार्य शुक्र एकाक्ष है, ऐसा कहते हैं। यह तो इदानीन्तन विद्वानों ने अनुभव किया है। वेद में भी इसी प्रकार एवं इस से विशेष लिखा है। अंग्रेजी में शुक्र का नाम वीनस (Venus) है। इस से अनुमान होता है कि हमारे वेदों में जो "वेनस" शुक्र का नाम है, उसी को लेटीन, ग्रीक आदि भाषा में भी लिखा है। वेदों के प्रमाण दिये जाते हैं:—

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥
(ऋ० सं० १०। १२३। १)

अर्थ—यह वेनस (शुक्र) और मति (बुध) सूर्य के पास शिशु (बालक) की नाईं प्रतिदिन बढ़ते हैं, अर्थात् चन्द्रमा की कला की हानि वृद्धि की सी इन की कला भी घटती बढ़ती हैं, परन्तु विप्र (बृहस्पति) ग्रह के लिये यह नियम नहीं है।

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः।
सोमः सोमस्य पुरोगाः॥ यजु० अ० ८। ४९॥

अर्थ—इस पूर्ण कलायुक्त शुक्र का सुन्दर रूप देखने में सुहावना है और इस की संस्था चन्द्रमा के पहिले एवं इस के आगे (सामने) चन्द्रमा है।

अयं वेनः। चित्रं देवानाम्। यजु० अ० ३३। ३३

अर्थ—यह वेनस् (शुक्र) खस्थ दिव्य ग्रहों में सब से सुन्दर है।

चक्षुषी ह वा अस्य शुक्रामन्थिनौ। तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपति तद्यदेष एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी॥१॥ इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वन्ति। अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान इति तदेतस्य रूपं कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायुरिति॥८॥ शत० ब्रा० ४।२।१॥

आशयः—सूर्य के दो नेत्र स्वरूप बुध और शुक्र हैं, या यह जो शुक्र प्रकाशित होता है, यह जो शुक्र तपता है, चन्द्रमा है (चन्द्र तुल्य है) इस को कोई चन्द्रमा का पुरोवर्त्ती कहते हैं। (चन्द्रमा के पहिले शुक्र की संस्था है) इस लिये शुक्र को प्रकाश का गर्भ (जरायु) कहते हैं।

वस्व्यसि रुद्रास्यदितिरस्यादित्यासि शुक्रासि बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने ररावतु।
तै० सं० १। २। ५॥

आशयः—तू वस्वी है, रुद्रा है, अदिति है, शुक्रा है, चन्द्रा है, और बृहस्पति ग्रह के तुल्य तुम्हारे सुखप्रद प्रदेश हैं (श्वेत हैं)।

इस मन्त्र में जो शुक्र के विशेषण स्त्रीलिङ्ग शब्दों में हैं, इस का कारण यह है कि शुक्र की सुन्दरता के वर्णन में हैं, इसलिये पुंलिङ्गवाचक शब्द नहीं हैं एवं बुध

ग्रह के वर्णन में शुक्र का एकाक्ष होना आदि लिखा गया है वहीं देखना चाहिये। प्रायः चारों वेदों में बृहस्पति और शुक्र वा "अश्विनौ" नासत्या, दस्रा, स्वर्वैद्य के बहुत से मन्त्र हैं। उस का कारण यह है कि प्रातःकाल अर्थात् आधीरात के पीछे और सूर्य के अरुणोदय से पूर्व एवं सन्ध्याकाल में सूर्य के पीछे ईश्वरोपासना का समय है जिस का नाम "उषःकाल" और ब्राह्ममुहूर्त्त है। इस समय हमारे ऋषिगण प्रायः सांसारिक कार्यों को छोड़कर नियमपूर्वक स्नानादि नित्यक्रिया कर ईश्वरोपासना, होम, वेदपाठ आदि ईश्वरोपासनासम्बन्धी कार्य में व्यस्त रहते थे। सो ये दोनों ग्रह शुक्र और बृहस्पति जिन को हमारे देश के आबाल वृद्ध स्त्री पुरुष "शुक्रतारा" एवं "बृहस्पतितारा" जानते हैं, प्रायः प्रत्येक वर्ष के आधे महीनों में उदित होते हैं। इसी कारण उषःकाल एवं सन्ध्याकाल के वर्णन में मनुष्यों को ईश्वरोपासना विशेषतः करनी चाहिये। शुक्र और बृहस्पति तारा देखने से नियत काल का निश्चय होता है।

बुध

यह ग्रह अन्यान्य ग्रहों की अपेक्षा अत्यन्त छोटा एवं सूर्य का अत्यन्त निकटवर्त्ती है। इस का वर्ण शुभ्र (श्वेत) सूर्य के उदय अस्त के किञ्चित् पहिले दृष्टिगोचर होता है। बुध ग्रह २७ दिन २३ होरा १५ मिनट ४६ सैकिण्ड में सूर्य की एक बार प्रदक्षिणा कर लेता है और अपनी कक्षा पर २४ होरा ५ मिनट में एक बार भ्रमण करता है। इस ग्रह की संस्था सूर्य के पश्चात् है (पाश्चात्त्य मतानुसार)। इसी प्रकार वेद में भी इस की संस्था लिखी है। प्रायः चारों वेदों में उषःकाल (सूर्योदय की लालिमा से पूर्व का काल) के ईश्वरोपासना विषयक मन्त्रों में आलङ्कारिक वर्णन द्वारा सूर्य के दो नेत्र स्वरूप बुध और शुक्र को माना है। प्रायः देखने में ये दोनों ग्रह इसी प्रकार जान पड़ते हैं। दोनों ओर बुध और शुक्र और बीच में सूर्य रहता हैं।

सूर्य्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुः पितासत् ॥
अथर्व सं० ६।६।१४,१५ ॥

आशयः—शुक्र ग्रह का नाम अंग्रेजी में वीनस (Venus) है जिस का अर्थ अत्यन्त सुन्दर है (Goddess of beauty) जिसे संस्कृत में "श्री" कहते हैं। एवं शुक्र ग्रह को काणा वा एकाक्ष भी संस्कृत के ग्रन्थों में लिखा है। वह इस कारण से कि दूरबीन यन्त्र द्वारा देखने से कभी कभी शुक्र ग्रह इतना सूक्ष्म प्रतीत होता है जो उस का वास्तविक रूप नहीं दीखता (चन्द्रमा की नाईं इस की कला बढ़ती

घटती है)। इस से इस को "काणा" भी कहते हैं। इस का मूल ऊपर के मन्त्र में पाया जाता है।

मन्त्रार्थः—सूर्य के दो नेत्र स्वरूप बुध और शुक्र ग्रह हैं (अत्यन्त निकट हैं) जिन में अनेक लोग बसते हैं। इन दो में एक तो पुरुष (बुध) और एक स्त्री (शुक्र) एवं एक नेत्र वाला (बुध) और एक नेत्रहीन (शुक्र) है। इन को जो विद्वान् जाने वह विद्वानों में श्रेष्ठ है।

इसी प्रकार बुध के नाम सौम्य एवं रौहिणेय क्यों हैं, इस का कारण नीचे व्यक्त किया जाता है। कभी कभी बुध और शुक्र को चन्द्रमा पिधान (ढक लेता है) कर लेता है और प्रायः तारा और ग्रहों का भी पिधान होता है। अनेक दिन हुए कि रोहिणी और चन्द्रमा के पिधान में बुध ग्रह आ गया था, पुनः बुध चन्द्रबिन्दु से बाहर निकल गया था, इसी कारण रोहिणी को स्त्री मानकर और चन्द्रमा को पुरुष एवं रूपकालङ्कार से इन दोनों के समागम से बुध उत्पन्न होकर रौहिणेय और सौम्य कहलाया। इस को लेकर पुराणों में एक और कथा है कि चन्द्रमा ने गुरुपत्नी तारा को हर लिया था, उसी से बुध का जन्म हुआ इत्यादि। परन्तु वह भी कल्पनामात्र है। वास्तविक पिधान ही होता है, और ग्रहों का भी इसी प्रकार पिधान होता हैं परन्तु औरों की कथा इस प्रकार प्रसिद्ध नहीं हुई। मङ्गल और शुक्र के क्रम से आषाढाभू और मघाभू नाम पिधान हो के कारण प्रसिद्ध हैं।

चन्द्रमा

यद्यपि चन्द्रमा ग्रहों में परिगणित नहीं परन्तु वेदों में इस की संस्था का क्रम जिस प्रकार लिखा है उसी प्रकार शुक्र की संस्था के अनन्तर पृथिवी के उपग्रह रूप से इस की संस्था है। पृथिवी जिस प्रकार सूर्य का परिभ्रमण करती है उसी प्रकार चन्द्रमा भी पृथिवी की प्रदक्षिणा करता है। २७ दिन ७ होरा ४३ मिनट ११.५ सेकेन्ड में चन्द्रमा पृथिवी का एक बार परिभ्रमण कर लेता है। चन्द्रमा का रङ्ग कृष्ण, लाल, गौर और श्वेत है। चन्द्रमा स्वयं तेजस्वी नहीं, परन्तु पाश्चात्त्य पण्डितों ने यह भी निश्चय किया है कि चन्द्रमा एकमात्र निष्प्रभ नहीं है किन्तु उस में मन्दप्रभा है जो सूर्य की किरणों से विशेष रूप से प्रकाशित होता है। लार्डनर साहब कहते हैं कि बहुत परीक्षा द्वारा जाना गया है कि चन्द्रमा की किरणों में ताप नहीं और हम्बोलट साहब इसके विरुद्ध कहते हैं कि चन्द्रमा की किरणों में ताप है। चन्द्रमा में पर्वत, समुद्र, भूमि आदि हैं एवं कोई भाग ऊंचा कोई नीचा है। अब हम क्रम से वेदादि सच्छास्त्रों द्वारा उपर्युक्त विषय को सिद्ध करते हैं:—

ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः।
सोमः सोमस्य पुरोगाः॥ यजु० अ० ८। मं० ४६॥

इस का अर्थ शुक्र के वर्णन में किया गया है। परन्तु यहां चन्द्रमा की संस्था दिखलाने को लिखा गया है। शुक्र ग्रह के सामने (आगे) चन्द्रमा और चन्द्रमा के आगे शुक्र। अब चन्द्रमा में जो श्याम रङ्ग एवं ऊंचा नीचा आदि है, उस का प्रमाणः—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति॥ अथर्व० १९।८।१॥

अर्थ—जो नक्षत्र द्युलोक में (जहां सूर्य की संस्था है) और जो अन्तरिक्ष में (जहां चन्द्रलोक है) जहां के चन्द्रमोधिष्ठित पहाड़, जल, पृथिवी और वृक्षादि हैं उस उस प्रदेश में जो नक्षत्र हैं, हे ईश्वर! सब से हम को सुख पहुंचे। इससे सिद्ध हुआ कि चन्द्रमा में पहाड़ भूमि आदि सब हैं और इसी कारण चन्द्रमा में जो भाग नीचा है वहां सूर्य का प्रकाश ठीक नहीं पहुंचता जिस से श्याम रङ्ग प्रतीत होता है।

चन्द्रमा अप्स्वऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि॥
सामवेद प्र० ५। अर्ध प्र० १। द० ४। मं० ६॥

जलात्मक चन्द्रमा (कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष होने से पक्षी) पक्षिस्वरूप आकाश में चल रहा है। चन्द्रमा में अपना भी प्रकाश है, जो लिखा है उस का भी प्रमाण हमारे वेदों में है:—

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्॥ अथर्व० ८।१।२॥

आर्यभट्ट ने अपने आर्यसिद्धान्त के गोलपाद में लिखा है कि—

चन्द्रो जलमर्कोऽग्निः मृद् भूमिश्छायापि तमस्तद्धि॥ आर्या ३७॥

अर्थात्—चन्द्रमा जल स्वरूप, सूर्य अग्निमय, एवं पृथिवी मृन्मय जिस की छाया चन्द्रमा को ढक लेती है तो ग्रहण होता है।

कालीदास जो श्री महाराज विक्रम के नवरत्नों में से थे, अपने शकुन्तला ग्रन्थ में लिखते हैं कि:—

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
किमिव हिमधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ शकुन्तला १-१। १८॥

हमारे शास्त्रों में जो चन्द्रमा के अमृत की प्रसिद्धि है वह वास्तविक सत्य है क्योंकि चन्द्रमा में ईश्वर ने कुछ ऐसा विलक्षण गुण दिया है जिस की किरणों से हमारे वैद्यकशास्त्रोक्त ओषधियां सब उत्पन्न होकर नाना प्रकार के गुण देती हैं। नाना प्रकार बूटियां पहाड़ों में होती हैं जिन का वर्णन चरक सुश्रुत एवं अन्यान्य

वैद्यकशास्त्रों में है। इन्हीं ओषधियों के मूल कारण चन्द्रमा के होने से इस का नाम "ओषधीश" है और ओषधियों के विलक्षण गुणों के कारण उस की किरण का नाम अमृत हुआ है।

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। तै० सं० ३।४।७।१॥

अर्थात्—चन्द्रमा सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है।

चन्द्रमा का आधा भाग हम लोग सदैव देखते हैं परन्तु इस का शेष दूसरा आधा नहीं दृश्य होता। इसको हमारे पूर्वज ऋषियों ने पहिले से लिख रखा है:—

यथा हिमवतः पार्श्वपृष्ठं चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्वं मनुजैः० ॥ महा० शान्ति पर्व अ० १०० ॥

मङ्गल

बुध के अनन्तर पृथिवी की संस्था, तदनन्तर मङ्गल की संस्था है। यह गाढ़ अत्यन्तगाढ वायु में अनवरत अवस्थित है, इसी कारण अन्यान्य ग्रहों की अपेक्षा इस का रङ्ग अतिशय रक्त है। मङ्गल का गमनीय पथ पृथिवी की कक्षा के बहिर्देश में है। इस ग्रह की दूरी सूर्य से १४६००००० माइल है एवं १ वर्ष ३२१ दिन १७ होरा ३० मिनट ४१ सेकेन्ड में सूर्य की परिक्रमा एक बार कर लेता है।

हमारे भारतवर्षीय संस्कृत-ग्रन्थों में मङ्गल ग्रह के नाम 'लोहिताङ्ग' 'अङ्गारक' लाल होने के कारण रखे गये हैं। जिस लाल वर्ण को जानकर फलित ज्योतिषियों ने इस ग्रह की क्रूर ग्रहों में गणना की है। कभी कभी पृथिवी के एक ओर सूर्य, दूसरी ओर मङ्गल आ जाता है। एवं इस की कक्षा पृथिवीकक्षा के अनन्तर है। मङ्गल और पृथिवी के अनेक अंशों में सादृश्य है। इन कारणों से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इस के नाम 'महीसुत' 'कुज' 'भौम' हैं।

वेद में इस ग्रह का नाम और रङ्ग भी लिखा है:—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे॥
य० अ० १६ मं० ६॥

आशयः—यह जो तांबे के रङ्ग की नाईं अथवा पिङ्गलवर्ण सुमङ्गल वा अतिसुन्दर है, जिस के चारों ओर सुन्दर प्रकाश है।

बृहस्पति

ग्रहों में बृहस्पति सब से बड़ा है। इस का व्यासपरिमाण ८९२०३ माइल और सूर्य से ८९५५८६००० माइल दूरावस्थित है। एवं इस की कक्षा मङ्गल के

पश्चात् है। सूक्ष्म गणना द्वारा जाना गया है कि यह ग्रह ११ वर्ष ३१८ दिन २० होरा २ मिनट ७ सेकेण्ड में एक बार सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कर आता है। जो स्थूल गणना से हमारे ज्योतिष-ग्रन्थों में १२ वर्ष लिखे हैं और इस ग्रह के चार उपग्रह हैं। इस ग्रह का नाम संस्कृत में गुरु, बृहस्पति, देवपुरोहित, आङ्गिरस आदि हैं। अन्यान्य ग्रहों से इस में गुरुत्व अधिक होने से गुरु और बहिर्वर्त्ती ग्रहों में शुक्र की नाईं प्रभायुक्त होने से "पुरोहित" (पुरः=आगे+हित=रखा है) एवं तिष्य नक्षत्र से पिधान होने से "आङ्गिरस" "तिष्यसम्भव" नाम हैं। बृहस्पति की उत्पत्ति तिष्यनामक नक्षत्र से मानी जाती है। उस का कारण यह है कि इस ग्रह का परमशर १ अंश ३० कला होता है, इस से २७ नक्षत्रों में से जिन के साथ निकटयुति होनी सम्भव है वे केवल पुष्य, मघा, विशाखा, अनुराधा, शतभिषा और रेवती नक्षत्र हैं। इस कारण गुरु और तिष्य नक्षत्र की युति होने पर, निकटता प्रयुक्त दोनों नक्षत्र और एकसा प्रतीत होने से युतिकाल के पीछे जब गुरु बाहर हो गया हो तो तिष्य नक्षत्र से इस की उत्पत्ति मानो गयी (रूपकालङ्कार से) प्रमाणः—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव ॥१॥ (तै० ब्रा० ३।१।१)
बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ॥२॥ (ऋ० ४।५०।४)
बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ॥३॥
(अथर्व २० । ८८ । ४)
ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं···पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना रजांसि दीयथः ॥४॥
(ऋ० सं० ५।७३।३)

बृहस्पति के एक बार सूर्य के परिभ्रमण में मनुष्य के १२ सौरवर्ष होते हैं अर्थात् १२ वर्ष में अपना चक्र पूरा करता है ॥ ४ ॥

बृहस्पति की संस्था दिव्य अन्यान्य शुक्रादि ग्रहों से ऊपर को है—

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु ॥ अथ० १९।१७।१०॥

जिस समय आधी रात को आकाश में बृहस्पति उदित होता है या सूर्योदय समय जब यह ग्रह अस्तमित होता है एवं सूर्यास्तकाल में जब इस का उदय होता है, उस समय यह शुक्र की नाईं पृथिवी के अत्यन्त निकटवर्त्ती होकर हम लोगों को शुक्र ग्रह की नाईं अति उज्ज्वल भान होता है। इसी कारण वेदों में "अश्विनौ" नाम से प्रातःकालीन एवं सन्ध्याकालोन कर्त्तव्य-विधायक मन्त्रों में इन का वर्णन बहुत स्थलों में आया है।

और भी इस ग्रह के विषय में वेदों के प्रमाणः—

ग्रा वेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वम् ।
सादद्योनिं दम ग्रा दीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम ।।

ऋग्वेद सं० ५ । ४३ । १२।।

इस मन्त्र से वृहस्पति का बड़ा होना, नीला, लाल, रमणीय, श्वेतवर्ण ग्रर्थात् नाना रङ्ग का होना एवं देदोप्यमान होना सिद्ध होता है।

बृहद् वयो बृहते तुभ्यमग्ने धियाजुरो मिथुनासः सचन्त ।।

ऋग्वेद सं० ५ । ४३ । १५ ।।

जिस प्रकार यज्ञवेदी के दो ग्रोर दो दो स्त्री पुरुष ग्रर्थात् चार मनुष्य मिल के यज्ञ करते हैं, इस प्रकार हे वृहस्पते ! चार पारिपार्श्विक ग्रहों से सुशोभित हो रहे हो ।

वृहस्पति का नाम ग्राङ्गिरस क्यों है, सो इस मन्त्र सिद्ध होता है:—

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ।।

ऋग्वेद सं० १ । १२७ । २ ।।

इस मन्त्र के भाष्य में सायण ने निरुक्त ग्रौर ऐ० ब्रा० का प्रमाण दिया है—

ग्रङ्गाराणां मध्ये ज्येष्ठं ज्वालायुक्तत्वात् ।
ग्राङ्गिरा ग्रङ्गारा इति यास्कः ।। नि० ३ । १७ ।।
ये ग्रङ्गारा ग्रासंस्तेङ्गिरसो भवन् । ऐ० ब्रा० ३ । ३४ ।।

ग्रर्थात्—बृहस्पति ग्रह सब ग्रहों से बड़ा होने ग्रौर प्रकाशयुक्त होने से ग्राङ्गिरस नामक है।

शनैश्चर

इस ग्रह की संस्था वृहस्पति के ग्रनन्तर है, यह सूर्य से ग्रत्यन्त दूर एवं बड़ा है। प्रायः ९०८७२३००० माइल दूरी पर ग्रवस्थित है। यह २९ वत्सर १६६ दिन २३ होरा १६ मिनट ३२ सेकेण्ड में सूर्य की एक बार परिक्रमा कर लेता है। ग्रत्यन्त दूर होने के कारण इस की किरणें पृथिवी पर ग्रतिम्लान भाव से प्रकाशित होती हैं। इसी से इस की ग्राकृति स्थूल दृष्टि से नक्षत्रों की नाईं छोटी जान पड़ती है परन्तु वास्तविक दूरवीन द्वारा जाना गया है कि इस में इतनी उष्णता है जो ग्रहों से इस की उष्णता की उपमा नहीं हो सकती प्रत्युत द्वितीय सूर्य ही है ग्रर्थात् सूर्य ही से इसकी उपमा हो सकती है। सूर्यसदृश उष्ण होने से इस का नाम "सूर्य का पुत्र" संस्कृत ग्रन्थों में लिखा है एवं ग्रत्यन्त मन्द गति होने से "शनैश्चर" (शनैः=धीरे धीरे+चर=चलने वाला) इस की ग्राकृति विलक्षण भाव से दृष्टिगोचर हुई है

अर्थात् तीन चक्र वा अङ्गुरीय के बीच में स्थित है। इन चक्रों में दो उज्ज्वल और एक दीप्तिहीन है, एवं चक्रत्रय शनि से बहुत अवस्थित और परस्पर संलग्न नहीं हैं। इन तीन अङ्गुरीय के वाहर आठ उपग्रह हैं जो इस का नित्य परिभ्रमण करते हैं। जैसे हमारी पृथिवी को रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशित करता है इसी प्रकार शनि आठ चन्द्र द्वारा रात्रि में आलोकित होता है। शनैश्चर का रङ्ग नीला, पीला, पाण्डुर, तांवे का रङ्ग--अनेक प्रकार के रङ्ग प्रतीत होते हैं। अब हम ठीक इसी प्रकार लक्षणयुक्त पर्यटन का प्रमाण वेद में दिखाते हैं—

आ घर्णसिर्बृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः।
ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः॥
(ऋ० सं० ५।४३।१३)

अर्थात्—यह सूर्य की नाईं प्रकाशमान वहुत ऊपर तीन रङ्ग के बड़े बड़े चिह्नों से वर्णित और अत्यन्त ज्वालायुक्त है।

सञ्जर्भुराणस्तरुभिः सुतेगृभं वयाकिनं चित्तगर्भासु सुस्वरुः।
धारवाकेष्वृजुगाथ शोभसे वर्धस्व पत्नीरभि जीवो अध्वरे॥
(ऋ० सं० ५।४४।५)

अर्थात्—हे मन्दगामिन्! अनेक छोटे छोटे ग्रहों (उपग्रहों) के वीच अवस्थित अर्थात् शनिग्रह! तुम छोटे काय वाले ग्रहों के वीच में कैसे शोभते हो, जिस प्रकार ताराओं में चन्द्रमा। इस से शनि के उपग्रह सिद्ध होते हैं।

ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।
(ऋ० ५।४४।८)

हे सौरे! जिस प्रकार सप्तर्षि तारे हैं, ऐसे तुम जान पड़ते हो, परन्तु बड़े तेजस्वी हो और तुम्हारे अधिकांश गुण सूर्य की नाईं हैं अर्थात् प्रकाश, उष्णता, गति और रोहिणी नक्षत्र का शकटभेद (देखो सूर्यसिद्धान्त अ० ८) प्रायः शनि, मङ्गल और चन्द्रमा करते हैं अर्थात् रोहिणी नक्षत्र का आकार गाड़ी की नाईं है, जो इन शनि आदि के भ्रमण मार्ग में पड़ने से हम लोगों को मेघ की नाईं आच्छादित हो जाने से छिन्न भिन्न दृष्टिगोचर होता है। इस शकटभेद को फलित ज्योतिषी लोग अशुभ मानते हैं। यह शकटभेद वहुत कम होता है। गणित द्वारा जाना गया है कि आज से ५००० वर्ष पूर्व रोहिणो का शकटभेद शनि ने किया था।

वस्तुतः इस से कुछ शुभाशुभ फल हम लोगों को नहीं होता, न किसी सद्ग्रन्थ में इस का उल्लेख है, परन्तु पौराणिक भाइयों को फिर मौका मिला, घर के पद्मपुराणान्तर्गत काशीखण्ड में लिख मारा कि श्री महाराज दशरथ जो के समय में

शनि ने रोहिणी का शकटभेद किया था, जिस से उन के राज्य में १२ वर्ष तक अनावृष्टि हुई तो श्री दशरथ जी ने आकाशमण्डल में जाकर शनि से युद्ध किया तो शनि ने पराजित होकर राजा को वर दिया कि तुम्हारे राज्य में अब मैं पीड़ा न दूंगा। बस इसी मिथ्या कथा को लेकर पौराणिक जी ने शनि की स्तुति रच ली !!! क्या आश्चर्य की बात है ? कि वेदादि सद्ग्रन्थों में सूर्यादि आकाशस्थ पदार्थों को तो जड़ माना है, परन्तु महाराज दशरथ जी ने उन से लड़ाई की !!!

प्रजापति (यूरेनस)

इस ग्रह का वर्णन वेद छोड़ कर किसी ज्योतिष के सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। इस की संस्था शनि के बाद है। सन् १७८१ में हर्षल साहब ने गगनमण्डल को देखकर इस का निश्चय किया था। इस ग्रह की सूर्य से प्रायः १८२२०००००० माइल दूरता है एवं इसका व्यासपरिमाण प्रायः ३४५०० माइल है। हमारे ८४ वर्ष ५ दिन १६ होरा ४१ मिनट ३६ सेकेण्ड में इसका १ वर्ष वा सूर्य का परिभ्रमण होता है। इस का रङ्ग शुभ्र और कुछ नीला सा है और इस के ८ उपग्रह हैं। जिस प्रकार हमारे प्राचीन ग्रन्थों में ग्रहों की आकृति आदि के अनुसार उनके नाम हैं उसी का अनुकरण ग्रीक और रोमन लोग भी करते हैं। उन में भी वृहस्पति को "जुपिटर" (द्युपितर) और शनि का "सटर्न" देव नाम रखा है। वे लोग शनि को वृहस्पति से वड़ा आकार वाला समझ कर वृहस्पति का पिता शनि को मानते हैं और वृहस्पति का पितामह (दादा) यूरेनस को मानते हैं। इसी प्रकार यद्यपि हमारे आधुनिक ज्योतिष-ग्रन्थों में इस ग्रह का उल्लेख नहीं पाया जाता, परन्तु उक्त लक्षणों के मिलाने से हमारे वेद में प्रजापति नामक ग्रह से अधिक सादृश्य होता है। इस के अनेक उल्लेख वेद की संहिताओं में पाये जाते हैं, परन्तु मेरे पास सायणभाष्य न होने के कारण मन्त्रों का प्रमाण नहीं दे सका। सूर्यसिद्धान्तादि प्रचरित ज्योतिष के पुस्तकों में इस का कुछ भी वर्णन नहीं है।

वरुण (नेप्चुन)

प्रजापति (युरेनस) के अनन्तर वरुण की कक्षा है। इस का भी वर्णन ज्योतिष के सूर्यसिद्धान्त और आर्यभट्टीयादि ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। परन्तु आधुनिक आविष्कृत लक्षणों के मिलाने से वेद में इस ग्रह का वर्णन पाया जाता है। जिस के अनेक प्रमाण दिये जाते हैं, परन्तु प्रथम इस का वर्णन जैसा कि अङ्गरेजी ग्रन्थों में लिखा है, लिख कर पुनः वैदिक प्रमाणों से तुलना की जावेगी। पेरिसनगर निवासी ज्योतिर्विद् "लावेरियर" प्रभृति कतिपय व्यक्ति इस प्रकार विचार कर कि युरेनस ग्रह के अनन्तर अवश्य ही कोई दूसरा ग्रह है, एवं उस अज्ञात ग्रह के आक-

र्षण द्वारा युरेनस की कक्षा इस प्रकार विचलित होती है, इत्यादि प्रकार अनुभव करने लगे, एवं कुछ काल के पीछे निश्चय किया, परन्तु उन के पास दूरवीक्षण यन्त्र नहीं था। इस कारण वे इस के स्थान को प्रकट नहीं कर सके। बर्लिन नगर के ज्योतिर्विद् डाक्टर गालसाहब को स्वीय ग्रहगणना विवरण सम्बलित इस प्रकार एक पत्र लिखा कि वास्तविक यदि किसी अज्ञात ग्रह की आकर्षण शक्ति से युरेनस ग्रह की कक्षा विचलित होती है तो यह ग्रह इस समय गगनमण्डल में अमुक स्थान में अवश्य रहेगा। आप इस स्थान को अनुसन्धान कर अवश्य देखेंगे।

उक्त डाक्टर ता० २३ सेप्टेम्बर सन् १८४६ ई० को पत्र पाकर उसी रात्रि में आकाशमण्डल में उल्लिखित उत्कृष्ट दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा निरीक्षण करने लगे और उसी रात्रि में इस अनाविष्कृत ग्रह को उसी स्थान में पाया जहां उक्त साहब ने पत्र में लिखा था। अब हम उसी नियम के अनुसार जो व्यास एवं दूरी आदि का निश्चय हुआ है, लिखते हैं:—

सूर्य से इसकी दूरी २८५००००००० माइल है, एवं हमारे वर्ष परिमाण से प्रायः १६४ वर्ष २२६ दिन में यह सूर्य का एक बार परिभ्रमण कर लेता है। अब तक इस के दो उपग्रह जाने गये हैं। इस का व्यास ३६१८३ माइल है। हमारी पृथिवी पर जितनी सूर्य की किरणों की उष्णता होती है, उस के १००० वां भाग गर्मी इस ग्रह में पहुंचती है। इसी से "जल की देवता" अङ्गरेजों ने इसका नाम अन्वर्थ ही रखा है। अब वैदिक प्रमाण दिये जाते हैं:—

ऋग्वेदादि संहिताओं में इस ग्रह का वर्णन पाया जाता है, परन्तु मेरे पास सायणभाष्य न होने से मन्त्रों का प्रमाण नहीं दे सका और प्रचरित सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में इसका कुछ भी वर्णन नहीं है।

——

उत्तर खण्ड

पाश्चात्य पण्डितों एवं एतद्देशीय नवशिक्षित लोगों का ऐसा निश्चय है कि भारतवर्षीय ज्योतिषग्रन्थों में इस खण्ड के नक्षत्रों का उल्लेख नहीं है और न इस देश के पूर्वज लोग जानते थे इत्यादि। यह कहना उन का एक मात्र अविश्वसनीय है। हम प्रमाण के साथ सिद्ध करते हैं कि जब वेदों में सब खण्डों के नक्षत्रादिकों का उल्लेख है तो अवश्य वेद की शाखा एवं आर्ष (ज्योतिष) ग्रन्थों में होगा:—

विश्वकर्मा सप्तऋषिभिरुदीच्यादिशः पातु। अथर्व० २।१७।७।।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद्दिवेयुः।। ऋ० सं० १।२४।१०।।

सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते।। श० ब्रा० २।१।२।४।।

अथर्ववेद की ऋचा में स्पष्टतया सप्तर्षि तारा की संस्था उत्तर दिशा में लिखी है और ऋग्वेद की ऋचा में "ऋक्ष" शब्द से सप्तर्षि का उपदेश है। अर्थात् ये जो रात्रि में बड़े बड़े नक्षत्र उत्तर ओर हैं। इस समय (दिन में) कहां हैं। शतपथ ब्राह्मण में "ऋक्ष" शब्द से और सामान्यतः सब नक्षत्र सप्तर्षि तारा अर्थ लेने के लिये पुष्ट प्रमाण है। यों ऋक्ष का अर्थ भालु है और अङ्गरेजी में भी सप्तर्षि तारों को 'ग्रेट वीअर' अर्थात् बड़ा भालुक लिखा है, जो उत्तर दिशा में हैं।

विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः ॥

अथर्व० सं० १३।३।५॥

अर्थात् 'हंस' नामक नक्षत्र, (विराट्) ब्रह्महृदय, (परमेष्ठी) प्रजापति, अग्नि ये चारों नक्षत्र राशिचक्र (वैश्वानर) की पंक्ति से उत्तर में हैं। अङ्गरेजों ने भी दूरवीन द्वारा देखकर ठीक ऐसा ही लिखा है।

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनुव्यचलत् ।
तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलत् ।

अथर्व० १५।२।२५,२६॥

उत्तर दिशा में जाकर ध्रुव नामक नक्षत्र (श्यैत) और ध्रुवपत्स्य (नौधस्) एवं सप्तर्षि नक्षत्रों को देखे। इन्हीं दो नक्षत्रपुञ्जों को (जिन में सात सात नक्षत्र हैं) अङ्गरेजी में पोल स्टार Pole Stars कहते हैं।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ॥ अथर्व० सं० ११।६।११॥
आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ॥अथर्व० १२।३।४॥
आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ॥अथर्व० १२।३।४॥

अर्थात्—आपनामक नक्षत्र एवं प्रजापति और अपांवत्स नामक नक्षत्र राशिचक्र के पास हैं।

इस खण्ड में सप्तर्षि नक्षत्रों के पास एक अरुन्धती नामक नक्षत्रपुञ्ज है जिस को अंग्रेजों ने 'केउशिपिआ राजमहिषी' नामक नक्षत्र लिखा है। सप्तर्षि नक्षत्रों के नाम अत्रि १, अङ्गिरा २, वसिष्ठ ३, मरीचि ४, पुलह ५, पुलस्त्य ६ और ऋतु ७ हैं। ये नाम वेद में नहीं। इन नामों से नक्षत्रों का दूसरा प्रयोजन नहीं। ये केवल उन ऋषियों द्वारा वेदोत्तरकालीन समय में जाने गये हैं और दूसरा प्रकार यह भी है कि जैसे महर्षिगण अपने अपने उत्तम कर्म द्वारा मोक्षपद का लाभ कर अचल सुख में निमग्न हुवे, इसी प्रकार ये (अतितेजस्वी) एवं स्थिर विराजते हैं।

ध्रुवमरुन्धतीं सप्तर्षीनिति दृष्ट्वा वाचं विसृजेत ॥

आश्वलायन गृह्य सू० १।७।२२॥

अर्थात् ध्रुव, अरुन्धती, सप्तर्षिनक्षत्रगण इन को देख कर बोले। आशय यह

है कि जिस प्रकार ये नक्षत्र उज्ज्वल एवं अचल हैं, इसी प्रकार जो बात कहे वह दृढ़, अविचल एवं उत्तम हो।

सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युध्येयुरचला इव ॥१६॥

महाभारत शां० रा० ध० अ० १००॥

अर्थात् जिस प्रकार सप्तर्षि नक्षत्र अचल (अगतिवाले) हैं इस प्रकार अपने को अजर अमर वीर समझ कर युद्ध किया।

इस खण्ड में भी असंख्य नक्षत्र हैं जिन का उल्लेख वेदों में प्रायः कई स्थानों में है। विस्तारभय से यहां नहीं लिखते।

गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः

षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ अथर्व० ११।५।२ ॥

३३ गन्धर्व अर्थात् राशिचक्रान्तर्गत नक्षत्रपुञ्ज मध्य खण्ड में एवं उत्तर खण्ड में ६३०० नक्षत्र हैं। जिस प्रकार बड़े तपस्वीगण अपने पुण्य कर्म द्वारा दिव्य लोक मोक्ष सुख को पाते हैं, इस प्रकार प्रकाशित हैं। नक्षत्रों को गन्धर्व संज्ञा है। इस का प्रमाण—

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः ॥ यजु० अ० ९।७॥

अर्थात्—२७ नक्षत्रों की गन्धर्व संज्ञा है।

———

दक्षिण खण्ड

इस खण्ड में अंग्रेजों ने बहुत सी ताराओं की गति आदि जानकर निश्चय किया है और वे लोग तथा भारतवर्षीय नवशिक्षित आर्ष ग्रन्थों से अनभिज्ञ लोग कहते हैं कि आर्यावर्त्त के ज्योतिष-ग्रन्थों में मध्य खण्ड को छोड़ कर उत्तर, दक्षिण खण्ड के नक्षत्रों के विषय में कुछ उल्लेख नहीं है और उनके पूर्वज लोग नहीं जानते थे इत्यादि। यह कहना उनका कदापि मानने योग्य नहीं। यद्यपि हमारे सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में इस खण्ड के नक्षत्रों का उल्लेख नहीं पाया जाता, परन्तु वेद, ब्राह्मण, वाल्मीकीय आदि आर्षग्रन्थों में इस का उल्लेख है। हमें जितने नक्षत्रों का पता लगा है, उन को लिखते हैं:—ययातिनक्षत्रपुञ्ज, मिरा नक्षत्रपुञ्ज और नौकापुञ्ज, ये रूपविकारी (पूर्वोक्त) हैं और वृषपर्वा, शर्मिष्ठा और देवयानी ये तीन नक्षत्रपुञ्ज नव्यतारा हैं और सारथि नामक पुञ्ज भी। एवं त्रिशङ्कुनामक नक्षत्रपुञ्ज, मिथुन-माला तारा है। आकाशगङ्गा, यमुना, अगस्त्य, यम, दिव्यश्वान, कालकञ्ज, व्याध, उच्चैःश्रवा और दक्षिणर्क्ष ये नक्षत्र सब राशिचक्र के दक्षिण में हैं।

१. शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥
२. ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ॥ (अथर्व० सं० ६।८०।१,२)
३. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ॥
(ऋ० सं० १०।१४।११)
४. दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥
(ऋ० सं० १०।६३।१०)

५. हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्यं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ अ० सं० ५।४।४॥

अर्थात्—राशिचक्र के दक्षिण खण्ड की यमलोक संज्ञा है, क्योंकि वहां एक यम नामक नक्षत्र है। इस नक्षत्र के पास दो कुत्ते की आकृति वाले दो नक्षत्र हैं, जिन को यम के पास होने से "यमदूत" (सरमा, देवशुनी) कहते हैं। दृश्य खगोल के दक्षिण खण्ड के अन्तिम भाग में जिस प्रकार उत्तर ध्रुव के पास सप्तर्षि आदि नक्षत्र हैं, उसी प्रकार त्रिशङ्कु (त्रयः कालकाञ्जाः) नक्षत्रपुञ्ज हैं ॥२॥ दो "दिव्यश्वान" नामक नक्षत्रपुञ्ज दक्षिणपथ में हैं ॥ ३ ॥ एवं "नौकापुञ्ज" नामक नक्षत्र है जिस को अंग्रेजी में नेवीस (Naivis) कहते हैं। अंग्रेजों ने उक्त "नौकापुञ्ज" को पुष्य नक्षत्र के पास देखा है। वेद में भी "पुष्यं देवाः" से पुष्य नक्षत्र से सम्बन्ध दिखलाया है (अर्थात् 'पुष्य' के पास हैं) ॥ ५ ॥ जो अंग्रेजी में कैनीस मेजर (Canis major) नक्षत्र है वह हमारे यहां व्याध नक्षत्र है (देखो सूर्यसिद्धान्त अ० ८) और अंग्रेजी में जिस को कैनीस माइनर (Canis minor) लिखा है वही हमारे दोनों "दिव्य श्वान" हैं। अगस्त्य नक्षत्र का वर्णन सूर्यसिद्धान्त अ० ८ में किया गया है, वहीं देखो। अब त्रिशङ्कु नक्षत्र के विषय में वाल्मीकीय रामायण में रूपकालङ्कार से लिखा है, उसको हम यहां लिखते हैं:—

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः ।
नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्छितः ॥ २१ ॥
दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥
अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः ।
दैवतान्यपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥
ततः परमसंभ्रान्ताः सर्षिसंघाः सुरासुराः ।
विन्ध्यामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥
अयं राजा महाभाग ! गुरुशापपरिक्षतः ।
सशरीरो दिवं यातु नार्हत्येव तपोधन ! ॥ २५ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः ।
अब्रवीत् सुमहद्वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥ २६ ॥
सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः ।
आरोहणं प्रतिज्ञातं नानृतं कर्त्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥
स्वर्गोस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य शाश्वतः ।
नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥
यावल्लोकाः परिष्यन्ति तिष्ठन्त्येतानि सर्वशः ।
मत्कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥
एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम् ।
एवं भवतु भद्रन्ते तिष्ठन्त्येतानि सर्वशः ॥ ३० ॥
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद् बहिः ।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ! तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥ ३१ ॥
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः ।
अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥

बालकाण्डे ६० सर्गः ॥

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ॥ ३४ ॥

(महाभारत आदिपर्व अ० ७१)

ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम् ॥ (वाल्मीकीय यु० स० ४।४८)
त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः सपुरोहितः ।
पितामहः पुरोस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥

वाल्मी० रा० यु० का० ४।४९ ॥

भावार्थः—राजा त्रिशङ्कु के ऊपर विश्वामित्र की कृपा एवं विश्वामित्र के राजर्षित्व के साथ वसिष्ठ ऋषि के ब्रह्मर्षित्व की तुलना दिखलाने के लिये त्रेता-युगीय वाल्मीकीय रामायण के कर्त्ता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने आकाश के दक्षिणखण्ड के नक्षत्रों का आलङ्कारिक रीति पर वर्णन किया है।

राशिचक्र के उत्तरीय ध्रुव के पास सात विशेष तेज वाले नक्षत्र हैं जिन को सप्तर्षि कहते हैं। उन सात नक्षत्रों में एक वसिष्ठ नामक नक्षत्र है। इसी प्रकार राशिचक्र के दक्षिण भाग में दक्षिणीय ध्रुव के पास सात नक्षत्र हैं, उन्हें भी सप्तर्षि नक्षत्र कहते हैं, एवं इन्हीं के पास त्रिशङ्कुनामक नक्षत्र, दक्षिणर्क्ष और अगस्त्य

आदि हैं। ये सब नक्षत्र अनादि काल से हैं। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, एवं अन्यान्य नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि हैं।

विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर दक्षिणभागस्थ सप्तर्षिनामक नक्षत्र, एवं अन्यान्य नक्षत्र की रचना करते हुए कहा कि मैं "दूसरा इन्द्र" (त्रिशङ्कु) रचूंगा या इन्द्र को ही लोक से निकाल डालूंगा, इस प्रकार नक्षत्रों की रचना करते देख महर्षिगण और देवलोक विश्वामित्र के पास आकर बोले कि हे तपोधन! यह राजा (त्रिशङ्कु) गुरु (वसिष्ठ) के शाप से पापी हो रहा है। इस लिये शरीर सहित स्वर्ग को जाने योग्य नहीं है।

इन की बात सुन विश्वामित्र बोले कि "त्रिशङ्कु शरीर सहित स्वर्ग को जावे" इत्यादि प्रकार मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूं, यह मिथ्या नहीं हो सकती। इस लिये सशरीर त्रिशङ्कु राजा के वास्ते शाश्वत स्वर्ग हो और ध्रुव नक्षत्र एवं अन्यान्य नक्षत्र जब तक सृष्टि वर्तमान रहे, राजा के साथ रहें। इस प्रकार देवताओं ने उनकी बातें सुन कर कहा कि ऐसा ही हो। सो आकाश में वैश्वानर पथ (अनादि राशिचक्र) के बाहर दक्षिणस्थ सब नक्षत्र बड़े प्रकाश वालों के बीच नीचे की ओर शिर किये त्रिशङ्कु देवताओं की नाईं ठहरे, उस के साथ अन्यान्य सब नक्षत्र भी जावें।

इसी प्रकार महाभारत के श्लोक का भी आशय है और श्री रामचन्द्र जी ने युद्धकाण्ड में कहा कि देखो किस प्रकार त्रिशङ्कु नक्षत्र प्रकाशित हो रहा है। एवं सप्तर्षि और ब्रह्मराशि (अभिजित्) नक्षत्र ध्रुव नक्षत्र के पास प्रकाशित हो रहे हैं।

उत्तर गोलार्ध की "देवलोक" या "देवयान" (पथ) और दक्षिण गोलार्ध की पितृलोक या "यमलोक" वा "पितृयान" संज्ञा है। इस का प्रमाण—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः⋯। स (सूर्यः) यत्रोदगावर्त्तते। देवेषु तर्हि भवति⋯यत्र दक्षिणो वर्त्तते पितृषु तर्हि भवति॥ शतपथ ब्रा० २।१।३॥

अर्थात्—जब सूर्य उत्तरायण में होता है, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ऋतुओं में तो देवभाग में दिन एवं शरद्, हेमन्त, शिशिर ऋतुओं में जब सूर्य दक्षिणायन होता है तब पितृलोकस्थ (दक्षिण गोलाई) के प्राणियों का दिन होता है।

इस प्रमाण से सिद्ध हुआ कि उत्तर गोलार्ध देवलोक एवं दक्षिण गोलार्ध पितृलोक है। अब हम नक्षत्रों की संख्या कहां तक लिखें, अनेक स्थल में वेदों में उपलक्षण मात्र से कहीं लाख, कहीं सहस्र, कहीं कोटि पर्यन्त नक्षत्रों का वर्णन है। याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥१८४॥
तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिनः ।
सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः ॥१८७॥ प्रायश्चित्ताऽध्याय

रूपकालङ्कार से आकाश में नक्षत्रों को घर, एव् अल्पपुञ्ज वाले समुदाय को ग्राम, इसी प्रकार नगर, एवं नगर के अन्तर्गत वीथी (मुहल्ला, वा पंक्ति) का वर्णन वेद एवं अन्यान्य शास्त्रों में किया है। उत्तर गोलार्ध में "नाग" के आकार की वीथी है जहां सप्तर्षि नक्षत्र हैं एव अगस्त्य नक्षत्र के पास दक्षिणगोलार्ध में "अज" वकरी की नाईं वीथी (नक्षत्रपुञ्ज) हैं। इस दक्षिणखण्ड में प्राय: ८८००० मुनितुल्य स्थिर नक्षत्र हैं—एवं अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्म करने वाले इन्हीं दो मार्गों से अर्थात् देवयान और पितृयान से जाते हैं—देखो उपनिषद्। वस्तुतः पुराणों में जो ८८००० मुनियों की कथा है, वह इन्हीं नक्षत्रों को लेकर कल्पना कर ली गई है।

शर्मिष्ठा, देवयानी आदि नक्षत्रपुञ्ज जिन का प्रमाण संस्कृत-ग्रन्थों का नहीं दिया गया है, उनका उल्लेख वराहमिहिरकृत ग्रन्थ वृहत्संहिता में है। विस्तारभय से यहां नहीं लिखा गया।

अगस्त्य नामक नक्षत्र का उदय प्राय: वर्षा ऋतु की समाप्ति और शरद् ऋतु के आरम्भ में होता है। और इस के पास हो इस से न्यून दीप्तिवाला "लोपामुद्रा" नामक नक्षत्र है। ये दोनों राशिचक्र के दक्षिण दिशा में हैं। इस का वर्णन वेद में भी पाया जाता है। जैसेः—

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः ॥१॥
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥४॥
(ऋ० सं० १।१७९)

अर्थः—इस मन्त्र से ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जिस प्रकार लोपामुद्रा नामक नक्षत्र अगस्त्य नामक नक्षत्र के पास अनेक शरद् ऋतु दिन रात से स्त्री पुरुष की नाईं विराजती है, इसी प्रकार तुम अपनी स्त्री के साथ अटल प्रीति करो।

"प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः" ॥ कालिदास ॥

अर्थः—घड़े की नाईं आकारवाले अगस्त्य नामक बड़े प्रकाशमान नक्षत्र के उदय होते ही जल चला जाता है। आशय यह है कि जिस कारण अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से वर्षा की समाप्ति होती है उसी से लोगों में इस की कहावत प्रसिद्ध है कि "अगस्त्य" ऋषि ने अंगूठे में समुद्र को रख कर सोख लिया" इत्यादि"।

राशिचक्र

सूर्य को ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में पृथ्वी के उत्तरांश में और पोष मास में दक्षिणांश में जाते देखते हैं, उसको देख कर ऐसा समझना उचित नहीं कि सूर्य्य एक बार उत्तर और एक बार दक्षिण इस प्रकार जाया आया करता है। वस्तुतः पृथ्वी के अनुरोध से जिस समय उस का उत्तर मेरु सन्निहित प्रदेश सूर्य के सामने होता है इस समय को हम लोग "उत्तरायण" कहते हैं। अनन्तर जब पृथ्वी का दक्षिणमेरु सन्निहित प्रदेश सूर्य के सामने होता है, तब सूर्य को पृथ्वी के कुछ दक्षिण ओर जाते देखते हैं। उस समय को सब लोग दक्षिणायन कहते हैं। प्रतिवर्ष सूर्य को इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन जाते देखते हैं—इस सीमा को चिह्नित करने के लिये विद्वानों ने भूपृष्ठ के ऊपर के भाग में दो रेखा कल्पना की हैं—उसकी उत्तर रेखा का नाम उत्तरक्रान्ति वा 'अयनान्तवृत्त', दक्षिणरेखा का नाम दक्षिण-क्रान्ति वा दक्षिण अयनान्तवृत्त है। ये दोनों क्रान्तिरेखा विषुवरेखा से उत्तर दक्षिण की ओर २३.° २८' अन्तर में हैं (संस्कृत के ग्रन्थों में २४.° लिखा है, बहुत दिन होने से इतना अन्तर है)। इन्हीं दो रेखाओं के बीच में पृथ्वी के मार्ग का जो अंश पड़ता है—मेषादि १२ राशि उसके अन्तर्गत होती हैं, इसी कारण गगनमण्डल के इस अंश को 'राशिचक्र' कहते हैं।

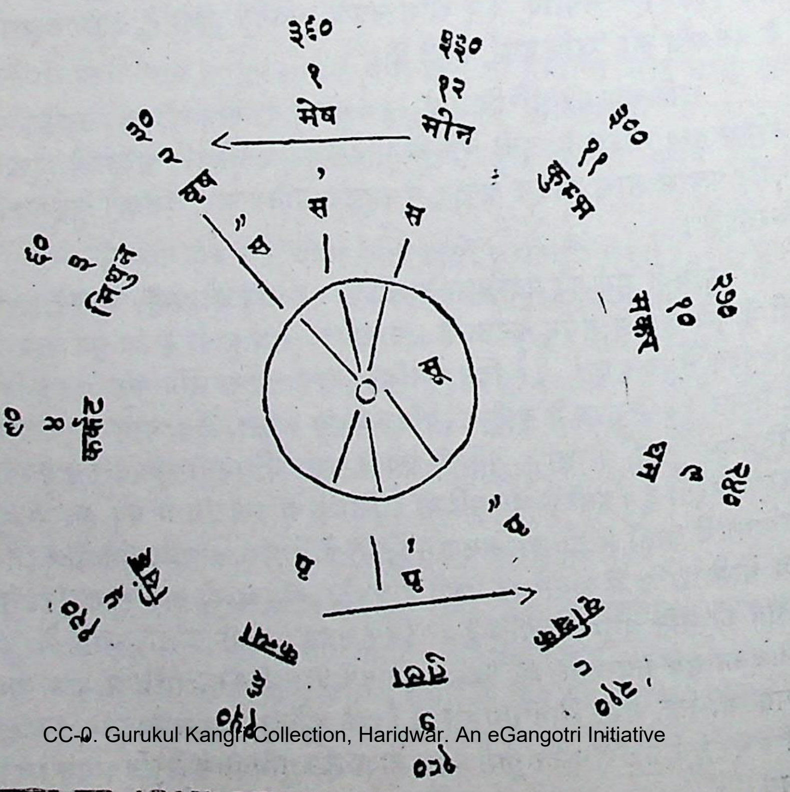
राशिचक्र की परिधि प्रायः ६८८ अर्बुद माइल, एवं उसका व्यास प्रायः उन्नीस वृन्द माइल है, इसी चक्र के भीतर सूर्य अवस्थिति करता है। पृथ्वी सूर्य से नौ कोटि पचास लाख माइल अन्तर में रहकर प्रतिवत्सर एकबार सूर्य को प्रदक्षिणा करती है।

पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, पर बोध होता है कि सूर्य ही १२ राशियों में क्रम क्रम से गमन करता है। आपाततः बोध होता है कि सूर्य प्रत्येक राशि को २८ दिन से न्यून एवं ३१ दिन अनधिक काल पर्यन्त भोग कर ३६५ दिन ६ होरा ९ मिनट १० सेकण्ड में वार्षिक गति समाप्त करता है। वस्तुतः सूर्य पृथिवी का परिभ्रमण नहीं करता। पृथिवी अपनी कक्षा में घूमती घूमती उस के चारों ओर भ्रमण करती है। इसी से जब पृथिवी राशिचक्र के उत्तरांश में मेष, वृष, मिथुन प्रभृति राशियों में जाती है तो उस समय सूर्य को राशिचक्र के दक्षिणांश में तुला, वृश्चिक, धन आदि राशि में अवस्थित देखते हैं अर्थात् पृथिवी की गति ठीक विपरीत दिशा में सूर्य की गति अनुमान होती है। जिस समय पृथिवी कन्या राशि में रहती है, उस समय सूर्य मेष राशि में, जिस समय पृथिवी वृश्चिक राशि में, उस समय सूर्य वृष राशि में है, ऐसा लोग समझते हैं। इसी कारण जिस समय पृथिवी दक्षिण अयन उस समय सूर्य उत्तर अयन हुआ बोध होता है। पृथिवी के उत्तर अयन अर्थात् पृथ्वी

के मेष राशि में प्रवेश करने पर सूर्य तुला राशिस्थ जान पड़ता है। मेष राशि के परे पृथ्वी जब वृष राशि में आती है, तब सूर्य वृश्चिक राशि में, एवं पृथ्वी जब मिथुन राशि में आती है तब सूर्य धन राशि में उपस्थित होता दीखता है। एतद्देशीय आधुनिक ज्योतिष में यह बात स्पष्ट नहीं, उस में केवल इतना ही लिखा है कि जिस राशि में जिस ग्रह का उदय होता है उसके सप्तमराशि में उसका अस्त होता है। अर्थात् पृथ्वी जिस राशि में रहती है, उस से सप्तम राशि में सूर्य अवस्थित दीखता है।

सूर्य का इस प्रकार विपरीत दिशा में जाते दीखने का कारण यह है कि चल पदार्थ में अवस्थित होकर अचल वस्तु को देखने पर जिस प्रकार अपनी गति अनुभूत नहीं होती, एवं स्थिर पदार्थ ही की गति का भ्रम होता है, इसी प्रकार पृथिवी राशिचक्र में घूमती है, परन्तु हम लोगों को अनुभव होता है कि सूर्य पर्यायक्रम से एक एक राशि भोग करता है।

राशिचक्र ज्ञापक चित्र



उपर्युक्त चित्र में सू० सूर्य, पृ पृ पृ पृथिवी का कक्षा प्रदेश। पृथिवी से कोई दर्शक सूर्य का पृथिवी के गमनपथ के विपरीत दिशा में दर्शन करे तो पृथिवी जिस प्रकार पृ स्थान से पृ और पृ की ओर आवेगी तो बोध होगा कि सू सूर्य स स्थान से स और स स्थल में आता है। इस प्रकार राशिचक्र के जिस स्थान में पृथिवी घूम आवेगी उस अंश से सूर्य राशिचक्र के सप्तम अंश में आता सा जान पड़ेगा। नक्षत्र-गण के बीच होकर जो बड़े वृत्ताकार पथ में सूर्य की सांवत्सरिक गति सम्पादित होती है, अनुभव होता है, उस को रविमार्ग कहते हैं। वस्तुतः यही पृथिवी का वार्षिक भ्रमणमार्ग है, जिस को पृथिवी की कक्षा कहते हैं।

यह वृत्त निरक्ष वृत्त को वक्रभाव से छेद करता है। एक छेद कोण २३° २८' परिमित है।

रविमार्ग और राशिचक्र १२ समानभाग में विभक्त हैं। इस प्रत्येक भाग को राशि कहते हैं। प्रत्येक राशि ३०° आयत। सूर्य प्रतिदिन राशिचक्र के प्रायः एक एक अंश करके गमन करता है।

राशिचक्र

पहिले कहा जा चुका है कि आकाश के मध्यखण्ड में १२ राशि (पुञ्ज वा ढेर) और उसके भीतर लगभग १०१६ नक्षत्र हैं। इस मध्यखण्ड में जो सब नक्षत्र हैं वे अचल हैं। प्राचीन ज्योतिर्विद् पण्डितों ने इन नक्षत्रों की एक एक आकृति कल्पना कर १२ राशियों में विभक्त किया है। इसी को राशिचक्र कहते हैं। १२ राशियों के नाम ये हैं:— मेष (मेढ़ा सा आकार), वृष (बैल सा आकार), मियुन (स्त्री, पुरुष—जोड़ा), कर्कट (केकड़ा), सिंह (शेर), कन्या (कन्या की नाईं), तुला (तराजू), वृश्चिक (बिच्छू), धनु (बाण), मकर (घड़ियाल), कुम्भ (घड़े की नाईं), मीन (मछली की नाईं) हैं। इस को संस्था सब से ऊपर है अर्थात् इसी में सब ग्रहादिकों का भ्रमण होता है। वेदों में राशियों के नाम स्पष्टतया नहीं पाये जाते, परन्तु १२ विभाग और नक्षत्रों की आकृति का वर्णन है। एवं राशिचक्र को वेद में अचल लिखा है, परन्तु वेदोत्तरकालीन ज्योतिष के ग्रन्थों में आर्यभट्ट को छोड़ सबों ने राशिचक्र को चल और पृथिवी को अचल माना है। अब प्रथम राशिचक्र का नाम तथा इस का अचलत्व वेदादि सच्छास्त्रों से दिखला कर पुनः राशिचक्र में सूर्य द्वारा क्योंकर दिन रात होते हैं लिखेंगे:—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥
(अथर्व० ८।६।६)

अर्थात्— राशिचक्र (वैश्वानर) के ऊपर जो स्थान है उस से छः भाग सूर्य एक ओर दृश्य होता है, एवं छः भाग दूसरी ओर दृश्य होता है। जिस से एक छः भाग में एक बार दिन होता है (छः मास तक एवं दूसरे भाग में रात और दूसरे भाग में जब दिन तब पहले भाग में रात होती है)। वैश्वानर शब्द से जो राशिचक्र अर्थ ग्रहण हुआ उस का प्रमाणः—

गगने तान्यनेकानि "वैश्वानर"-पथाद् बहिः ।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ! तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥३१॥
(वाल्मीकीय रा० बा० सर्ग ६०)

इस पर राम नामक टीकाकार ने लिखा है कि "अनादिज्योतिष चक्र मार्ग से बाहर में नक्षत्र सब प्रकाशित हैं"। यह त्रिशङ्कु तारा के वर्णन में है, देखो त्रिशङ्कु-वर्णन।

विश्वेदेवा द्वादशारेण जगतीमुदजयंस्तामुज्जेषम् ॥ यजु० पू० अ० ९।३३ ॥

अर्थात्— जितने नक्षत्र ग्रह तारादि हैं सब ही राशिचक्र (द्वादशारेण) में अवस्थित होकर उदय और अस्त सम्पादन करते हैं।

भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्त्यावृत्य प्रातिदैवसिकौ
उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम् ॥
(पृथूदकस्वामिकृतार्यभट्टवचनम्)

आर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिषग्रन्थ का वचन है। अर्थात् राशिचक्र स्थिर हैं और इस में पृथिवी के भ्रमण के कारण गगन मण्डलस्थ नक्षत्रादिकों का दैनिक उदयास्त प्रतीत होता है। इस का विशेष प्रमाण पृथिवो के भ्रमण में देखो। अब इस राशिचक्र में २७ नक्षत्र हैं (सर्वसाधारण जानते हैं) परन्तु वेद में २८ नक्षत्र हैं, एवं इस समय अश्विनी नक्षत्र से आरम्भ होकर रेवती पर समाप्त करते हैं, परन्तु वेद में कृत्तिका से आरम्भ होकर रेवती पर समाप्त हुए हैं। प्रमाणः—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ॥१॥

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥२॥

पुण्यं पूर्वा फल्गन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु ।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥३॥

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आवहन्तु ।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥४॥

आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु ॥५॥
अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे ॥२॥
अथर्व० सं० १९। सू० ७,८॥

इन नक्षत्रों के नाम ही से इन के आकार का भी बोध होता है, सो महाकवि कालिदासकृत ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में नक्षत्रों के आकृतिविधायक श्लोक लिख कर तब इन मन्त्रों को अर्थात् इकट्ठा एक चक्र द्वारा लिखेंगेः—

तारका त्रयमिते शराकृतौ केशवे गगनमध्यवर्त्तिनि ।
मत्तवारणगतेऽजलग्नतो निर्ययुर्गजमहीध्रलिप्तिकाः ॥१॥

मस्तकोपरि समागते घने मर्दलाकृतिनि पञ्चतारके ।
यान्ति कान्तिमति मेषलग्नतः सारसाक्षि रसधात्रलिप्तिकाः ॥२॥

मण्डलाभशततारकाकुले मध्यभाजि नभसः प्रचेतसि ॥
वाणशैलधरणीमिताः कलाः शारदेन्दुमुखि तावुरेर्ययुः ॥३॥

भारमूर्त्तिभृतिकोपरिस्थिते पूर्वभाद्रपदभे द्वितारके ।
लिप्तिकाः करिकराक्षि सम्मिता निःसरन्ति वृषभोदयात् प्रिये ॥४॥

उत्तरे सुमुखि भारमूर्त्तिभृत्युत्तमाङ्गमिलिते द्वितारके ।
नीलचामरकचे नृयुग्मतो लोचनाचलकलाः पलायिताः ॥५॥

दन्तसंख्यभगणे झषाकृतावस्त्यभे लसदनन्तमध्यगे ।
कोमलाङ्गि जिमुमोदयात्तदा कालखानलकलाः प्रियेऽचलन् ॥६॥

तन्वि घोटकमुखाकृति त्रिते मस्तकोर्ध्व···भाजि वाजिनि ।
चारुचन्द्रमुखि कर्कटोदयान् निर्गता गगननन्दलिप्तिकाः ॥७॥

तारकात्रययुते त्रिकोणके मध्यगे दिविषदध्वनो यमे ।
पङ्कजाक्षि मिलिताः कुलीरतः शायकाक्षि भुज ··लिप्तिकाः ॥८॥

हव्यवाहनशिखाकृतौ स्थिते मस्तकोपरि षड्क्षकेऽनले ।
सिन्धुसिन्धुरमिताः कला गताः कुन्तदन्ति मृगनायकोदयात् ॥९॥

कम्बुकण्ठि शकटाकृतौ नभोमध्यमागतवति प्रजापतौ ।
पञ्चभे गजकुपक्षलिप्तिका निःसृताः सुमुखि सिंहलग्नतः ॥१०॥

मूषिकाशनपदाकृतौ विधौ व्योममध्यमिलिते त्रितारके ।
शारदेन्दुमुखि कन्यकोदयादीक्षणानलकलाः कलावति ॥११॥

उज्ज्वलैकशतपत्रसुन्दरे शूलिनि त्रिदशवर्त्ममध्यगे ।
निर्गताः खचरघस्रलिप्तिकाः पूर्णचन्द्रमुखि कन्यलग्नतः ।।१२।।

मध्यवर्त्तिनि शरासनाकृतिन्यम्बरस्य सुरमातृभे गताः ।
लिप्तिकाः सुमुखि पञ्चतारके पक्षपावकमिता घटोदयात् ।।१३।।

रासपीठकठिनीरजःप्रभे मध्यमृच्छति विहायसो गुरौ ।
तौलिनः पृषतसारलोचने लोचनाद्रिकुमिताःगताः कलाः ।।१४।।

मौलिगे भुजगभे श्वपुच्छवद्भङ्गुराकृतिनि पञ्चतारके ।
मारकेलिरसिके तुलोदयादत्ययुर्जलधियाक्षि लिप्तिकाः ।।१५।।

लाङ्गलाकृतिनि पञ्चतारके चारुकेशि पितृभे शिरोगते ।
नीलनीरजविनिद्रलोचने वृश्चिकाद्विगलितं कलाशतम् ।।१६।।

दक्षिणोत्तरगते द्वितारके योनिभे मिलति मस्तकोपरि ।
कीटतः स्फुटसरोरुहानने निःसृता गजरसाक्षि लिप्तिकाः ।।१७।।

अर्यमण्यमरवर्त्ममध्यगे सौम्ययाम्यमिलिते द्वितारके ।
चापतश्चपललोचनाञ्चले कालपावकमिताः कला गताः ।।१८।।

मस्तकोपरि कराकृतौ करे तिष्ठतीन्दुमुखि वाणतारके ।
लिप्तिकाः शरकुपक्षसंख्यकाः शायकासनविलग्नतो गताः ।।१९।।

एकमौक्तिकसमुज्ज्वलप्रभे त्वष्टरीन्दुवदने खमध्यगे ।
आदितो मृगविलग्नमादिशत्युल्लसन्मदनवाणलोचने ।।२०।।

कुङ्कुमारुणतरैकतारके वायुभे सुदति मध्यमागते ।
शायकाम्बरचराधराः कलाश्चञ्चलाक्षि वियुर्मृगोदयात् ।।२१।।

तोरणाकृतिनि पञ्चतारके तारकेशवदने विशाखभे ।
तन्वि यान्ति विबुधाध्वमध्यगे कुम्भतो रसभुजाः कलाः प्रिये ।।२२।।

पन्नगाकृतिनि सप्ततारके मित्रभे सुदति मध्यगे दिवि ।
वह्निबाहुपृथिवीमिताः कला निर्गता घटकुचे घटोदयात् ।।२३।।

तन्वि कोलरवदनाकृतौ त्रिभे वासवे वसति मस्तकोपरि ।
कालवाणवसुधा कलाश्च खञ्जनाक्षि कलशोदयाद्ययुः ।।२४।।

मौलिभाजि नवतारकाङ्किते मूलभे सुदति शङ्खमूर्त्तिनि ।
लिप्तिकाष्टकमरालकुन्तले निर्ज्जगाम पृथुलोमलग्नतः ।।२५।।

सूर्मर्मूर्त्तिनि शिरोगते चतुस्तारके करिकरोरुतोयभे ।
अन्त्यभादमृतवाणि निर्गताः खेचराम्बरशशाङ्कलिप्तिकाः ।।२६।।

शीर्षभाजि भचतुष्टयाङ्किते विश्वभे तरुणि सूर्पकाकृतौ ।
भ्रूतिरस्कृतमनोजकार्मुके यान्ति कालशरचन्द्रलिप्तिकाः ॥२७॥
(ज्योतिर्विदाभरणे)

रात्रिसमय जो नक्षत्र जिस समय ठीक माथे पर दीखेगा तदनुसार जिस राशि के जितने दण्ड पलादि बीतेंगे उन का भी ज्ञान इसी चक्र द्वारा होगा। ३६० अंशों का एक चक्र होता है और प्रत्येक राशि तीस तीस अंशों की एवं एक एक राशि में सवा दो दो नक्षत्र एवं प्रत्येक नक्षत्र १३.° २०′ में अवस्थित है।

वेदमन्त्रों में नक्षत्रों के नामों के साथ योगतारा का भी उल्लेख है, परन्तु प्रत्येक योगतारा की संख्या नहीं है, किन्तु कालिदास ने ताराओं की संख्या दी है। नक्षत्रभोग का प्रमाण वेद में—

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत्। अष्टा परः सहस्रा ॥
ऋ० सं० ८।२।४१॥

अर्थात् ४८००० विकला जिस में ६० से भाग करने पर ८०० कला होती हैं। देखो सूर्य सि० अ० १। ६४॥

———

पूर्वोक्त श्लोक और अथर्ववेदीय मन्त्रों का अर्थ चक्र द्वारा किया गया है।

राशिचक्र

संख्या	नक्षत्रों के नाम	योगतारा संख्या	क्षेत्र अंश	क्षेत्र कला	नक्षत्रों की आकृति	राशियों के नाम	क्षेत्र अंश	उदय लग्न का भुक्त दण्ड	उदय लग्न का भुक्त पल	जिस राशि के काल वीते हैं
१	अश्विनी	३	१३	२०	घोड़ा	मेष १	३०	१	३०	कर्कट
२	भरणी	३	१३	२०	त्रिकोण	,,		३	४५	,,
३	कृत्तिका	६	१३	२०	अग्निशिखा	वृष २	३०	१	२४	सिंह
४	रोहिणी	५	१३	२०	गाड़ी (शकट)			३	३८	,,
५	मृगशीर्ष	३	१३	२०	विडालपद	मिथुन ३	३०	०	३२	कन्या
६	आर्द्रा	१	१३	२०	उज्ज्वल			२	३९	,,
७	पुनर्वसु	५	१३	२०	धनुष्	कर्कट ४	३०	०	३२	तुला
८	पुष्य	१	१३	२०	माणिक्य वर्ण			२	५२	,,
९	आश्लेषा	५	१३	२०	कुत्ते की पुच्छ			३	२४	,,
१०	मघा	५	१३	२०	हल की नाईं	सिंह ५	३०	१	४०	वृश्चिक
११	पूर्वाफाल्गुनी	२	१३	२०	दक्षिण उत्तर दिशा			४	२८	,,
१२	उत्तराफाल्गुनी	२	१३	२०	,, ,,	कन्या ६	३०	०	३६	धनु
१३	हस्त	५	१३	२०	हाथ की नाईं (पञ्जे की नाईं)			३	३५	,,

१३	हस्त	५	१३	२०	हाथ की नाईं (पञ्जे की नाईं)			३	३५	,,

राशिचक्र

संख्या	नक्षत्रों के नाम	योगतारा संख्या	क्षेत्र अंश	क्षेत्र कला	नक्षत्रों की आकृति	राशियों के नाम	क्षेत्र अंश	उदय लग्न का भुक्त दण्ड	उदय लग्न का भुक्त पल	जिस राशि के काल बीते हैं
१४	चित्रा	१	१३	२०	मुक्ता की नाईं उज्ज्वल			०	०	मकर
१५	स्वाती	१	१३	२०	कुङ्कुम वर्ण	तुला ७	३०	३	१५	,,
१६	विशाखा	५	१३	२०	तोरण			०	२६	कुम्भ
१७	अनुराधा	७	१३	२०	शूर्प	वृश्चिक ८	३०	२	३	,,
१८	ज्येष्ठा	३	१३	२०	सर्प			२	३६	,,
१९	मूल	९	१३	२०	शंख	धनु ९	३०	०	८	मीन
२०	पूर्वाषाढा	४	१३	२०	शूर्प			१	४६	,,
२१	उत्तराषाढा	४	१३	२०	शूर्प	मकर १०	३०	२	३६	,,
२२	अभिजित्	१								यह पूर्वाषाढा के भीतर है इसलिये २७ही नक्षत्र अब गिनते हैं
२३	श्रवणा	३	१३	२०	वाण			१	१८	मेष
२४	धनिष्ठा	५	१३	२०	मर्दल (मानरबाजा)	कुम्भ ११	३०	२	३६	,,
२५	शतभिषक्	१००	१३	२०	मण्डलाकार			२	५५	वृष
२६	पूर्वभाद्रपदा	२	१३	२०	भार की नाईं			३	४६	,,
२७	उत्तरभाद्रपदा	२	१३	२०	दो मस्तक	मीन १२	३०	१	१२	मिथुन
२८	रेवती	३२	१३	२०	मछली			५	६	,,
			३६०				३६०			

उल्लिखित नक्षत्रों के अतिरिक्त और भी नक्षत्र इस मध्यखण्ड में हैं। जिन का वर्णन वेदों में है परन्तु विस्तारभय से हम यहां नहीं लिखते। अंग्रेजों ने जो इस खण्ड में केवल १०१६ ताराओं का निश्चय किया है, उस से भी अधिक ताराओं का उल्लेख वेदों में पाया जाता है। एक नक्षत्र जिस को अंग्रेजी में ओरायन (Orion) कहते हैं, (इससे मिलता हुआ संस्कृत शब्द आग्रहायण है) इस का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थ में है। जिस प्रकार अंग्रेजों ने इस को अनुसन्धान से यथावत् जाना है, उसी प्रकार वर्णन है। और वेद में भी ठीक ऐसा ही शब्द नक्षत्र-वर्णन प्रसङ्ग में आया है:—

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे वैश्वानरश्च मे। यजुर्वेद पू० अ० १८।२०॥

अर्थात् ओरायन या आग्रहायण (मृगशीर्ष) राशिचक्र के पास के सब नक्षत्र एवं राशिचक्र।

तमभ्यायत्याविध्यत्स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपेततमेतं मृग इत्याचक्षते। य उ एव मृगव्याधः स उ एव स या रोहित् सा रोहिणी यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा। तद्वा इदं प्रजापते रेतस्सिक्तमधावत् तत् सरोऽभवत्॥ ऐ० ब्रा० १३।९॥

अर्थात् रोहिणी ऊपर को हुई इस कारण रोहिणी नाम, एवं मृगशीर्ष नक्षत्र रोहिणी से विद्ध होकर रहा इसलिये मृगशीर्ष हुआ एवं जो दोनों के वाण से विद्ध हुआ वह—व्याध वा लुब्धक हुआ। आशय यह है कि प्रायः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपकालङ्कार से गगनमण्डलस्थ दिव्य पदार्थों का वर्णन है। रोहिणी और मृगशीर्ष नक्षत्र जो व्याध के ऊपर हैं उन की आकृति वाण की नाईं हैं, इस से उक्त प्रकार वर्णन है। रोहिणी नक्षत्र के विषय में एक मनोहर रूपकालङ्कार से ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णन है कि ब्रह्मा ने अपनी ३३ कन्यायें चन्द्रमा को दीं परन्तु चन्द्रमा का अधिक स्नेह रोहिणी नामक कन्या से देखकर अवशिष्ट कन्यागण ब्रह्मा के पास जाकर कहने लगीं कि भगवन्! चन्द्रमा हम लोगों से अधिक स्नेह रोहिणी में करता है। इस पर ब्रह्मा ने चन्द्रमा और कन्यागणों को परस्पर शपथ देकर कहा कि सब में समान प्रीति रखो, सब ने स्वीकार किया। अनन्तर चन्द्रमा फिर भी रोहिणी से अधिक स्नेह करने लगा। यह देख प्रजापति ने चन्द्रमा को शाप दिया। इस से चन्द्रमा को यक्ष्मा रोग हुआ, पुनः चन्द्रमा शापमर्षण का प्रार्थी हुआ और ब्रह्मा ने कहा कि सूर्य को चरु दो तो शाप से मुक्त होगे, इत्यादि। ऐतरेय ब्राह्मण १३।९।१, १, १०॥

अब उक्त आख्यायिका का सारांश यह है कि कृत्तिका, रोहिणी, पुष्य, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, शतभिषक्, रेवती इन १२ नक्षत्रों के साथ कभी कभी चन्द्रमा का पिधान (ढक लेना) होता है।

इन १२ नक्षत्रों में जो अत्यन्त सूक्ष्म है, उसी का चन्द्रमा अधिक पिधान करता है। इस प्रकार के नक्षत्र केवल मघा, ज्येष्ठा, चित्रा, रोहिणी इन में भी उत्तरोत्तर तेजस्वी हैं। अर्थात् मघा से ज्येष्ठा अधिक प्रकाश वाला, ज्येष्ठा से चित्रा, एवं चित्रा से भी अधिक रोहिणी तेजस्वी है। चन्द्रमा का पिधान तो प्रायः उक्त सब नक्षत्रों के साथ होता है, परन्तु सब से तेजस्वी तारा रोहिणी का पिधान अतिमनोहर होता है। इसी सुन्दरता के कारण केवल रोहिणी का पिधान अधिक प्रसिद्ध है। इसी के वर्णन में उक्त आख्यायिका है। यहां अश्विनी आदि २७ नक्षत्र और कृत्तिका की योगतारा मिलकर ३३ कन्या हुईं। चन्द्रमा को शाप क्या? उस में जो काला सा चिह्न दीखता है, उसी का वर्णन है। सूर्य को चरु क्या देना सूर्यद्वारा प्रकाशित होना है, सो कृष्णपक्ष में सूर्य अपना तेज ले लेता है और शुक्ल में देता है। इसी का उस प्रकार वर्णन है। इसी कथा को मूल रूप से लेकर पुराणों में चन्द्रमा और रोहिणी विषयक अनेक ऊटपटाङ्ग कथा रची गई हैं। अब कृत्तिका नक्षत्र से जो पौराणिक माया फैली है, उस को लिखते हैं:—

कृत्तिका नक्षत्र की छः योगताराएं हैं और यह नक्षत्र कार्त्तिक मास में अवश्य प्रातःकाल उदित होता है। इस को कार्त्तिक स्वामी नामक देवता मान कर कार्त्तिक (स्नान) पूजादि का विधान पुराणों में लिखा है। कार्त्तिक स्वामी का नाम षाण्मातुर, शक्तिधर, शरजन्मा आदि। छः योगतारा मानों उस की माता हैं। इसलिये "षाण्मातुर" नाम जान कर आडम्बर रचे हैं। वास्तव में यह पोपलीला मात्र है। अविद्या के प्रभाव से यह सब जाल फैला है।

नक्षत्रों की देवता

तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं यजुर्वेद ज्योतिष में अश्विनी आदि २७ नक्षत्रों की भिन्न भिन्न देवतायें लिखी हैं, परन्तु सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों में इस का कुछ भी वर्णन नहीं है। महाभारत, मिताक्षरा एवं वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थ देखने से और खगोल के नक्शे को मिलाने से अनुमान होता है कि एक सौर जगत् (जिस में हम लोग हैं) में बुध, शुक्र, मङ्गल, बृहस्पति आदि अनेक लोक हैं और एक एक लोक में अनेक छोटे छोटे विभाग हैं। हमारे शास्त्रों में ऐसे विभागों के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं और ये विभाग नक्षत्रों की आकृति नक्षत्रपुञ्ज और दिशा आदि के अनुसार हैं। जैसे प्रत्येक अश्विनी आदि नक्षत्रों का नाम घोड़ा आदि आकृति के अनुसार है और पुनः प्रत्येक सवा दो दो नक्षत्र की एक एक राशि (पुञ्ज) रूप १२ विभाग हैं (जिन की मेष आदि आकृति है) इसी प्रकार प्राचीन रीति से कृत्तिका नक्षत्र की देवता "अग्नि" है। सो वास्तविक दूरबीन से देखने से

इस की आकृति अग्नि की नाईं मालूम होती है। इसी प्रकार अन्यान्य कई नक्षत्रों की देवता हैं। ये तो आकृतिपरक देवता हुईं। अब खगोल के विभाग के अनुसार देवयान आदि संज्ञा --खगोल के उत्तरीय भाग की देव वा देवयान संज्ञा है और दक्षिण प्रदेश की पितृयान और यम संज्ञा हैं। और अगस्त्य नक्षत्र के प्रदेश की "वीथी" संज्ञा है। किसी की सर्प संज्ञा है। इसी विभाग के अनुसार जिस जिस विभाग में जो जो नक्षत्र पड़ा है, उस उस को वह वह देवता (आकाशस्थ समस्त चमकीले पदार्थ की देव) संज्ञा है। इस विभाग के विषय में प्राचीन प्रमाण है:—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥१८४॥

तत्राष्टाशीतिसाहस्रं मुनयो गृहमेधिनः।
सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः ॥१८७॥ (याज्ञ० स्मृ०)

आशय—जिस प्रकार एक भारतवर्ष के भीतर अनेक सूबे (वङ्गालादि) हैं। प्रत्येक सूबे में अनेक कमिश्नरी वा जिला या कस्बे हैं। एक कस्बे में अनेक बड़े बड़े मुहल्ले हैं। एक एक मुहल्ले में अनेक बड़ी एवं छोटी गलियां हैं। इसी प्रकार खगोल में सौर जगत् के विभाग हैं। पितृयान, अजवीथी, देवयान, नागवीथी आदि। और भी प्रमाण:—

स (सूर्यः) यत्रोदङ्ङावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति... यत्र दक्षिणावर्त्तते तर्हि पितृषु भवति ॥ शत० ब्राह्मणे २।१।३॥

अर्थ—वह सूर्य जब उत्तरायण होने पर उत्तर की ओर जाता दीखता है तो देवयान प्रदेश में होता है। एवं जब दक्षिणायन होता है तो पितृयान प्रदेश में होता है।

इसी प्रकार जो सूर्य के १२ नाम हैं वे भी आकाश के विभाग के अनुसार जिस जिस मास में आकाश के जिस जिस प्रदेश में सूर्य दीखता है, उस उस विभाग के अनुसार सूर्य के १२ नाम हैं। इस का वर्णन महाभारत के आदिपर्व में है, हम यहां विस्तारभय से उन श्लोकों का उल्लेख नहीं करते हैं। इसी के अनुसार नक्षत्रों की देवता लिखी हैं। प्रमाण:—

कृत्तिका नक्षत्रमग्निर्देवताग्नेरुचस्थ प्रजापतेर्धातुः सोमस्यर्चे त्वा रुचे त्वा द्युते त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्षं नक्षत्रं सोमो देवतार्द्रा नक्षत्रं रुद्रो देवता पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवताऽऽश्लेषा नक्षत्रं सर्पा देवता मघा नक्षत्रं पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता फल्गुनीनक्षत्रमर्यमा देवता हस्तो नक्षत्रं सविता देवता [illegible] नक्षत्रमिन्द्रो देवता

स्वाती नक्षत्रं वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवताऽनुराधा नक्षत्रं मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विधृतौ नक्षत्रं पितरो देवताऽऽषाढा नक्षत्रमापो देवताऽऽषाढा नत्रत्रं विश्वे देवा देवता श्रवणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्रं वसवो देवता शतभिषङ् नक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमज एकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्न्यो देवता रेवती नक्षत्रं पूषा देवताऽश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवता भरणीर्नक्षत्रं यमो देवता पूर्णापश्चाप्यन्ते देवा अदधुः । तैत्तिरीय ब्राह्मणे ४।४।१०॥

इन मन्त्रों का अर्थ चक्र द्वारा किया गया है:—

नक्षत्रों की देवता ज्ञापक चक्र

कृत्तिकादि	नक्षत्र	देवता	कृत्तिकादि	नक्षत्र	देवता
१	कृत्तिका	अग्नि	१५	अनुराधा	मित्र
२	रोहिणी	प्रजापति	१६	ज्येष्ठा	इन्द्र
३	मृगशीर्ष	साम	१७	मूल	निर्ऋति
४	आर्द्रा	रुद्र	१८	पूर्वाषाढ़	आपः
५	पुनर्वसू	अदिति	१९	उत्तराषाढ़	विश्वेदेव
६	पुष्य	बृहस्पति	२०	श्रवण	विष्णु
७	आश्लेषा	सर्प	२१	श्रविष्ठा	वसु
८	मघा	पितर	२२	शतभिषक्	वरुण
९	पूर्व फल्गुनी	भग	२३	पूर्वभाद्रपदा	अजएकपात्
१०	उत्तर फल्गुनी	अर्यमा	२४	उत्तरभाद्रपदा	अहिर्बुध्न्य
११	हस्त	सविता	२५	रेवती	पूषा
१२	चित्रा	त्वष्टा	२६	अश्वयुज्	अश्विनौ
१३	स्वाती	वायु	२७	भरणी	यम
१४	विशाखा	इन्द्राग्नी			

गति

एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का नाम गति है । जड़ पदार्थ निश्चेष्ट स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जा सकता । परन्तु इस में भी एक प्रकार की गति है । चला देने से चलता है । यही नियम संसार में अत्यन्त अद्भुत है । किसी जड़ वस्तु का चलना और रुक जाना तीन कारणों से होता है ।

१—अपेक्षाकृत गुरुतर वस्तु के आकर्षण, २—वायुद्वारा अवरोध, एवं ३—दूसरे वस्तु के साथ घर्षण। गुरुतर वस्तु का धर्म यह है कि वह अपने से छोटे वस्तु को आकर्षण द्वारा अपनी ओर ले आता है। जिस के द्वारा कोई वस्तु चालित होता है, उसको शक्ति कहते हैं। विना शक्ति के गति नहीं होती। कोई वस्तु किसी निर्दिष्ट काल में जितनी दूर जाता है, उस को उस वस्तु का वेग कहते हैं। जड़ पदार्थ की गति का नाम "कार्य" है और जिस शक्ति से गति होती है, उस को "कारण" कहते हैं।

'चक्रावर्त्त' वा 'वृत्ताभास'

जिस समय किसी वस्तु को चक्राकार या तदनुरूप पथ में चलते देखते हैं तो उस समय अवश्य विचारना होगा कि इस वस्तु में दो शक्ति दी गई हैं। एक शक्ति द्वारा नियत निक्षिप्त एवं अपर शक्ति से नियत आकृष्ट होता है। इस में पहली शक्ति अर्थात् जिस से केन्द्राभिमुख गति होती है, उस को केन्द्राभिकर्षणशक्ति और दूसरी शक्ति अर्थात् जिस से केन्द्र छोड़ कर उस को जाना पड़ता है उस को "केन्द्र-प्रसारणी" शक्ति कहते हैं।

केन्द्राभिकर्षणी शक्ति वा मध्याकर्षण शक्ति

सूर्य की गुरुता के कारण पृथिवी उस के द्वारा आकृष्ट होकर सूर्य की ओर जाती है। दूसरी ओर नहीं जा सकती, इसी को केन्द्राभिकर्षणी शक्ति कहते हैं।

केन्द्रप्रसारणी शक्ति

जिस धर्म (स्वभाव) के प्रभाव से कोई पदार्थ स्वयंचालित नहीं चल सकता, एवं अन्यकर्तृक चालित होने पर अपने आप स्थिर नहीं हो सकता, उस का नाम "जड़त्व" है। पृथिवी जड़ पदार्थ है, सुतरां इसमें सृष्टिसमय ईश्वर ने जो ऋजुगमन शक्ति दी है उसी के प्रभाव से यह सीधी चलती, परन्तु वह शक्ति सूर्य के आकर्षण से प्रतिहत होकर वक्रगति वा वृत्ताभास पथ में चलती है। पृथिवी के ऋजु गमनार्थ शक्ति ऊपर कही गयी है, वही "केन्द्रप्रसारणी" शक्ति है।

पृथिवी का गोलचक्र

पृथिवी का आकार गोल है जो अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध है, परन्तु किन्हीं आधुनिक ग्रन्थकारों ने पृथिवी को समतल और चतुष्कोण लिखा है जो प्राचीन शास्त्रों एवं युक्ति से विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं। गोल होने में जो युक्तियां दी जाती हैं वे प्राय: स्कूल एवं छोटी छोटी पाठशालाओं के पाठ्य-पुस्तकों में भी दी हुई हैं। इसलिये मैं यहां केवल प्रमाणों का उल्लेख करता हूं।

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः ।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अदधात्सूर्येण ॥ऋग्वेदे १।३३।८॥

आशयः—पृथिवी गोलाकार है, एवं इसका आधा भाग अर्थात् व्यास गोल होने के कारण सूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं आधा भाग अन्धकारावृत रहता है और सूर्य के आकर्षण पर यह भूगोल ठहरा है । पुनः—

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे ।
प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥
ऋग्वेदे ४।५३।३॥

आशयः—सूर्य द्युलोक एवं भूलोक आदि लोकों को अपने अपने नियमों में रखता हुआ और दिन रात करता हुआ अपनी कील पर अवस्थित है । पुनः—

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्लोचति ॥ ऐतरेय ब्राह्मणे १४।६॥

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है:—

स वा एष न कदाचनास्तमयति । नोदयति । तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते । अह्न एव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्य्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कृणुते रात्रीं परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । तद्यदेनं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते । रात्रेरेव तदन्तं गत्वात्मानं विपर्य्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कृणुतेऽहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति न ह वै कदाचन निम्लोचति ।
गोपथ ब्राह्मणे ९।१०॥

अर्थः—सूर्य न कभी छिपता (अस्त) और न निकलता (उदय) है । जो लोग सूर्य का अस्त होना मानते हैं वे दिन के अन्त होने पर अर्थात् रात्रि में पृथिवी के घूमने से पश्चिम से पुनः पूर्व में सूर्य को देखते हैं और सूर्य पृथिवी के इस भाग में दिन और दूसरे भाग में रात्रि को करता है । तब लोग सूर्य का उदय मानते हैं । इसी प्रकार जब दिन के अन्त को प्राप्त होकर सूर्य पश्चिम में दिखलाई देता है और भूमि के इस भाग में रात्रि और दूसरे भाग में दिन करता है तो लोग सूर्य का अस्त मानते हैं । इन्हीं उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से पृथिवी का गोलत्व, निराधारत्व एवं दिन रात का होना सिद्ध होता है । पुनः—

वृत्तभपञ्जरमध्ये कक्षापरिवेष्टितः खमध्यगतः ।
मृज्जलशिखिवायुमयो भूगोलः वर्त्तते सर्वतो वृतः ॥ ६ ॥

कुसुमं स्तद्वद्धि सर्वसत्त्वैर्जलजैः स्थलजैश्च भूगोलः ।। ७ ।।

आर्यसिद्धान्ते गोलपादे ।

अर्थ—नक्षत्र चक्र के भीतर कक्षा से घिरा हुआ आकाश में पञ्चभूतात्मक (मृत्तिका, अग्नि, वायु, जल, आकाश) भूगोल अवस्थित है ।।६।। एवं इस की सब ओर जिस प्रकार कदम्ब के फूल के सब ओर पंखड़ी होती हैं, उसी प्रकार पृथिवी के सब भाग में जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले प्राणी रहते हैं ।।७।।

इसी प्रकार वराहमिहिर ने लिखा है—

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः ।

खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितवृत्तः ।। १ ।।

तरुनगनगरारामसरित्समुद्रादिभिश्चितः सर्वः ।। पञ्चसिद्धान्तिका अ० १३ ।।

अर्थ—मृत्तिका, वायु, जल, आकाश और पानी यह पञ्चतत्त्वात्मक भूगोल राशिचक्र के भीतर आकाश में गोलाकार अवस्थित है । जिस प्रकार चुम्बक के भीतर लोहे का गोला रहता है । इस भूगोल के चारों ओर पृष्ठ भाग वृक्ष, पर्वत, नगर, वाटिका, नदी और समुद्रादिकों से आच्छादित है । भास्कराचार्य ने भा लिखा है:—

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः ।

कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव ।। सिद्धान्तशिरोमणि भुवनकोषे ।।

अर्थ—पृथिवी की सब ओर पर्वत बाग और ग्रामादि हैं जिस प्रकार कदम्ब के फूल की सब ओर पंखड़ी होती हैं । पुनः—

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्व्या नितरां तनीयान् ।।

नरस्य तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा ।।

सिद्धान्तशिरोमणौ ।।

अर्थ—परिधि का शतांश (१०० वां हिस्सा) जिस प्रकार पृथिवीस्थ पुरुष को समतल दीख पड़ता है, इस का कारण यह है कि पृथिवी मनुष्य की अपेक्षा बहुत बड़ी है ।

पुराणों में जो पृथिवी को चपटी लिखा है, उस का खण्डन भास्कराचार्य ने लिखा है—

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः ।

उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते ।।

यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते ।

उदगयन्ननु मेरुरथांशुमान्कथमुदेति च दक्षिणभागके ।। ११ ।।

अर्थ—यदि पृथिवी दर्पणोदर धरातल के तुल्य चपटी है तो मनुष्यों को ऊपर को भ्रमण करता हुआ सूर्य (सायङ्काल के पीछे) क्यों नहीं दीखता ? यदि सूर्य मेरु

की ओट में आ जाता है तो मेरु क्यों नहीं दिखलाई देता ? और यदि मेरु की आड़ से निकल कर सूर्य उदय होता है तो पूर्व उत्तर दिशा ही से सूर्योदय होना चाहिये क्योंकि मेरु उत्तर की ओर है। फिर (शीतकाल में) दक्षिणभाग से सूर्य का उदय क्यों होता है ?

इस से यह मानना पड़ेगा कि पृथिवी ही की आड़ में सूर्य आ जाता है। अर्थात् पृथिवी का जितना भाग सूर्य के सामने होता है उतने में दिन और जो ओट में आता है उतने में रात्रि होती है। इसी आशय का मन्त्र ऋग्वेद में आया है जिस पर सायणाचार्य ने भी ज्योतिषशास्त्र के अनुकूल ही भाष्य किया है—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥

ऋ० सं० मं० १। सू० ५०। मं० ५॥

भाष्यम्—हे सूर्य त्वं देवानां विशः मरुन्नामकान्देवान्मरुतो वै देवानां विश इति श्रुत्यन्तरात्। तान्मरुत्संज्ञकान्प्रत्यङ्ङुदेषि प्रति गच्छन्नुदयं प्राप्नोषि तेषामभिमुखं यथा भवति तथेत्यर्थः। तथा मानुषान् प्रत्यङ्ङुदेषि तेऽपि यथा अस्मदभिमुख एव सूर्य उदेतीति मन्यन्ते तथा विश्वं व्याप्तं स्वः स्वर्लोकं दृशे द्रष्टुं प्रत्यङ्ङुदेषि यथा स्वर्लोकवासिनो जनाः स्वस्वाभिमुख्येन पश्यन्ति तथा उदेषीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति लोकत्रयवर्त्तिनो जनाः सर्वेऽपि स्वस्वाभिमुख्येन सूर्यं पश्यन्तीति तथा चाम्नायते—तस्मात्सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगादिति (तै० ब्रा० ६।५।४)।

आशयः—पृथिवीस्थ समस्त लोग जानते हैं कि सूर्य मेरे प्रति उदित हुआ। अगर पृथिवी गोल न होती एवं सूर्य अपनी ही धुरी पर न घूमता तो ऐसी घटना कदापि न होती कि उत्तर मेरुनिवासी (देवता) लोग दक्षिण मेरु निवासी एवं अन्यान्यप्रदेशस्थ व्यक्तिगण को प्रतीत होता कि सूर्य का उदय मेरे सम्मुख होता है।

लल्लाचार्य ने लिखा है कि:—

समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः।
कथमेव न दृष्टिगोचरं नुरहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः॥

अर्थ—यदि पृथिवी चपटी होती तो बहुत दूर स्थित ताड़ के समान ऊंचे ऊंचे पेड़ पूरे दृष्टिगोचर क्यों नहीं होते ? अर्थात् दूरस्थित वृक्षों के केवल ऊर्ध्व भाग दृष्टि पड़ने का कारण यही है कि उन का नीचे का भाग पृथिवी की गोलाई की ओट में आ जाता है।

पृथिवी का आधार

पृथिवी किस के आधार पर ठहरी है इसमें अनेक मत हैं—कोई कहता है कि 'पृथिवी शेषनाग के ऊपर है', कोई बैल पर बतलाता है। एवं कोई कूर्म्म के पीठ पर

कहता है इत्यादि। परन्तु वेदादि सत्य शास्त्रों में एवं आधुनिक विद्वानों ने निश्चय किया है कि सूर्य के आकर्षण से अपनी कक्षा में आकाश में अवस्थित है। प्रमाणः—

सत्येनोत्तभिता भूमिः। अथर्ववेदे कां० १४।१। मं० १।

अर्थ—परमेश्वर ने भूमि को धारण किया है। पुनः—

स दाधार पृथिवीम्। यजुर्वेदे ॥

अर्थ—उसी परमेश्वर ने पृथिवी को धारण किया हैं।

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्। ऋग्वेदे ॥

सूर्य (उक्षा) की आकर्षण शक्ति पर पृथिवी आकाश में है। इसी का अर्थ न समझ कर किन्हीं लोगों ने लिख दिया कि पृथिवी बैल के सींग पर है।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नर्पिता भुवनानि विश्वा ॥

ऋग्वेदे १।१६४।१४॥

आशयः—सूर्य को केन्द्र (मध्य) करते हुए जितने लोक एवं पृथिवी दशों दिशा युक्त भ्रमण करती हुई अवस्थित है। इसी प्रकार सूर्य के अत्यन्त निकट बुध और शुक्र भी परिक्रमा करते हैं।

मित्रो जनान्यातयति प्रजानन्मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।

तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।११॥

आशयः—सूर्य सब लोकों को (सौर जगत्) अपनी आकर्षण शक्ति से नियम में रखता हुआ पृथिवी और द्युलोक को धारण करता है। पुनः—

मूर्तो धर्त्ता चेद्धरित्र्यास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।
अन्त्ये कल्प्या चेत्स्वशक्तिः किमाद्ये किन्नो भूमेः साष्टमूर्तेश्च मूर्त्तिः ॥

(सिद्धान्तशिरोमणि-भुवनकोषे)

अर्थः—यदि पृथिवी का कोई (जैसा कि पौराणिक लोग शेषनाग, मुसलमान लोग बैल पर मानते हैं) मूर्त्तिमान् धर्त्ता माना जाये तो उस धर्त्ता का कोई अन्य धर्त्ता मानना पड़ेगा और फिर उस का कोई दूसरा। इस प्रकार इस का कहीं अन्त न मिल पावेगा अर्थात् इस में अनवस्था दोष लगेगा एवं अन्त में यही मानना पड़ेगा कि पृथिवी अपनी ही शक्ति से स्थित है।

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत्स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे ॥

(सिद्धान्तशिरोमणि-भुवनकोषे)

अर्थात्—पृथिवी अपनी आकर्षण शक्ति से भूतल के सब पदार्थों को अपना ओर खींचती है इसलिये वे पदार्थ पृथिवी पर गिरते हुए दिखलाई देते हैं। जब पृथिवी के समोप के सब पदार्थं उसकी अपेक्षा बहुत छोटे होने के कारण उस की आकर्षण शक्ति से पृथिवी पर गिरते हैं तो पृथिवी कहां को गिर जावे? इसलिये यह शङ्का कि पृथिवी विना आधार के कैसे रह सकती है? सर्वथा निर्मूल है।

पृथिवी का भ्रमण

पृथिवी की गति दो प्रकार की है—आह्निक और वार्षिक। रथचक्र जिस प्रकार मेरु दण्ड के ऊपर नियत घूमता है, उस की इस गति का नाम दैनिक गति है। एवं वह इस प्रकार प्रतिदिन अपनी धुरी पर घूमती घूमती सूर्य के चारों ओर एक वर्ष में पुनः जहां से चली थी वहीं आ जाय इस को उस की वार्षिक गति कहते हैं।

इन्हीं दो प्रकार की गतियों से दिवा, रात्रि, ऋतुपरिवर्त्तनादि नाना प्रकार के नैसर्गिक व्यापार सम्पन्न होते हैं। पृथिवी का जो भाग जिस समय सूर्य के सम्मुख होता है उसी भाग में दिन होता है एवं उसके विपरीत भाग में रात्रि होती है। वह प्रतिदिन पश्चिम से पूर्व को अपनी धुरी पर घूम जाती है, परन्तु लोग कहते हैं कि गगनस्थ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पूर्व दिशा में उदित होते हैं एवं पश्चिम दिशा में अस्तमित होते देखे जाते हैं। वस्तुतः सूर्यचन्द्रादि नक्षत्रों को हम जिस प्रकार उदित एवं अस्तमित होते देखते हैं, उनका उस प्रकार उदयास्त नहीं होता। केवल पृथिवी की गति के कारण ऐसा बोध होता है। किन्तु पृथिवी की यह गति हमारे दर्शन, श्रवण, स्पर्शन आदि किसी इन्द्रिय द्वारा अनुभूत नहीं होती। कोई उस को आंख से घूमता नहीं देखता, कान से भी कोई उस की गति के शब्द को नहीं सुनता, एवं उसकी गति को कभी कोई स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श नहीं करता। इसी कारण कितने ही अनभिज्ञ लोग पहिले इसकी गति को स्वीकार नहीं करते थे, एवं इस समय भी बहुत से लोग नहीं मानते। जो लोग किसी भी इन्द्रिय द्वारा पृथिवी की गति का बोध नहीं करते वे पृथिवी की गति से दिवा, रात्रि, मास, ऋतु आदि न मान कर सूर्यादि आकाशस्थ अगण्य पदार्थ की प्रात्यहिक गति स्वीकार कर उन्हीं के पर्यायक्रम से दिवा, रात्रि, ऋतुपरिवर्त्तनादि मानते हैं। जिस कारण इन दो मतों के भिन्न दूसरा कुछ नहीं कहा जा सकता। अब विचारना चाहिये कि पृथिवी की गति से दिन रात्रि आदि स्वाभाविक घटना होती हैं या सूर्य एवं नक्षत्रादि आकाशस्थ पदार्थ प्रतिदिन पृथिवी की प्रदक्षिणा करते, इस से दिन रात आदि होते हैं, किन्तु इन दोनों मतों को देखना चाहिये कि कौन सा मत असल (प्राकृत) है एवं कौन सा अप्राकृत है। एवं बहुत से ज्योतिर्विदों ने प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा इस की मीमांसा करके सत्यसंस्थापन करने के

लिये पदार्थविद्या द्वारा जिन प्रमाणों का ग्राश्रय लिया है उन में से कतिपय प्रमाण उल्लिखित किये जाते हैं।

(१) यदि पृथिवी को स्थिर मान के सूर्यादि पदार्थ की प्रात्यहिक गति स्वीकार की जावे तो प्रत्येक नक्षत्र, ग्रह, उपग्रहादि की भिन्न भिन्न प्रकार की गति न मानने से दिन रात का पर्यायक्रम से होना सम्पन्न न हो सकेगा। सूर्यादि जो गगनस्थ पदार्थ २४ होरा में पृथिवी की प्रदक्षिणा करते जान पड़ते हैं वे पृथिवी के समान स्थित नहीं हैं। सुतरां तव सव समान गति से एक ही समय में पृथिवी को प्रदक्षिणा नहीं कर सकते। ग्रहगण व नक्षत्रगण पृथिवी से जो जितनी दूरी पर हैं उन को परस्पर की गति तत्तत्परिमाण सत्वर वेग से सम्पन्न होती है। एक समय में ग्राकाशस्थ सकल नक्षत्रादि पृथिवी की प्रदक्षिणा कर सकते हैं। किन्तु भिन्न भिन्न नक्षत्रादि की इस प्रकार भिन्न भिन्न गति सिद्ध होने से कैसा ग्रसङ्गत व कहां तक ग्रसम्भव है, इस की ग्रोर ध्यान देने से पृथिवी को ग्रवश्य भ्राम्यमाण ही मानना पड़ेगा। नक्षत्रादि पृथिवी से इतनी दूर पर हैं जो उनकी गति मन में विचारना व संख्या द्वारा निर्देश करना कठिन है। किन्हीं ज्योतिर्विद् पण्डितों ने गणित द्वारा देखा हो कि जो ये सब दूरस्थित नक्षत्र जितने वेग से गमन करके पृथिवी की प्रदक्षिणा एक दिन में कर सकेंगे, उस से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चूर्ण होकर परमाणुरूप हो जावे। ग्रति दूरस्थित नक्षत्रादि की बात ग्रलग रहे, निकटस्थ सम्पूर्ण नक्षत्र सूर्यादि प्रतिदिन पृथिवी की प्रदक्षिणा करें, इस में जितने वेग की ग्रावश्यकता है उसको मन में विचारना कठिन है एवं सृष्टि की प्रणाली के विरुद्ध है। ज्योतिर्विद्या द्वारा निश्चित हुग्रा है कि पृथिवी सूर्य से प्रायः ९५००००० माइल दूर स्थित है। एवं ग्रति निकटस्थ नक्षत्र प्रायः ३८००००००००००००० माइल दूर स्थित हैं। ग्रत एव यदि सूर्य २४ घण्टे में पृथिवी का एक बार परिभ्रमण करे तो एक मिनट में उस को चार लाख माइल भ्रमण करना पड़ेगा। एवं ग्रति निकटस्थ नक्षत्र को एक मिनट में १६०००००००००० माइल पथ पर्यटन न करने से किसी प्रकार सम्भव नहीं जो पृथिवी का एक बार परिभ्रमण कर सके। इसी प्रकार जो नक्षत्र जितनी दूर पर है वह यदि उतने वेग से न चले तो वह नक्षत्र किसी प्रकार पृथिवी का एक दिन में परिभ्रमण नहीं कर सकता। परन्तु वस्तुतः यदि नक्षत्रादि उस प्रकार महावेग से प्रतिदिन पृथिवी की प्रदक्षिणा करते तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी तेज से चूर्ण चूर्ण हो जाता। किन्तु इस प्रकार ग्रमूलक कल्पना जो सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की सुश्रृङ्खल सृष्टि-प्रणाली के साथ कितनी ग्रसङ्गत एवं कहां तक ग्रसम्भव है सो कहना ग्रत्युक्ति होगी। जो व्यक्ति इस सुनियम सृष्टिप्रणाली के प्रति एक बार किञ्चित् दृष्टिपात करके देखें तो वे पुनः कभी उक्त प्रकार ग्रमूलक कल्पना नहीं कर सकते।

जिस असीम ज्ञानवान् अनन्त शक्तिमय पुरुष ने अनिर्वचनीय सुशृङ्खल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की है वह क्या इस क्षुद्र पृथिवी की क्रिया सम्पादन के लिये उलटा नियम करेगा ? यह किसी प्रकार विश्वास योग्य नहीं। जब केवल एक पृथिवी की आह्निक गति द्वारा अनायास दिन, रात,मास, ऋतु आदि सब घटना संघटित हो सकती हैं तो उस के लिये नभोमण्डलस्थ असंख्य भयानक प्रकाण्ड नक्षत्रादि की भयङ्कर गति कल्पना करें, यह आश्चर्य है। जो कार्य अनायास सिद्ध हो सकता है, कोई उस की सिद्धि के लिये आडम्बर नहीं रखता। अत एव जो सामान्य बुद्धि वाले पुरुष के लिये नितान्त अकर्त्तव्य व असङ्गत कह कर बोध होता है उस को किस प्रकार सर्वशक्तिमान्, ज्ञानाकर, आदि पुरुष, विश्वकर्मा, जगन्निर्मापक में असम्भव दोष आरोण करके अपराधी होने का साहस करेगा।

(२) सूर्य यदि पृथिवी का प्रतिदिन परिभ्रमण करता तो वह प्रति नियत भूमण्डल के मध्यभाग अर्थात् निरक्ष प्रदेश का वेष्टनपूर्वक भ्रमण करता। पदार्थविद्या द्वारा विशारद पण्डितगण ने परीक्षापूर्वक निश्चय किया है कि जब तक एक जड़ पदार्थ अन्य जड़ पदार्थ का परिभ्रमण करता है उस समय दोनों पदार्थ समतलस्थित अर्थात् परस्पर इस प्रकार संस्थित रहते हैं जो सूत्रपात करने से दोनों एक ही रेखा में पतित होते है, एवं वेष्टनकारी भ्राम्यमाण-पदार्थ मध्यस्थित स्थिर पदार्थ का नियत एक निर्दिष्ट स्थान में होकर परिभ्रमण करता है ! अत एव सूर्य यदि पृथिवी का प्रतिदिन परिभ्रमण करता तो उसकी कक्षा अवश्य ही भूमण्डल के ठीक मध्यस्थान के ऊपर होकर जाती एवं उसको प्रतिदिन पृथिवी के ठीक पूर्व ओर उदित होता और पश्चिम में अस्त होता देखा जाता। परन्तु वस्तुतः प्रतिदिन ऐसी घटना नहीं होती। एक वत्सर में केवल दो ही दिन सूर्य को भूमण्डल के ठीक मध्यभाग से उदित होकर ठीक मध्यभाग में अस्तमित होते देखते हैं। तद्भिन्न उस को छः महीना पृथिवी के दक्षिण-पश्चिमांश में अस्तमित होते देखते, एवं अपर अर्धांश में पृथिवी के पूर्व-उत्तर में उदित एवं पश्चिम-उत्तर में अस्तमित होते देखते हैं।

सूर्य की प्रात्यहिक गति मानने से कभी उस का उदयास्त उक्त प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता। एवं तद्भिन्न विस्तर ध्रुव नक्षत्र का भी सूर्य की तरह उत्तरायण व दक्षिणायन देखा जाता है। अत एव यह सम्पूर्ण ध्रुव नक्षत्रगण के उत्तर दक्षिणायन द्वारा भी पृथिवी की प्रात्यहिक गति सिद्ध होती है।

(३) वृहत् वस्तु क्षुद्र वस्तु का कभी परिभ्रमण नहीं करता। जड़ पदार्थ की गति का ऐसा नियम है। बड़ा पदार्थ छोटे पदार्थ का क्यों नहीं परिभ्रमण कर सकता, पदार्थविद्यावित् पण्डितों ने चक्रावर्त्त गति प्रसङ्ग में विधिपूर्वक सिद्ध किया है कि पृथिवी की अपेक्षा सूर्यमण्डल तेरह लाख गुणा से भी अधिक बड़ा है। अत

एव सूर्य का पृथिवी का परिभ्रमण करना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत पृथिवी की ही गति अनायास सिद्ध हो जाती है। एवं पृथिवी को गति स्वीकार न करने से दिन रात्रि आदि घटना सूर्य की पृथिवी की परिक्रमा से सिद्ध नहीं होतो । पृथिवी वृत्ताभास पथ में वर्ष में एक वार परिभ्रमण करती है। इसी लिये ऋतुपरिवर्त्तन होता है। पृथिवी की कक्षा यदि मण्डलाकार होती तो वर्ष में भिन्न भिन्न प्रकार ऋतु की घटना न होती। सूर्य के चारों तरफ परिभ्रमणकाल में पृथिवी सूर्यसम्बन्ध में भिन्न भिन्न स्थान अवस्थित होने से भी भिन्न भिन्न प्रकार ऋतु की घटना होतो।

(४) पण्डित लोगों ने साधारण गति के नियमों को समझ कर पृथिवी को आह्निक गति का एक प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाया है कि जव कोई पदार्थ घूमता है तो उसका वेग अपने केन्द्र प्रदेश (वोच) की अपेक्षा दूरतर प्रदेश में अधिक होता है। इसी कारण जब किसी पर्वत पर से कोई वस्तु नीचे को गिराई जावे तो वह कुछ दूर पूर्वांश में गिरेगी। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यदि पृथिवी पश्चिम से पूर्व को भ्रमण न करती हो तो उच्च स्थान से द्रव्यादि फेंकने से वह ठीक नोचे न पड़कर क्यों कुछ पूर्व ओर गिरता है।

(५) बुध ग्रह सूर्य से कभी ८ अंश से अधिक दूर नहीं जाता। एवं शुक्र ग्रह कभी ४८ अंश से अधिक दूर नहीं जाता। किन्तु यदि वे पृथिवी को मध्य में रख-कर परिभ्रमण करते तो भी कभी कभी सूर्य से १८० अंश पर्यन्त दूर में जाते किन्तु ऐसी घटना क्या पहिले क्या अब कभी किसी ने नहीं देखो।

(६) ग्रहगण कभी पूर्व और कभी पश्चिम ओर जाते दीखते हैं और उनके गमनीय मार्ग में किसी किसी अंश में वे जिस प्रकार स्थिर हो जाते हैं, ऐसा बोध होता है, किन्तु उन की गति की इस प्रकार विचित्रता क्या यथार्थ ही होती है, सो नहीं। पृथिवी बुध शुक्र के गमन भाग के बहिर्भाग में रहकर सूर्य का परिभ्रमण करते हैं। इस लिये ऐसा बोध होता है। पृथिवी की गति हमारे इन्द्रियगोचर नहीं होती। ऐसा समझ कर इस को अचला समझ लेना किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं। यदि कोई क्षुद्र जीव किसी वड़े वस्तु पर सवार हो तो वड़े पदार्थ के घूमने या चलने से चढ़ा हुआ क्षुद्र जीव अपने आप किसी प्रकार उस की गति अनुभव नहीं कर सकता। जब कोई जहाज पर चढ़ा हुआ पुरुष जहाज में वैठा है और जव जहाज समुद्रगमन करता है तो उस समय नौकास्थ पुरुष उस की गति को नहीं जान सक-ता। समुद्रतीरस्थ अपर किसी स्थिर पदार्थ को लक्ष्य न करके आरोही कभी अपने जहाज की गति नहीं जान सकता है। इस लिये हम लोग पृथिवी की दैनिक गति अनुभव नहीं कर सकते। इस से उस को स्थिर मानना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

पृथिवी को आह्निक गति के कारण जो सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्रादि प्रति दिन पूर्व दिशा में उदित होकर पश्चिम में अस्तमित देखे जाते हैं इस के अनेक प्रमाण हैं।

जब कोई तरणी वा शकटादि यान द्रुत वेग से गमन करते हैं तो तन्मध्य-स्थित आरोही तीरस्थ वा पार्श्वस्थ किसी वृक्षादि स्थिर पदार्थ के प्रति दृष्टिपात करने से वह अवश्य ही उन स्थिर वृक्षादि को अपनी विपरीत दिशा में जाते देखते हैं, इस में सन्देह नहीं, और सचल पदार्थ गति द्वारा जो अचल पदार्थ की गति का भ्रम होता है, इसमें सन्देह नहीं।

कोई कोई कहते हैं कि यदि पृथिवी प्रतिदिन घूमती होती तो भूमण्डलस्थ जितने पदार्थ जीवजन्तु आदि हैं सब उसकी गति से उलट पड़ते। यह शङ्का व्यर्थ है। वृहत् वस्तु सदैव छोटे वस्तु को आकर्षित करता है। पृथिवीस्थ जितने पदार्थ हैं उनकी अपेक्षा पृथिवी बड़ी है एवं सब वस्तु पृथिवी में आकृष्ट होकर रहते हैं। पृथिवी घूमते समय चाहे जिस अवस्था में रहे उसके ऊपर अवस्थित जीव जन्तु व अन्यान्य पदार्थ नियत उसमें आकृष्ट होकर रहेगा। पृथिवी घूमती घूमती चाहे जिस दिशा में जावे हम लोग सदा अपने पैरों के नीचे पृथिवी व मस्तकोपरि आकाश को देखते रहेंगे। सुतरां पृथिवी की आह्निक गति द्वारा किसी प्रकार हमारा अवस्थान्तर अनुभूत या घटने की सम्भावना नहीं।

कोई कोई यह कहते हैं कि "पृथिवी की गति होने से एक बड़ा भयानक शब्द होता" यह शङ्का एक मात्र अमूलक है।

हम लोग जो किसी वस्तु की गति का शब्द सुनते हैं उस का कारण यह है कि उस वस्तु का वायु के साथ घर्षण व अभिघात होने से यह शब्द उत्पन्न होता है। वह शब्द उसी वायु के सहकार से हमारे कानों में सुन पड़ता है। पृथिवी शून्य के ऊपर अवस्थित है, वहां वायु वा अन्य कोई पदार्थ नहीं। सुतरां उस का किसी के साथ घर्षण वा अभिघात की सम्भावना नहीं एवं घर्षण वा अभिघात होने से भी वायु का प्रभाव होने से तज्जनित शब्द हमारे कर्णगोचर नहीं होता। शून्य में बाधकता शक्ति नहीं। यदि यह शक्ति रहती तो शून्य में पृथिवी न ठहर सकती। जब पृथिवी के अवस्थान में शून्य प्रति बाधकता नहीं उत्पन्न होती है, वह उस गति का प्रतिवादी नहीं हो सकता। एवं गाड़ी, घोड़ा, नौका प्रभृति सवारी द्वारा गमन काल में जो प्रबल वायु का शब्द सुन पड़ता है, ऐसा समझ कर यह कहना कि पृथिवी की गति से भी शब्द होना चाहिये, यह असम्भव है। कारण यह है कि वायु की प्रचण्ड गति के समय पर्वत, अट्टालिका, वृक्षादि जितने वस्तु हैं, अपनी अपनी अवस्थानुसार वायु की गति का अवरोधक (रोकने वाले) होते हैं तो उस से

अवश्य ही परस्पर द्रव्यों के संस्पर्शजनित शब्द उत्पन्न होते हैं। उसका प्रमाण यह है कि जिस स्थान में अधिक वृक्षादि रहते हैं, वहां वृक्ष के साथ वायु के अभिघात से अधिक शब्द होता है। जहां वृक्षादि थोड़े होते हैं, वहां शब्द भी कम होते हैं।

पुनः लोग कहते हैं कि "यदि पृथिवी में गति होती तो पृथिवी के गति मार्ग के विपरीत ओर वायु की गति का अतिशय पराक्रम होता"। यह शङ्का भी अग्राह्य है। यदि भूवायु स्थिर रहता और पृथिवी उसके बीच होकर या उक्त भूवायु की स्वतन्त्र गति एवं पृथिवी की स्वतन्त्र गति होती किंवा भूवायु पृथिवी के आकर्षण के अधीन न होता तो पृथिवी की गति मार्ग के विपरीत वायु का वेगवान् प्रवाह होना सम्भव होता। पृथिवी की मध्याकर्षण शक्ति में अन्यान्य वस्तु उस में जिस प्रकार आकृष्ट होती हैं उसी प्रकार वायु भी आकृष्ट होता है। पृथिवी के आकर्षणाधीन होने से पृथिवी की गति जिस प्रकार हो जाती है वायु की भी गति उसी प्रकार नित्य होने पर भी क्षिति की गति के विपरीत दिशा में वायु की गति नहीं होती।

जब कोई पैदल या गाड़ी आदि पर चढ़ कर जाता है, उस समय जो गाड़ी आदि की गति प्रतिकूल वा अनुकूल में वायु की गति है, वही अनुभव होती है उस का कारण यह है कि गाड़ी आदि को एवं वायु को भिन्न भिन्न गति व परस्पर में एक दूसरे के अधीन नहीं।

कोई कोई यह कहता है कि "यदि पृथिवी प्रति सेकण्ड एवं प्रति मिनट बहुत माइल पथ पर्यटन करती तो पृथिवीस्थ बड़े बड़े मन्दिर तथा मकानादि वा स्तम्भादि एवं किसी उच्च स्थान से कोई पदार्थ फेंकने से वह उसके जड़ में नहीं गिरता, पृथिवी की गतिवशात् अवश्य ही वह उच्च स्थान से बहुत दूर अलग गिरता, एवं पक्षी प्रभृति उड़ने वाले खेचर जीव सब जिस प्रदेश से होकर उड़ते हैं, पृथिवी के द्रुत वेग के अनुरोध से वे वहां से बहुत दूर पीछे पड़ जाते, जिस कारण वह फेंका हुआ पदार्थ, उड्डीयमान खेचर जीवगण पृथिवी के साथ समान वेग में नहीं चल सकते। किन्तु वस्तुतः कभी ऐसी घटना दृष्टिगोचर नहीं होती। स्तम्भादि उच्च स्थान से कोई पदार्थ गिरने या किसी पदार्थ के फेंकने से वह उस की जड़ में गिरता है। एवं पक्षी प्रभृति खेचर प्राणी सब आकाशमार्ग में उड़ कर अनायास पृथिवी के साथ साथ चले जाते हैं।"

यह भ्रमूलक आपत्ति किसी काम की नहीं। जब दो पदार्थ एकत्र रहते हैं, तब एक की गति से दूसरे की गति सिद्ध होती है। घोड़े के गमन से अश्वारूढ का गमन सिद्ध होता है। जहाज के गमन से जहाज पर चढ़े व्यक्ति का गमन सिद्ध होता है। एवं शकट की गति से गाड़ी पर सवार का गमन सिद्ध होता है। घोड़ा रथ नौका आदि से यदि कोई पदार्थ भूतल में या जल में गिर पड़े तो जब तक वह भूतल या

जल में नहीं गिरता तब तक अश्व रथादि के साथ साथ समान गति से चला जाता है, इसी कारण स्थिर रथ व अचल नौका से कोई पदार्थ फेंकने से जैसे वह इस रथ व नौका के ठीक नीचे गिरता है। इसी प्रकार सचल नौका व गमनशील रथ से कोई वस्तु गिरने या फेंकने से भी वह ठीक उस के नीचे पड़ता है। इसलिय पृथिवी प्रति-होरा पश्चिम से जितनी दूर पूर्व की ओर जाती है, पृथिवीस्थ सम्पूर्ण पदार्थ का गमन प्रति होरा उतनी ही दूर सिद्ध होता है। स्तम्भ से गिरी हुई ईंट उस के मूल में गिरती है, एवं आकाशस्थ खेचर जीव जन्तु पीछे नहीं पड़ते।

पृथिव्यादि लोकों का भ्रमण

पृथिवी के भ्रमण में युक्तियां लिखी जा चुकी हैं, अब प्रमाण लिखे जाते हैं—

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं महीमपारां सदने ससत्थ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षमर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः॥ ऋग्वेदे ३।३०।९॥

आशय—इसी एक मन्त्र से पृथिवी का चलना एवं सूर्य के आकर्षण पर ठहरे रहना सिद्ध होता है। ऐसा ही अर्थ सायणाचार्य ने किया है। एक स्थान में नहीं ठहरी हुई, एवं चलती हुई अपार पृथिवी को इस प्रकार समानभाव से सूर्य ने धारण किया है, जिस से इस पृथिवी का पतन न हो जावे। इसी प्रकार अन्तरिक्ष और द्युलोक को भी धारण कर रहा है। और भी—

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्॥ अथर्ववेद १२।१।१८॥

आशय—पृथिवी की आह्निक गति के वेग से एवं भूकम्प से बड़ा अनिष्ट होना सम्भव है, सो सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से निरन्तर रक्षा करता है। अर्थात् यदि पृथिवी की गति की अवरोधिका शक्ति सूर्य में न होती तो हमारे लिये अनुक्षण प्रलय का सामान बना रहता। पृथिवी का "ध्रुवा" "अचला" आदि नाम देखकर लोगों को ऐसा निश्चय होता है कि पृथिवी वस्तुतः नहीं चलती है। इस का प्रमाण वेद में इस प्रकार है कि—

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा॥ अथर्व० १२।१।२७॥

आशय—यह मन्त्र पृथिवी सूक्त का है। लिखा है कि जिस पृथिवी में वृक्ष एवं बड़े बड़े वनस्पति आदि अचल ठहरे हुए हैं। इसी कारण अमरकोष वाले ने पृथिवी को अचला लिखा है। यद्यपि पृथिवी चलती है, परन्तु इस पर के पदार्थ स्थिर रहते हैं। पृथिवी अचला वा ध्रुवा नहीं है। पुनः—

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृत्तावृत्ता (वा वृतावृता यह भी पाठ है) सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ।। अथर्व० १२।१।५२।।

आशय—यह जो पृथिवी के दैनिक एवं वार्षिक वृत्ता वृत्ता (Rotation) होने से दिन रात्रि होते हैं और जिस के ३० (दिन) एवं १२ (महीने) धाम हैं, हे ईश्वर ! इन से रक्षा करो। यहां स्पष्टतया "वृत्ता" शब्द से पृथिवी का भ्रमण सिद्ध है। और भी—

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ।। अथ० १२।१।३६।।

आशय—हे भूमे ! तुम्हारी वार्षिक गति के कारण ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु होते हैं। और भी—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ।। यजुर्वेदे अ० ३। म० ६ ।।

आशय—यह पृथिवी जल को प्राप्त होकर अर्थात् जल के सहित अन्तरिक्ष में आक्रमण करती है, अर्थात् अपनी धरी पर घूमती है और सूर्य के भी चारों ओर घूमती है। पुनः—

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुशे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ।।
ऋग्वेदे अ० ८।२। व० १० । मं० १।।

आशय— जो पृथिवी सदा अनन्त रस फल फूलादि पदार्थों से प्राणियों को करती तथा अपने नियम का पालन करती, परमेश्वर को महिमा का उपदेश करती, दानी और अच्छे लोगों को और विद्वानों को नाना प्रकार के सुख देती, अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है।

पृथिवी के अन्यान्य नामों में "गौ" भी नाम है, जिसकी निरुक्ति निरुक्त में की गई है—

गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरं गता भवतीति ।। निरुक्ते २।२५।।

आशय—"गौ" पृथिवी का नाम है, जो दूर तक चलाई जाती है (सूर्य के आकर्षण से)। इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि—

भ्रमतां सर्व जगतां नाभिभूतेन भास्वता ।
समुद्रादिवनोपेता सा रुरोह मही नभः ।।
गगनं चाखिलं ब्रह्मन् सचन्द्रग्रहतारकम् ।
अधोगतं महाभाग बभूवाक्षिप्तमाकुलम् ।। मा० पु० अ० १०६ श्लोक ४२ ।।

अर्थ—सूर्य इस समस्त विचरणशील ज्योतिष्क गणों के नाभि (केन्द्र) स्थान में है और वह जब अपने केन्द्र पर भ्रमण करता है, तब अन्यान्य ज्योतिष्कगण इस की आकर्षण शक्ति से आकृष्ट हो, अपने अपने हिसाब पर घूमते हैं। अतएव समुद्र पर्वत और वनादि समेत यह समस्त पृथिवो घूम के आकाश में चढ़ जाती है और चन्द्र ग्रह तारागण विशिष्ट गगनमण्डल आक्षिप्त और आकुल होके नीचे के भाग में चला आता है। इसी प्रकार आर्यभट्ट ने तो अन्यान्य ग्रहों के भगण वर्णन में पृथिवी का भी भगण लिखा है:—

यगरविभगणाः स्युघृशशिचयगियिङ्शुछ्लृ कुङिशि बुराथृरव्ष्टप्राङ्क ।।
(आर्यसिद्धान्ते देशगीतिकायाम्)

अर्थ—एक महायुग में पृथिवी के १५८२२० भगण पूर्व से पश्चिम चलने में होते हैं। यदि पृथिवी न भ्रमण करती होती तो आर्यभट्ट इस के भगण क्यों लिखते। इस प्राचीन ज्योतिषशास्त्र के विरुद्ध अन्यान्य आधुनिक ज्योतिष के ग्रन्थों में उक्त पृथिवी के भगण को "भू भगण" के स्थान में "भ भगण" (नक्षत्रभगण) लिखे हैं अर्थात् पृथिवी को अचला एवं राशिचक्र वा भचक्र को सचल सिद्ध करने के लिये।

इसी प्रकार आगे चलकर आर्यभट्ट फिर लिखते हैं कि—

प्राणेनैति कलां भूः। आर्यसि० देशगी० आर्या ४ ।।

अर्थ—पृथिवी की गति कलात्मिका (Minte) होती है अर्थात् कला कला करके चलती है। इस पाठ को आधुनिक ज्योतिष के ग्रन्थकारों ने बदल कर अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये ऐसा पाठ कर दिया है—"प्राणेनैति कलां भम्" अर्थात् राशिचक्र (भ=राशिचक्र) कला कला करके चलता है।

यह पाठ ब्रह्मगुप्त के समय तक ठीक था, क्योंकि ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्रह्मसिद्धान्त में पृथिवी के भ्रमण का खण्डन किया है, उस में लिखा है कि—

प्राणेनैति कलां भूर्यदि कुतो व्रजेत् कमध्वानम् ।
आवर्त्तनमूर्व्याश्चेन्न पतन्ति समुच्छ्रयाः कस्मात् ।। ब्रह्मसिद्धान्त अध्याय ११।।

अर्थात्—यदि पृथिवी कला कला करके चलती है तो किस रास्ते से कहां जाती है? यदि पृथिवी चलती है तो कोठे आदि ऊंचे स्थान क्यों नहीं गिर जाते? पुनः आर्यभट्ट लिखते हैं कि:—

अनुलोमगतिनौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायाम् ।। आर्यसि० गोलपाद ।।

अर्थ—जिस प्रकार नौका में बैठा हुआ मनुष्य किनारे की स्थिर चीजों को

दूसरी ओर को चलते हुए देखता है, ऐसे ही मनुष्यों को सूर्यादि नक्षत्र जो स्थिर हैं, पश्चिम की ओर चलते हुए दीखते हैं और पृथिवी स्थिर मालूम होती है, परन्तु वास्तव में भूमि ही चलती है। पुनः आर्यभट्ट लिखते हैं—

भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम् ॥ आर्यसिद्धान्त गोलपाद ॥

अर्थ—सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही वार वार अपनी धुरी पर घूम कर प्रति दिवस इन के उदय और अस्त का सम्पादन करती है और अमरकोष में (अङ्गारकः कुजो भौमो लोहिताङ्गो महीसुतः) मङ्गल ग्रह के नामों में "महीपुत्र" वा "महीज" नाम लिखा है, इसका कारण यही जान पड़ता है कि पृथिवी की कक्षा (भ्रमण मार्ग) के वाद मङ्गल की कक्षा है। इस लिये मही से उत्पन्न मङ्गल को लिखा है, यदि पृथिवी न चलती होती तो उस के भ्रमणमार्ग की व्यवस्था ऐसी क्यों लिखी जाती।

पृथिवी-भ्रमण में अर्वाचीन ग्रन्थकारों की सम्मति

वराहमिहिर ने लिखा है:—

भ्रमति भ्रमस्थिते क्षितिरित्यपरे वदन्ति नोडुगणाः।
यद्येवं श्याना न खात्पुनः स्वनिलयमुपेयुः ॥ ६ ॥

अन्यच्च—

भवेद् भूमेरह्ना भ्रमरंहसा ध्वजादीनाम्।
नित्यं पश्चात् प्रेरणं यथाल्पगा स्यात् कथं भ्रमति ॥७॥ पञ्चसि० अ० १३॥

अर्थ—जिस प्रकार लोहार के भ्रमयन्त्र में स्थित लोहे का गोला घूमता है, उसी प्रकार भ्रमयन्त्र में ठहरी हुई सी पृथिवी घूमती है, नक्षत्रगण नहीं। इस प्रकार वहुत से आचार्यों का मत है, (खण्डन) परन्तु यदि पृथिवी भ्रमण करती तो आकाशगामी पक्षिगण अपने अपने घोंसले को नहीं पाते अर्थात् पृथिवी को घूमती मानें तो पक्षियों के घोंसले (पृथिवी के भ्रमण से) अपनी पहली जगह को छोड़कर दूसरी जगह में हो जावें, इसलिय पक्षिगण अपने घोंसले को नहीं पा सकते और यदि एक ही दिन में पृथिवी का भ्रमण हो तो भ्रमणवेग से कोठे मन्दिरादि की पताकादि का नित्य पश्चिमाभिमुख गमन हो। यदि कहो कि पृथिवी की मन्द गति के कारण ऐसा होता है तो एक ही दिन में मन्द गति से पूरा भ्रमण क्यों कर होता है।

इस के टीकाकार श्री महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी प्रोफेसर (ज्योतिष के) संस्कृत कालिज बनारस लिखते हैं कि:—

एतेन वराहमिहिरेण भूवायुसहितायाः पृथिव्याः प्राग्भ्रमणं न बुद्धमिति ज्ञायते ।।

पुनः—

ध्वजादीनां पश्चिमाभिमुखं सञ्चलनमिदमपि खण्डनं भूवायुसहिताया भूमेः प्राग्भ्रमणेन व्यर्थमेवास्तीति ज्ञेयमिति ।।

अर्थात् इस से मालूम होता है कि वराहमिहिर को पृथिवी का भूवायु के सहित भ्रमण करना समझ में नहीं आया ।

और यह जो पताका का पश्चिमाभिमुख संचलन रूप खण्डन किया है यह भी पृथिवी भूवायुसहित घूमने के खण्डन में व्यर्थ ही है ऐसा जानना इत्यादि ।

इस से पाठकगण भली भांति समझ जायेंगे कि उक्त महामहोपाध्याय जी भी पृथिवी का भ्रमण युक्ति और प्रमाण युक्त समझते हैं एवं इसके पक्षपाती हैं और यह प्राचीन सिद्धान्त है ।

जयति स जगदीशो यस्य नानाविधानामचरचरचयानां निर्मितौ क्वापि नाभूत् ।
कथमपि लघु साध्यं कर्हिचिद् गौरवेण विरचितमिह नूनं चेतनं वा जडं वा ।।

अथ प्राचीनज्योतिःशास्त्राचार्याशयवर्णनम्

इह खलु ग्रहभ्रमणविषये द्वे मते तावत् सुप्रसिद्धे । एकं भूः स्थिरा तामभितश्च सूर्यादयो ग्रहा भ्रमन्तीति । अन्यच्च रविरचलस्तं परितः सभूमयः सर्वे ग्रहाः पर्ययं कुर्वन्ति ।

तत्राद्यमतवादिनः प्रत्येकं ग्रहः पूर्वदिशं चरन् यावता कालेन भुवमभित एकं भगणं पूरयेत् तस्मात् कालादनुपातेन ग्रहस्यैकदिनसम्बन्धिनीं समानां गतिं निश्चित्य तां मध्यमामभिदधानास्तस्याः सकाशादभीष्टकाले खेटस्य भचक्रेऽवगतं स्थानं मध्यमग्रहशब्देन व्यवहरन्ति । एतन्मते रविज्ञशुक्राणां वसुमत्याः समन्तादेकेनैव हायनेनैकं भ्रमणं भवतीति तेषां मध्यमा गतिस्तुल्यैव ज्ञायते । तथैव मध्यमं स्थानमपि ।

अन्त्यमतवादिनस्तु प्रत्येकं खेटस्य सूर्यमभितः परिभ्रमणकालमवगम्य तत्र मते बुधशुक्रयोर्मध्यमे गती स्थाने चाद्यमतीयाभ्यां गतिभ्यां स्थानाभ्यामन्योन्यं च भिद्येते । सूर्यमभितो भगणपूर्तिकालस्य भेदात् । सूर्यभूम्योरन्तरे कदाचिदप्यसंचरतां

कुजजीवरविजानां तु मध्यमगतयः स्थानानि चाद्यमतीयाभ्यो गतिभ्यः स्थानेभ्यश्च न भिद्यन्ते यतस्ते प्रत्येकं तरणिं धरणिं च तुल्येनैव कालेन परिभ्रमन्ति ।

तत्र भारतवर्षीयाः सकलमूलग्रन्थकाराः सर्वे ग्रहास्तरणिं परितो भ्रमन्तीत्यभिप्रत्य ग्रहपातभगणान् निरणायिषतेत्येतदुपपादनार्थमुच्यते ।

द्वयोरपि मतयोर्वादिभिर्विक्षेपकेन्द्रार्थं मन्दस्पष्टे ग्रहे पातस्य योजनमङ्गीक्रियते । ग्रहाणां विक्षेपकेन्द्रमप्युभयत्र समानम् । तत्र ये मध्यमा ग्रहा उभयमतेऽपि समाना अत एव स्वस्वमन्दफलसंस्कृता अपि—

भाषार्थ—

प्राचीन ज्योतिषशास्त्र के आचार्यों का आशय वर्णन

इस भारतवर्ष में ग्रहों के भ्रमण विषय में दो मत हैं। एक पृथिवी अचला और इस के चारों ओर सूर्य एवं अन्यान्य ग्रह भ्रमण करते हैं। दूसरा सूर्य अचल और उस के चारों ओर सब ग्रह भ्रमण करते हैं।

इन में प्रथम मतवादिगण प्रत्येक ग्रह पूर्व दिशा को चलते हुए जितने काल में भूमि के चारों ओर एक भगण पूरा करते हैं, उस काल से अनुपात द्वारा ग्रह के एक दिन सम्बन्धि-समानगति का निश्चय कर, उस की "मध्यमगति" संज्ञा रख एवं उस से इष्ट काल में ग्रह का राशिचक्र में स्थान निश्चय करते हैं, जिस को "मध्यग्रह" कहते हैं। इस मत के अनुसार सूर्य, बुध, शुक्र, पृथिवी का एक ही वर्ष में पूरा भ्रमण होता है। उन की मध्यमगति तुल्य ही बोध होती है। इसी प्रकार मध्यमस्थान भी।

और अन्त्यमतवादिगण तो प्रत्येक ग्रह का सूर्य के चारों ओर काल को जान कर इस मत में बुध, शुक्र के मध्यमगति और स्थान प्रथमवादिगण के गति और स्थान में एक दूसरे से भेद पड़ता है। सूर्य के चारों ओर भगण पूर्त्तिकाल के भेद के कारण से सूर्य और भूमि के अन्तर कभी भी विना चले मङ्गल, बृहस्पति और शनि के मध्यमगति और स्थान प्रथमवादिगण के गति और स्थान से भेद नहीं पड़ता। जिस कारण प्रत्येक ग्रह सूर्य और पृथिवी इन दोनों के चारों ओर परिभ्रमण समान ही काल में करते हैं।

उन में से भारतवर्षीय सब मूल ग्रन्थकारों का यह मत है कि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। इसी अभिप्राय से ग्रह पात भगणों का निर्णय करने के विचार से इस की उपपत्ति कही जाती है। दोनों मतवादिगण विक्षेप केन्द्र के लिये मन्द स्पष्ट ग्रह में पात का योग करना स्वीकार करते हैं। ग्रहों के वि-

क्षेप केन्द्र भी दोनों मतों में समान हैं। उन में जो मध्यम ग्रह हैं, वे दोनों मत में तुल्य हैं। अत एव अपने अपने मन्द फल संस्कृत ग्रह भी—

साम्यं न जहति तेषां पाता मतद्वये तुल्या एव स्युः। विक्षेपकेन्द्रस्योभयत्र तुल्यत्वात्। यथा कुजगुरुशनीनाम्। अत एव तेषां पठिताः पातभगणा अप्युभयत्र समानाः। मध्यमौ बुधशुक्रौ त्वाद्यमते मध्यमसूर्यतुल्यौ। अन्त्यमते च मूलग्रन्थोक्तशीघ्रोच्चसमानौ यत एतन्मते बुधस्य किंचिदूनाष्टाशीति सावनदिनैरेकं भगणं पूरयतः प्रत्यहं स्वकक्षायां द्वात्रिंशद्विकलाधिकपञ्चचत्वारिंशदुत्तरशतद्वयमितकलारूपा गतिः शुक्रस्य चेषन्न्यूनैः पादोनतत्त्ववदस्त्रैः कुदिनैरेकं पर्ययं कुर्वतोऽनुदिनं निजमार्गे विकलाष्टकाधिकषण्णवतिकलात्मिका मूलग्रन्थेषु तत्तच्छीघ्रोच्चगतित्वेनोपन्यस्तेति तयोः पातौ नोभयमते तुल्यौ। विक्षेपकेन्द्रस्य तुल्यत्वेऽपि मध्यमस्य भेदात्। अतएव तयोः पातभगणाभ्यां मध्येनोभयत्र तुल्याभ्यां भाव्यम्। तावेतौ पातावस्मन्मूलग्रन्थकारैर्मन्दस्पष्टयोर्बुधशुक्रयोर्न प्रक्षिप्येते। अपि तु मन्दफलसंस्कृते तत्तच्छीघ्रोच्च इत्यतः स्फुटमेतदवगम्यते यत् पठितेभ्यः सूर्यकेन्द्रकभ्रमणभगणाविरुद्धेभ्यो भगणेभ्य उत्पन्नेषु मध्यमेषु कुजजीवरविजेषु प्रक्षेपयोग्यं तद्विरुद्धेभ्य उत्पन्नयोश्च बुधभार्गवयोः प्रक्षेपायोग्यं तत्तच्छीघ्रोच्चे च प्रक्षेपयोग्यं पातं साधयन्तः पठिता ग्रहपातभगणा मूलोक्तबुधशुक्रशीघ्रोच्चरूपमध्यमबुधशुक्रसम्पादकतरणिकेन्द्रकभ्रमणवादिमतीया इति। कथमन्यथा मध्यमबुधशुक्रप्रक्षेपयोग्याः पातसम्पादकाः शीघ्रकेन्द्रभगणाधिकाः पातभगणा न पठ्येरन्। अतएव भौमादीनां पञ्चानामपि ग्रहाणां सूर्यकेन्द्रकं भ्रमणं मूलकाराणामभिमतमित्यवसीयते। अन्यथा तन्मतीयपातभगणपठनानौचित्यात्।

ननु ज्ञशुक्रयोः सूर्यकेन्द्रकं भ्रमणमस्तु मूलकाराणामभिमतम्। आद्यमतविरुद्धानां तयोः पातभगणानां पठनात्। कुजजीवरविजानां तु भूमिकेन्द्रकमेव स्यान्न सूर्यकेन्द्रकम्। तत्पातभगणानामाद्यमताविरुद्धत्वादिति चेन्न। रविकेन्द्रकभ्रमणास्वीकारे सूर्यस्य भौमादिशीघ्रोच्चत्वानुपपत्त्या रविकेन्द्रकभ्रमणस्यैव मूलकाराभिप्रेतत्वात्।

भाषार्थः—तुल्यता नहीं छोड़ते उन के पात दोनों मतों में तुल्य ही हैं। विक्षेपकेन्द्र दोनों मतों में तुल्य होने के कारण। जिस प्रकार मङ्गल, गुरु एवं शनि का। अत एव उन के कहे हुए पात भगण भी दोनों मतों में तुल्य हैं। मध्यम बुध और शुक्र तो आद्य मत में मध्यम सूर्य के तुल्य हैं और अन्त्यमत में तो मूल ग्रन्थोक्त शीघ्रोच्च के समान हैं। जिस कारण इस मत में बुध का कुछ न्यून ८० सावन दिन में एक भगण पूरा होता है। प्रतिदिन अपनी कक्षा में २४५ कला ३२ विकला चलता है और शुक्र तो कुछ न्यून २४२ सावन दिन में एक वार घूम आता है और प्रतिदिन अपने मार्ग में ९६ कला ८ विकला चलता है (अपनी धुरी पर) मूल ग्रन्थों में

उस को शीघ्रोच्चगति कहकर लिखा है, उन के पात दोनों मतों में तुल्य नहीं हैं। विक्षेप केन्द्र के तुल्यत्व में भी मध्यम के भेद के कारण। अतएव दोनों के पात एवं भगण द्वारा भो दोनों मतों से दोनों तुल्य नहीं होना चाहिये। ये दोनों पात हमारे मूल ग्रन्थकारों द्वारा मन्द और स्पष्ट के बुध और शुक्र के प्रक्षिप्त नहीं किये जाते हैं, अर्थात् इनका प्रक्षेप नहीं होता।

प्रत्युत मन्दफल संस्कृत में उस उस शीघ्रोच्च में साफ साफ जान पड़ता है जो कहे हुए सूर्यकेन्द्रक भ्रमणभगण अविरुद्ध भगण से उत्पन्न मध्यम मङ्गल बृहस्पति, सूर्य में प्रक्षेप योग करना और उस के विरुद्ध उत्पन्न बुध और शुक्र के प्रक्षेप को नहीं जोड़ना और उस के शीघ्रोच्च में प्रक्षेप योग करना पात को स्थिर करता हुआ कहे हुवे ग्रहपात भगण मूलोक्त बुध, शुक्र शीघ्रोच्च रूप मध्यम बुध, शुक्र सम्पादक सूर्यकेन्द्रक भ्रमण वादिगण के मतानुसार हैं। नहीं तो क्यों नहीं मध्यम बुध, शुक्र प्रक्षेप योगपात सम्पादक शीघ्रोच्च केन्द्र भगण अधिक पात भगण कहने चाहियें। इस लिये भौमादि ५ ग्रहों के सूर्यकेन्द्रक भ्रमण मूलग्रन्थकारों का अभिप्राय था। नहीं तो उनके मतानुसार पातभगण लिखना अनुचित था। मान लो कि बृहस्पति शुक्र का सूर्यकेन्द्रक भ्रमण मूलग्रन्थों का अभिप्राय हो। आद्यमत के विरुद्ध उन के पातभगण पाठ से। मङ्गल बृहस्पति एवं शनि का तो भूमिकेन्द्रक ही हो, सूर्यकेन्द्रक नहीं, यदि उस पातभगण के आद्यमत के अविरुद्ध हो सो नहीं। सूर्यकेन्द्रक भ्रमण न मानने से सूर्य के भौमादि शीघ्रोच्चत्व की अनुपपत्ति द्वारा सूर्यकेन्द्रक भ्रमण मूलग्रन्थकारों के अभिप्राय से। तथाहि—

भूमेरतिदूरो ग्रहकक्षायाः प्रदेशो ग्रहस्य शीघ्रोच्चम् ।
'उच्चस्थितो व्योमचरः सुदूरे नीचस्थितः स्यान्निकटे धरित्र्याः ।'

इत्युक्तत्वात् कक्षान्तर्गताया भूमेर्निर्गतया केन्द्रं स्पृशन्त्या रेखया स्पृष्टः कक्षाप्रदेश एव च भूमेर्दूरतरः स च रवेः केन्द्रगतत्वाभावे रविसम्मुख एव किमिति स्यात् केन्द्रातिरिक्तस्थलस्थस्य रवेः केन्द्रसमानगतिकस्य मूलकृदभिप्रेतत्वकल्पनमपेक्ष्य तु रवेरेव केन्द्रत्वकल्पनाया लघीयस्या मूलकृदभिप्रेतत्वकल्पनमुचितम् ।

न च सूर्यमभितो ग्रहभ्रमणमभिप्रयतामाद्याचार्याणां भूमिं परितो भ्रमणप्रदर्शनमसंगतमिति वाच्यम् । लोकप्रतीत्यनुसृतये लाघवेन गोलस्थित्यवगतये च सूर्यधर्माणां धरण्यामारोपणस्य तैरङ्गीकरणात् ।

तदेवमारोपरसिका आचार्या बोधलाघवं लोकप्रतीतिं चानुसरन्त एव कल्पनालाघवेन सिद्धेऽपि तरणिसहितस्य भपञ्जरस्य धरण्याश्चाचलत्वचलत्वे अन्योन्यस्मिन्नारोप्यैव तरणिं भचक्रं च चलं धरणिं चाचलां वर्णयांचक्रुरित्यपि प्रतीयते। भवति हि लाघवमयं रविः प्रातस्तत्रस्थ इदानीमत्रास्तीति बोधयितुम् । जानन्ति

चैवमेव लोकाः । एवं रवे राश्यन्तरसंचारमपि । कल्पनायां तु भवत्येव तरणेर्धरणि परितो भ्रमणस्याङ्गीकरणे तरणिं परिभ्रमतां व्योमचारिणामपि भुवमभिभ्रमणमनायत्या स्वीकृतमिति गौरवम् । मतान्तरे च धरणेरेकस्या एवेति लाघवम् ।

तदेवं भूमेर्मूलोक्तस्य भचक्रभ्रमणस्य सजातीयं स्वाक्षं परितो भ्रमणं रविभ्रमणस्य सजातीयं क्रान्तिवृत्ते भ्रमणं च मूलकाराणामभिप्रेतमिति सिद्धम् ।

स एष विषयोऽर्वाचीनैर्ग्रन्थकारैर्न व्यज्ञायि । यतस्तेषु केचन कुजगुरुरविजेषु पातं संयोज्य साधिताद् विक्षेपकेन्द्राच्छरस्यानयनमुपलब्ध्यतिरिक्ता—

भाषार्थः—उसी प्रकार, भूमि से अतिदूर ग्रहकक्षा का प्रदेश ग्रहों का शीघ्रोच्च होता है ।

"उच्चस्थित आकाशगामी अत्यन्त दूर में एवं नीचस्थित होने पर पृथिवी के निकट" ऐसा कहने से कक्षान्तर्गत भूमि से निकली केन्द्र को छूती हुई रेखा से स्पर्श करता हुआ कक्षाप्रदेश ही भूमि से अधिकतर दूर है और वह सूर्य के केन्द्रगतत्व के अभाव में सूर्य सम्मुख हो क्यों हो । केन्द्रातिरिक्तस्थ स्थल का सूर्य के केन्द्र समानगतिक का मूलग्रन्थकार के अभिप्राय की कल्पना की अपेक्षा करके सूर्य ही केन्द्रत्व थोड़ी कल्पना करके मूलग्रन्थकार का अभिप्राय कल्पना उचित था और न सूर्य के चारों ओर ग्रहभ्रमण प्रदर्शन असङ्गत है, ऐसा कहना चाहिये । लोक की प्रतीति का अनुसरण करने के लिये एवं थोड़े उपाय से गोलस्थित समझने के लिये सूर्यधर्म (अचल होना) पृथिवी में आरोपण करके उन के मानने से । इस प्रकार आरोपण करने वाले आचार्य बोधलाघव और लोकप्रतीति का अनुसरण करते हुवे लघुकल्पना मात्र से सिद्ध हुवे सूर्यसहित राशिचक्र और पृथिवी के अचलत्व और चलत्व का एक दूसरे में आरोपण कर सूर्य एवं राशिचक्र को सचल और पृथिवी को अचला वर्णन किया है ऐसा जान पड़ता है । यह लाघव भी है कि प्रातःकाल सूर्य यहां है, अब वहां है इत्यादि । इस प्रकार समझना सहज है । लोक भी ऐसा ही जानते हैं । इसी प्रकार एक राशि से दूसरी राशि में जाना (लोक में व्यवहार है कि इस मास में सूर्य मेष राशि में है पुनः वृष में जायेगा इत्यादि) कल्पना की जाती है (वस्तुतः नहीं) कल्पना कर लेने से कि पृथिवी के चारों ओर सूर्य भ्रमण करता और सूर्य के चारों ओर ग्रहादिक भ्रमण करने वाले पृथिवी के चारों ओर भ्रमण करते हैं । इस प्रकार अङ्गीकार करने से "गौरव" (समझना कठिन) है । किसी के मत में पृथिवी ही का भ्रमण लाघव है । सो इस प्रकार भूमि का मूल ग्रन्थोक्त भचक्र भ्रम का सजातीय अपने अक्ष पर परिभ्रमण करना और सजातीय क्रांतिवृत्त में भ्रमण करना मूलग्रन्थकार का अभिप्राय सिद्ध है । सो इस विषय को नवीन ग्रन्थकारों ने नहीं समझा

जिस कारण उन में कोई कोई मङ्गल, गुरु, शनि में पात को जोड़ कर साधित विक्षप केन्द्र से शर का लाना –

उपपत्तिसहितं मन्यमाना बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चे पातप्रक्षेपेण शरानयनमुपलब्ध्यतिरिक्तोपपत्तिरहितमवगम्य बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चस्थाने यावान् विक्षेपस्तावानेव यत्र कुत्र स्थितयोरपि तयोर्भवतीत्यत्रोपलब्धिरेव वासनेत्याहुः । अन्ये च बुधशुक्रयोर्मूलग्रन्थेषु पठितान्वास्तवानपि पातभगणानवस्तुभूतान्स्वल्पतया सुखमात्रार्थकांश्चाहुः । दैवगत्यार्यभटस्य बुद्धिपथमारूढम् —

अनुलोमगतिनौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत्समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥

इत्यादिना प्रकाशितमपि भचक्रस्याचलत्वं क्षोण्याश्च स्वाक्षं परितो भ्रमणम् ब्रह्मगुप्तः—

"आवर्तनमुर्व्याश्चेन्न पतन्ति समुच्छ्रयाः कस्मात्" इत्यनेन भ्रमणप्रारम्भोत्तरकाले संयुक्तानां पृथ्व्याकृष्टानां वस्तूनां पतनाभावमजानन् प्रारम्भकालिकभ्रमणस्वभावमेवावगच्छन्नपालपत् । लल्लश्च—

यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः ।
इषवोऽपि नभः समुज्झिता निपतन्तः स्युरपांपतेर्दिशि ॥
पूर्वाभिमुखे भ्रमे भुवो वरुणाशाभिमुखो व्रजेद्घनः ।
अथ मन्दगमात्तथा भवेत्कथमेकेन दिवा परिभ्रम ॥

इत्यनेन भूवायुसहितायाः क्षितेर्भ्रमणमजानन् । श्रीपतिश्च —
यद्येवमम्बरचरा विहगाः स्वनीडमासादयन्ति न खलु भ्रमणे धरित्र्याः ।
किञ्चाम्बुदा अपि न भूरि पयोमुचः स्युर्देशस्य पूर्वगमनेन चिराय हन्त ॥
भूगोलवेगजनितेन समीरणेन केत्वादयोऽप्यपरदिग्गतयः सदा स्युः ।
प्रासादभूधरशिरांस्यपिसंपतन्ति तस्माद्भ्रमत्युडुगणस्त्वचलाऽचलैव ॥
इत्यनेनोभयमप्यजानन् ॥

भाषार्थः — उपलब्धि को छोड़कर उपपत्ति सहित मानने वाले बुध शुक्र के शीघ्रोच्च में पात प्रक्षेप द्वारा शर का लाना उपलब्धि को छोड़कर उपपत्तिरहित जान कर बुध शुक्र के शीघ्रोच्च स्थान में जितने विक्षेप हैं उतना ही विक्षेप जिस किसी स्थान का हो उन दोनों का होता ही है । इस में उपलब्धि ही उपपत्ति है ।

बहुत से लोग बुध शुक्र को मूलग्रन्थ में पढ़े हुए वास्तविक पातभगणों को न्यूनतया सुखपूर्वक समझने के लिये कहा है ऐसा कहते है । दैवगति से आर्यभट्ट बुद्धिपथ पर आरूढ लिखते हैं—

"जिस प्रकार नौका में बैठे हुए मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अचल (ठहरी हुई) वस्तुएं उलटी ओर को चलती हुई दिखलाई देती हैं। ऐसे ही पूर्व की ओर को चलती हुई पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को अचल (स्थिर) तारे भी पश्चिम को जाते हुए दिखलाई देते हैं।"

इत्यादि द्वारा पृथिवी का भ्रमण एवं राशिचक्र का अचलत्व प्रकाशित करने पर भी ब्रह्मगुप्त ने, समझकर नहीं लिखा है कि—

"यदि पृथिवी भ्रमण करती तो कोठे आदिक ऊंची वस्तु क्यों नहीं गिरतीं"

इस से भ्रमण प्रारम्भोत्तर काल में पृथिवी की आकर्षणशक्ति से इस के ऊपर की वस्तु नहीं गिरतीं, इस बात को न समझकर प्रारम्भकालिक भ्रमण स्वभाव ही को केवल सुनकर लल्ल ने लिखा है कि—

"यदि पृथिवी भ्रमण करती है तो पक्षिगण अपने घोंसले को क्योंकर पहुंचते हैं? आकाश में छोड़े हुए बाण पश्चिम दिशा की ओर गिरें? पूर्व की ओर पृथिवी का भ्रमण होता है तो मेघ पश्चिम की ओर चले। यदि कहो कि पृथिवी की मन्द-गति से ऐसी घटना होती है तो एक ही दिवस में वह अपने अक्ष पर क्योंकर भ्रमण करती है?"

इत्यादि द्वारा भूवायुसहित पृथिवी के भ्रमण को न समझकर श्रीपति ने लिखा है कि:—

यदि पृथिवी चलती है तो खेचर पक्षिगण अपने अपने घोंसले को क्योंकर पहुंचते हैं? और मेघ वार वार नहीं वर्षता। देश के पूर्व गमन से भूगोल के वेग से, वायु द्वारा पताका भी दूसरी दिशा में हो जातीं और कोठे पहाड़ की चोटियां टूट कर गिर जातीं इस लिये नक्षत्रगण भ्रमण करते हैं, पृथिवी अचला ही है।

ननु तरणिमभितो धरणेः क्रान्तिवृत्ते भ्रमणे स्वीकृते खेरिव नक्षत्राणामपि स्थिराणामुदग्दक्षिणायनं ध्रुवतारोन्नतिभेदश्चोपलभ्येत। न चापरिमेयां भचक्रदूरतामपेक्ष्य धरणिभ्रमणमार्गस्यात्यन्तमणुतया न तथोपलब्धिरिति वाच्यम्। भकक्षादूरतायाः षष्टिगुणरविकक्षादूरत्वतुल्याया एव।

"भवेद् भकक्षातीक्ष्णांशोर्भ्रमणं षष्टिताडितम्"। इत्याद्यागमाभिहितत्वादिति चेन्न। छेद्यके कक्षावृत्ते प्रतिवृत्ते चैकस्यामेव दिशि मेषादिस्थितिमाद्याचार्याणामपरिमेयस्यैव भचक्रदूरत्वस्याभिमततया तद्विरुद्धमुपपत्तिशून्यं दूरत्वं बोधयतस्तस्य वचनस्यानभिज्ञप्रक्षिप्ततायाः स्फुटमेव प्रतीयमानत्वादिति शम्।

प्राचीनज्योतिषाचार्यवर्याणामेवमाशयः।
बापुदेवाभिधानेन यथाबुद्धि प्रदर्शितः॥

इदमाशयवर्णनं मया गजनागाद्रिकुसम्मिते शके।
रचितं सुहृदां महीभ्रमभ्रमिणां गोलविदां विदां मुदे ।। इति

भाषार्थः—सूर्य के चारों ओर पृथिवी का क्रान्तिवृत्त में भ्रमण मानने से सूर्य की नाईं स्थिर नक्षत्रों का भी उत्तरायण एवं दक्षिणायन एवं ध्रुवतारा की उन्नति-भेद प्रतीत होवे। और न भचक्र की अपरिमेय दूरता की अपेक्षा पृथिवी के भ्रमण मार्ग की तुलना अणुमात्र है इसलिये उस प्रकार प्रतीत नहीं होता ऐसा कहना चाहिये।

राशिचक्र की कक्षा की दूरता से ६० गुणा सूर्यकक्षा की दूरता की तुलना है। "सूर्य की कक्षा भ्रमण ६० गुण भचक्र की कक्षा से होता है" इत्यादि शास्त्रोक्त होने से, ऐसा यदि कहो, सो नहीं। प्रवृत्त छेद्यक कक्षावृत्त में एक ही दिशा में मेषादि स्थिति आद्य आचार्यों का अपरिमेय भचक्र की दूरता के अभिप्राय होने से—उसके विरुद्ध उपपत्तिशून्य दूरत्व समझाने के लिये यह वचन साफ साफ प्रक्षिप्त है।

प्राचीन ज्योतिषशास्त्र के आचार्यवर्यों ही के आशय को वापूदेव शास्त्री ने अपनी बुद्धि अनुसार दिखलाया और यह आशय वर्णन मैंने शाके १७७८ में गोल-विद्यावित् सज्जनों के लाभ के लिये जिन्हें महीभ्रमण में भ्रम होता है लिखा।

युग+कल्प

काल

यद्यपि बहुत लोग यह भी कह सकते हैं कि काल ही धर्म की हानि और वृद्धि का कारण है। जैसा कि अनेक संस्कृत के ग्रन्थों में लिखा है कि "कलिकाल में सनातन आर्यधर्म नष्ट होके विविध पाखण्ड मत प्रवृत्त होंगे" इसी प्रकार इन दिनों देख भी रहे हैं कि आर्यधर्म उच्छिन्न होता जाता है तो कहिये क्या अब आर्य-धर्म की उन्नति हो सकती है? इत्यादि कह कर कितने पण्डित धर्मोन्नति से उपेक्षा करते हैं, परन्तु यह एकमात्र उन की आलस्यपरायणता ही है और अपने आलसी चित्त को उक्त वचनों का झूठा सहारा दे कुपथ में गेरना है।

हम पूछते हैं कि शास्त्र की किस बात को लेके कलिकाल में धर्म की हानि पुकार रहे हैं? क्या केवल काल ही धर्महानि का कारण है या और भी कुछ? यदि काल ही है तो यह साधारणरूप से धर्म का ह्रास करता है, अथवा कलित्व धर्म के संयुक्त होने से? प्रथम तो काल कुछ एक स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं है, जो उस की किसी कार्य के प्रति कारणता वा अकारणता मानी जाय, क्योंकि "अधिक काल और न्यून काल" इत्यादि व्यवहार पृथिवी के भ्रमणवशात् सूर्य के परिस्पन्द क्रिया

ही की अधिकता वा न्यूनता हो जायगी । जो पृथिवी की चलनक्रिया अपेक्षाकृत कुछ अधिक हो गई है, वही अधिक काल एवं जब वह न्यून है, वही न्यूनकाल कहा जायगा । सुतरां और और व्यवहार भी सब इसी प्रकार सम्पन्न हो जायंगे, फिर कहिये काल क्या कुछ वस्तु शेष रहा ? सुतरां पृथिवी की चलन क्रियासमूह का नाम काल रहा और परिस्पन्द क्रिया तो सत्ययुग से आज तक सदा एक ही रूप से चली आती है, पुनः उस समय धर्महानि नहीं हुई और अब ही हुई, इस का विशेष कारण कुछ काल ही को नहीं कह सकते। हां, जिस प्रकार सभी पदार्थ जो जगत् में उत्पन्न होते हैं, उन के प्रति दिशा प्रागऽभाव एवं ईश्वरादि (वैशेषिकशास्त्रोक्त) कारण होते हैं । इस प्रकार काल भी एक साधारण कारण है । यह ईश्वरीय नियम अनादिकाल से एक प्रकार से चला आता है । क्या सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलि, क्या मन्वन्तर और कल्प—सब समयों में जिस प्रकार ईश्वरोय नियम से स्वभावतः जल में शीतलता, अग्नि में उष्णता आदि गुण हैं, इसी प्रकार जितने पदार्थ हैं सभी के लिये उन के अविचल नियम हैं । हम इस का प्रमाण देते हैंः—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् । ऐ० ब्रा० ३३।१५॥

अर्थात्—धर्म के कामों में मनुष्य जब तक (शयानः) आलस्य किये पड़ा रहता है तब तक उस मनुष्य को कलि संज्ञा है । जब आलस्य को त्याग देता है तब वह द्वापर कहलाता है । जब कमर बांध के धर्म के कामों में खड़ा होता है तब वह त्रेता कहलाता है और जब धर्म को यथावत् रीति से सेवन करता है तो वह सत्ययुग कहलाता है ।

पाठक ! देखिये यहां उक्त प्रमाण से कलित्व आदि धर्म स्पष्ट स्पष्ट मनुष्य ही में प्रतिपादन किये गये हैं कुछ काल में नहीं, तथा मनुष्यों ही के कारण उक्त धर्म काल में भी कहे जा सकते हैं । अतएव काल ही केवल धर्म वा कार्य की हानि वृद्धि में मुख्य कारण होता नहीं है, वरन मनुष्यों की शिथिलता आलस्य वा उद्योग का अभाव ही हानि का कारण होता है ।

अनेक लोगों का कथन है कि ऋतु के स्वाभाविक गुण ऋतु में अवश्य ही होते हैं, किसी के टाले नहीं टलते । इस लिये सत्ययुग आदि में जो धर्मवृद्धि और ह्रास आदि गुण हैं वे अवश्य ही होंगे । हम कहते हैं कि कहने वाले को अपने आप न सोचना चाहिये कि ऋतुओं के परिवर्त्तन में भी सूर्य की गति एवं तत्तद्देश विशेष आदि अन्यान्य कारण हैं, जिन की कार्य कारणता से ऋतुओं में तत्तद्गुण प्राप्त हो सकते हैं । साईबेरिया प्रदेश में क्यों वसन्त ऋतु नहीं आता ? अथवा इङ्गलेण्ड देश में यहां की नाईं ग्रैष्मिक अन्न क्यों नहीं उत्पन्न होते ? अत एव सिद्ध हुआ कि कालकृत कार्यों में हानि वा वृद्धि नहीं होती । जिस प्रकार दिन रात महीना वर्ष

आदि काल की संज्ञा है इसी प्रकार सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि आदि काल की संज्ञा हैं। प्राण, नाड़ी दण्ड आदि का वर्णन पूर्ण रीति से सू० अ० १ में किया गया है। इसलिये यहां उस के परिमाण का वर्णन नहीं होगा, परन्तु वेदों के प्रमाण मात्र दिये जावेंगेः—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ॥ ऋ० १०।६७।१॥

ऋग्वेद में अनेक स्थानों में (१।३६।८, १।१५८।६, १।१८४।३, ३।२६।३; ३।३३।८ आदि) युग शब्द आया है, परन्तु कृत, त्रेता, द्वापर, कलि (सपरिमाण) के विभाग क्रम से नहीं आया। सामान्यतः कालवाची हैं। जो ओषधियां पूर्व तीनों युगों में विद्वानों द्वारा जानी गई हैं। अर्थात् वेद में युग का नाम तो नहीं आया है, परन्तु युगों के वर्ष संख्या परिमाण दिये हैं—

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ॥ अथर्व ८।२।२१॥

अर्थात्—१२००० दिव्य वर्ष रूप युग के दशवें भाग को चार तीन दो एक से गुणा करने पर क्रम से सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की दिव्यवर्ष संख्या होगी। (देखो सूर्यसिद्धान्त अ० १)

मनुस्मृति में भी युग काल विशेष का नाम माना है जैसाः—

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रत् द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ मनुस्मृति ९।३०१-३०२॥

अर्थ—इस का अर्थ उसी प्रकार है, जैसा कि ऐ० ब्रा० ३३।१५ का किया गया है।

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम् ॥ यजुर्वेद उ० अ० ३०।१८॥

कृताय सभाविनं । त्रेताया आदिनवदर्शं । द्वापराय बहिस्सदं । कलये सभास्थाणुं ॥ तै० ब्रा० ४।३।१॥

भाषार्थः—इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी चार युगों का उल्लेख है, परन्तु द्यूतक्रीडार्थ पाशों का भिन्न भिन्न अवस्थान मात्र है। एवं तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।१। १६ में भी चारों युगों का नाम द्यूत क्रीडार्थ पाशों के नाम में आया है। छान्दोग्योपनिषद् ४।१।४ में केवल कृतयुग का उल्लेख है। सामवेदीय षड्विंश ब्राह्मण में लिखा है कि चन्द्रकला से युग चतुष्टय कहे ये प्राचीन नाम प्रचरित हुए हैं। १००० सहस्र चतुर्युग का जो एक कल्प होता है उसका प्रमाणः—

एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र । अथर्व० १०।७।९॥

एक कालरूपी अङ्ग १००० हिस्सों में विभक्त किया है। पुनः कल्प के बाद सृष्टि होती है उस का प्रमाण—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥ ऋग्वेद १०।१९॥

अर्थात् जिस प्रकार पूर्व (गत) कल्प में सूर्य चन्द्रमा आदि की रचना ईश्वर ने की थी उसी प्रकार इस वर्त्तमान कल्प में भी की है।

रूपकालङ्कार से—सृष्टि काल के परिमाण के वर्णन में ज्योतिष में लिखा है कि १४ मनु और १ सन्धि सहित १५ मन्वन्तरों का एक कल्प वा ब्राह्मदिन और उतने ही की रात्रि अर्थात् ३० मन्वन्तरों का एक ब्राह्म अहोरात्र होता है अर्थात् जिस प्रकार हमारे सौरमान से १५ मुहूर्त्त का दिन एवं १५ मुहूर्त्त की रात्रि होती है उसी प्रकार एक एक मन्वन्तर का एक एक ब्राह्म मुहूर्त्त होता है और जिस प्रकार हमारी आयु १०० वर्ष की है इसी नियम से ब्राह्म अहोरात्र के परिमाण से १०० ब्राह्मवर्ष सृष्टि की आयु होती हैं अर्थात् महाप्रलय होता है। प्रत्येक मन्वन्तर में जो सन्ध्या और सन्ध्यांश हैं, वह इस प्रकार समझना चाहिये कि जिस प्रकार ६० घड़ी का मानुषी दिन रात होता है इस का छठा भाग १० घड़ी हुआ जिस में ५ घड़ी प्रातःकाल सन्ध्यांश और सायङ्काल ५ घड़ी सन्ध्या कहलाती है, इसी प्रकार सत्ययुग आदि प्रत्येक युग में उस उस दिव्य वा मानुषवर्ष संख्या का छठा भाग सन्ध्या सन्ध्यांश कहाता है।

प्रलय

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के अनेक क्रम हैं, अर्थात् महाप्रलय के बीच में जितने जितने प्रलय अवान्तर प्रलय होते हैं, उन सब का क्रम पृथक् पृथक् है परन्तु जैसा एक महाप्रलय के अवान्तर प्रलय का क्रम होता है वैसा ही प्रत्येक महाप्रलय में उन उन अवान्तर प्रलय का क्रम रहता है। प्रत्येक मन्वन्तर की समाप्ति में जब जल से अवान्तर प्रलय होने पर आता है तब वर्षों तक बराबर मूसलाधार वृष्टि होती है जिस में पर्वतादि भी जलमय हो जाते हैं। द्वितीय मन्वन्तर का फिर आरम्भ होता है तब फिर जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां, उन से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीरों की उत्पत्ति होती है अर्थात् यह प्रत्येक मन्वन्तर के आदि अन्त का प्रलय जल से होता है इस में पृथिवी और पार्थिव शरीर मात्र का प्रलय हो जाता है। जल, अग्नि, वायु और आकाश बने रहते हैं। १७२८००० वर्ष में आधा समय पहिले मन्वन्तर की समाप्ति में सन्ध्या और आधा समय आगामी मन्वन्तर का सन्ध्यांश (प्रातः काल) समझा जाता है। इतने समय तक पृथिवी सर्वथा जलमय हो जाती है।

आशय यह है कि मन्वन्तरों की आरम्भ समाप्ति में अवान्तर प्रलय जल से और मन्वन्तर के आरम्भ में जल से ही सृष्टि का आरम्भ होता है और ब्राह्मकल्प में अग्नि से प्रलय होता है। अग्नि से ही सृष्टि का फिर आरम्भ होता है और महाप्रलय में वायु तथा आकाश से प्रलय होता है और महाकल्प के पश्चात् फिर वायु तथा आकाश से सृष्टि का आरम्भ होता है। आत्मा से आकाश और आकाश से वायु की उत्पत्ति जो शास्त्रों में दिखाई है उस का अभिप्राय परमेश्वर से सृष्टिक्रम दिखाने का है। वस्तुतः आकाश भी एक तत्त्व अग्नि, वायु आदि के समान ही उत्पन्न वा नष्ट होने वाला है। केवल भेद इतना ही है कि जैसे अग्नि की अपेक्षा वायु सूक्ष्म होने से देखने में नहीं आता वैसे वायु से भी अधिक सूक्ष्म तत्त्व आकाश है। इस कारण वह स्पर्शन इन्द्रिय से ज्ञेय नहीं। आकाश का गुण शब्द है वह शब्द जिस में रहता तथा जहां से प्रकट होता वही आकाश द्रव्य है। यद्यपि किन्हीं लोगों का यह सिद्धान्त है कि आकाश कोई द्रव्य नहीं, उस के उत्पत्ति नाश भी नहीं होते, इस पक्ष में वायु तक का ही प्रलय माना जायगा तथापि वायु आदि के तुल्य आकाश को द्रव्य वा तत्त्व मानकर उस के उत्पत्ति नाश मानने का पक्ष ठीक मालूम होता है और वायु की गति का कारण प्रायः अग्नि है। वायु में हलकापन आ जाता है इसी से ग्रीष्मकाल में वायु की गति अधिक और शीतकाल में भारीपन रहने से वायु की गति वैसी तेज नहीं होती है। हलका ही पदार्थ अधिक चलायमान होता और भारी पदार्थ अधिकांश में स्थिर होता है। जैसे भारी गम्भीर मनुष्य की बुद्धि स्थिर और हलके की चपल बुद्धि होती है। तृण उड़ जाते और पत्थर नहीं उड़ता है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्य तत्त्वों का संघर्षण न हो और अग्नि वायु को हलका न करे तो वायु का चलना ही न हो तथा वायु सर्वत्र व्यापक है तभी पखा हिलाने से चलने लगता है। जैसे जल सर्वत्र भरा हो और एक स्थल से जल लिया जावे तो उस स्थल में इधर उधर से जल गिरेगा ऐसे ही सर्वत्र भरे वायु को जहां जहां अग्नि हलका करता है वहां वहां अन्यत्र से वायु गिरता है इस लिये उस में गति होती है। जब अग्नितत्त्व का प्रलय हो जावे तब वायु की गति होना भी दुस्तर है अर्थात् अग्नि के प्रलय में वायु अपने कारण आकाश में स्वयमेव लीन हो जाता है। इस लिये जल, अग्नि, वायु, आकाश इन ही तत्त्वों से तीन ही प्रकार का प्रलय होता है। जब जब जिस जिस तत्त्व से प्रलय होता है, तब तब उसी तत्त्व से फिर सृष्टि का आरम्भ होता है।

ऋतु

पृथिवी के परिभ्रमण काल में उसके मेरुदण्ड वा कल्पित व्यास सम्यक् लम्बमान रहकर कुछ तिर्यक्रूप से स्थिति करता है, इसी कारण समय समय पर पृथिवी

पर सूर्य के तेज का न्यूनाधिक्य होता रहता है। अत एव ऋतुपरिवर्त्तन हुआ करता है।

पृथिवी स्वभावतः किञ्चित् वक्रभाव से नित्य ही भ्रमण करती है। किसी समय भी इस भाव अर्थात् वक्रता को नहीं छोड़ती। सुतरां सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती करती किसी किसी समय सूर्य सम्वन्ध में इस का मेरु देश एक वार उन्नत और एक वार अवनत हो जाता है। कोई पदार्थ तिर्यक्रूप से एक भाव से निरवलम्ब होकर चक्राकार वा वृत्ताभास पथ में परिभ्रमण करने से वह चक्र वा वृत्ताभास के केन्द्र सम्वन्ध में उस का शिरोभाग और अधोभाग अवश्य ही एक वार उन्नत एवं अवनत होता है, ऐसी प्रतीति होती है।

पृथिवी अपनी कक्षा पर कुछ तिर्यक्भाव से नित्य भ्रमण करते करते इस का मेरु प्रदेश एक वार सूर्य के सम्मुख एवं एक वार सूर्य के परोक्ष में उपस्थित हो जाता है इस से सिद्ध होता है कि पृथिवी के ईषत् तिर्यक्भाव से अवस्थिति करने एवं इस की वार्षिक गति द्वारा ऋतु सब वार वार प्रत्यागमन करते और परिवर्त्तित होते हैं।

यदि पृथिवी सूर्य का परिभ्रमण नहीं करती तो हम लोग ऋतुओं का वार वार आना, एवं इस के परिवर्त्तन को कभी नहीं देख पाते। पृथिवी यदि लम्वभाव से अवस्थित होकर ठीक चक्राकार पथ में परिभ्रमण करती तो सूर्य का आलोक पात कभी तिर्यक्भाव से कभी सरलभाव से अथवा दिवा भाग में सूर्य के आकाशमण्डल कभी दीर्घकाल कभी अल्पकाल अवस्थिति इस प्रकार कभी नहीं घटता। सुतरां पृथिवी में उत्ताप का कभी तारतम्य न होकर वह सव समय सर्वत्र समभाव से अनुभूत होता।

सूर्यकिरण सरल रेखा की नाईं एक ही ओर विकीर्ण होता है। एवं पृथिवी के साथ सम सूत्रपात काल में जो स्थान ठीक सूर्य के सम्मुखवर्त्ती होता है, वही स्थान अधिक उष्ण होता है। इसी कारण दोनों अयनान्तवृत्त के मध्यवर्त्ती देशों में ग्रीष्म ऋतु का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि उस उस देश को छोड़कर किसी अंश में सूर्यकिरण लम्वभाव से पतित नहीं होता। उत्तर अयनान्तवृत्त के जितने उत्तर होगा या दक्षिण अयनान्तवृत्त के जितने दक्षिण होगा उतना ही शीत का आधिक्य होता है।

ग्रीष्म काल की उत्पत्ति सामान्यतः दो कारणों से होती है। प्रथमतः इस समय सूर्यरश्मि पृथिवी में लम्वभाव से पड़ती है। द्वितीय गगनमण्डल में सूर्य अधिक काल स्थिति करता है और जिस समय इन दो अवस्थाओं में वैपरीत्य होता है, उस

समय हेमन्तकाल का उदय होता है। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में दो प्रहर के समय गगनमण्डल में दृष्टिपात करने से सूर्य को हम लोग अपने मस्तकोपरि देखते हैं, किन्तु पौष और माघ मास में इस प्रकार सूर्य के प्रति अवलोकन करने से उस को बहुत दक्षिणांश में अर्थात् आकाश के बहुत नीचे देखते हैं। अधिकन्तु ज्येष्ठ और आषाढ़ मास के दिन में सूर्य आकाशपथ में दीर्घकाल रहता है, किन्तु पौष और माघ मास में स्वल्प क्षण अवस्थिति करता है। इसी कारण ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में ग्रीष्म का एवं पौष और माघ मास में शीत का प्रादुर्भाव होता है।

इस प्रकार शीत और ग्रीष्म के तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न देश में भिन्न भिन्न जातीय उद्भिज्ज और जन्तु सब उत्पन्न होते हैं, ये सब इस प्रकार ऋतु परिवर्त्तन न होने से जीवित नहीं रह सकते। विश्वकर्त्ता ने पृथिवी को जोव के योग्य और जोव को पृथिवी के योग्य बना कर अपनो अपारमहिमा प्रकट की है।

वेदों में ऋतुओं का उल्लेख

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू, शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू, नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू, इषश्चोर्जश्च शारदावृतू, सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू ॥ यजुर्वेदे १३।२५॥१४।६,१५।१६।२७॥१५।५७॥

भाषार्थ—मधु, माधव, १. वसन्त ऋतु; शुक्र, शुचि, २. ग्रीष्मऋतु; नभस्, नभस्य ३. वर्षा ऋतु; इष, ऊर्ज, ४. शरद्ऋतु; सहः, सहस्य ५. हेमन्त ऋतु और तपस्, तपस्य ६. शिशिर ऋतु हैं अर्थात् मधु आदि दो दो महीनों के वसन्तादि छः ऋतु होते हैं।

सामवेद में भी छः ही ऋतुओं का उल्लेख है—

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥
(सामवेद ६।४।२)

सब ऋतुओं में वसन्त ऋतु को मुख्य मानते हैं। प्रमाणः—

मुखं वा एतदृतूनां यद् वसन्तः ॥ (तैत्तिरीय ब्राह्मणे ११।२।६।७)

वेद या ब्राह्मण ग्रन्थों में १२ महीनों के नाम नक्षत्रों के नामानुसार चैत्रादि नहीं, वरन मधु माधवादि हैं। चैत्रादि नाम होने का नियम यह है कि जिस महीने की पौर्णमासी को जो नक्षत्र पड़ता है, उस नक्षत्र के नामानुसार उस महीने का नाम होता है। जैसे चित्रा नक्षत्र में जिस महीने की पौर्णमासी हुई उस महीने का नाम

होता है। जैसे चित्रा नक्षत्र में जिस महीने की पौर्णमासी हुई उस महीने का नाम चैत्र, इसी प्रकार विशाखा नक्षत्र वाले का वैशाख, इसी प्रकार और भी जानो। परन्तु यह नियम अब नहीं रहा। अब तो चाहे उस उस महीने की पौर्णमासी को वह वह नक्षत्र न पड़े, परन्तु चैत्रादि नाम रूढ़ से हो रहे हैं। इसी कारण वेदों में इस अविचल नियम से १२ महीनों के नाम हैं। जो कभी उस का परिवर्त्तन नहीं हो सकता। जैसाकि चाहे जब वसन्त ऋतु हो, उसके प्रथम और द्वितीय मास को क्रम से मधु, माधव, चाहे जब ग्रीष्म ऋतु हो उस के प्रथम और द्वितीय मास को क्रम से शुक्र, शुचि, चाहे जब वर्षा ऋतु हो उसके प्रथम और द्वितीय मास को क्रम से नभस् नभस्य, चाहे जब शरद् ऋतु हो, उस के प्रथम और द्वितीय मास को क्रम से इषः, ऊर्ज, हेमन्त ऋतु चाहे जब हो उस के प्रथम एवं द्वितीय मास को क्रम से सहः, सहस्य और शिशिर ऋतु चाहे जब हो उस के प्रथम और द्वितीय मास को क्रम से तपस् एवं तपस्य कहते हैं।

अधुना जो लोग मधु आदि १२ महीनों को चैत्रादि के वाचक समझते हैं, यह मेरी समझ में उन की भूल प्रतीत होती है क्योंकि चैत्रादि नाम नक्षत्रों के अनुसार और मधु आदि ऋतु के लक्षणानुसार हैं।

अर्थात् सूर्य के कारण ऋतु परिवर्त्तित होते हैं जो चैत्र, वैशाखादि इस समय वसन्तादि ऋतुओं में होते हैं, वे इसके कई सहस्र वर्ष पहिले ग्रीष्म वर्षा शरदादि में हुवे हैं। इसका नियम यह है कि लगभग २६००० वर्ष में (अयन गति के कारण) प्रत्येक दो दो महीनों के सब ऋतु क्रम से होते गये हैं।

अर्थात् चैत्र में एक वार वसन्त ऋतु ४। सवा चार हजार वर्ष में। ग्रीष्म ऋतु ८॥ साढ़े आठ हजार वर्ष में। वर्षा ऋतु १७ हजार वर्ष में। शरद् ऋतु २१। हजार वर्ष में। इसी प्रकार हेमन्त और शिशिर हुए हैं।

दिन और रात्रि

जिस प्रकार किसी प्रकाशमान वस्तु के सामने कोई निस्तेज वस्तु रहने से उस वस्तु का केवल निस्तेज सामने का आधा भाग प्रकाशित होता और उसका दूसरा आधा भाग अन्धकार में रहता है, इसी प्रकार प्रकाशमान सूर्य के किरणों से निस्तेज भूगोल का आधा भाग (सामने का) मात्र प्रकाशित होता एवं अपरार्द्ध भाग अन्धकार में रहता है। पृथिवी की यह अवस्था सततं इसी प्रकार रहती है अर्थात् एकार्द्ध प्रकाशित एवं अपरार्द्ध अन्धकारावृत रहता है, किन्तु इस की दैनिकगति के कारण से इस के सब स्थानों में क्रम क्रम से आलोक और अन्धकार का आविर्भाव होता एवं तद्द्वारा दिन रात होते हैं (जहां प्रकाश वहां दिन एवं जहां अन्धकार वहां रात्रि)। पृथिवी के नियत

आवर्त्तन (Rotation) से क्रमशः भिन्न भिन्न समय में प्रत्येक स्थान ही सूर्य के सामने होता है, जिस समय जो स्थान सूर्य के सामने होता उस समय वहां के लोगों को बोध होता है कि सूर्योदय हुवा। पीछे वही स्थान क्रम से पूर्व की ओर अग्रसर होने से उन लोगों को सूर्य ठीक अपने मस्तकोपरि (मध्याह्न) दृश्य होता है। निदान जब पृथिवी के आवर्त्तन द्वारा सूर्य मण्डल अदृश्य होता है, उस समय उन लोगों को बोध होता है कि सूर्यास्त हुवा। इसी प्रकार जब एक स्थान में दिन होता है तो दूसरे स्थान में सायङ्काल, एवं एक देश में जब मध्याह्न तब दूसरे देश (पाताल) में आधीरात होती है। फलतः सूर्य का उदयास्त वास्तविक नहीं होता किन्तु पृथिवी की दैनिकगति से दिन, रात, मध्याह्न, सन्ध्या आदि होते हैं, पृथिवी के सब स्थानों में दिन रात एक परिमाण से नहीं होते, कहीं ३० मुहूर्त्त का दिन रात कहीं ६० का, कहीं हमारी अपेक्षा एक सप्ताह, एवं छः महीने का दिन इत्यादि होते हैं। अब हम वेदादि शास्त्रों के प्रमाण देते हैं, जिन से यह बात सिद्ध होगी कि दिनाधिपति, होराधिपति, मासपति, वर्षपति आदि फलितज्योतिष की कल्पनामात्र है, वस्तुतः सिद्धान्त ज्योतिष से इस का सम्बन्ध नहीं। वेदोत्तरकालीन अनार्ष संस्कृत ग्रन्थों में एवं इस समय की शिक्षित अशिक्षित दोनों मण्डली प्रायः "दिन" शब्द के स्थान में "वार" का व्यवहार करते (लिखते, पढ़ते) हैं। इसी प्रकार रविवार, सोमवार आदि लिखते पढ़ते बोलते हैं। परन्तु इस प्रकार का व्यवहार हमें वेद, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र, व्याकरण, महाभारत और वाल्मीकीय आदि ग्रन्थों में नहीं मिलता, यहां तक कि अमरकोष जो बहुत थोड़े दिन का बना हुआ ग्रन्थ है उस में भी नहीं पाया जाता। "घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ" अर्थात् घस्र, दिन, अहन्, दिवस, वासर, ये दिन के नाम हैं, ऐसा अमरकोष के कालवर्ग में लिखा है। परन्तु "वार" शब्द दिन के अर्थ में नहीं आया।

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति 'वासरम्'।
परो यदिध्यते दिवा ॥ ऋ० सं० ८।६।३०॥

अर्थात् सूर्य का प्रकाश दिनभर रहता है।

देवतों के दिन

एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः ॥ तै० ब्रा० ३।६।२२॥

हमारे एक वर्ष की बराबर उत्तरमेरुनिवासियों (देवतों) का एक दिन होता है। दिन के पांच विभागः—

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिं कृणोति 'संगवः प्रस्तौति मध्यन्दिनम्'।
उद्गायत्य 'पराह्णः' प्रति हरत्यस्तं यन्निधनम् ॥ अथर्व सं० ६।६।४६॥

दिन के पांच भाग होते हैं—सूर्योदय, संगव (मध्याह्न के पहिले और सूर्योदय के पीछे), मध्याह्न, अपराह्ण और सूर्यास्त वा सायङ्काल । इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में भी लिखा है:—

आदित्यस्त्वेव सर्वऋतवः । यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोथ ग्रीष्मो यदा मध्यंदिनोऽथ वर्षा यदापराह्णोऽथ शरद् यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः ॥

(शत० ब्रा० २।२।३।६)

अर्थ—सूर्य ही सब ऋतुओं का कारण है और प्रतिदिन सब ऋतुयें बीतती हैं अर्थात् जब सूर्योदय होता है तो वसन्त ऋतु, 'संगव' काल में ग्रीष्म, मध्याह्न में वर्षा, अपराह्ण में शरद् और सूर्यास्त समय हेमन्त।

दिनमान अर्थात् दिन का घटना बढ़ना—

सोम राजन् प्रण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥ (ऋग्वेदे ८।४८।७)

भापार्थः—हे सोम राजन्! वासर (जगद्वासक) इस को जिस प्रकार सूर्य बढ़ाता है इसी प्रकार तू मेरी आयु को बढ़ा।

द्युगणाद्दिनवारावाप्तिर्द्युगणोऽपि हि देशकालसम्बन्धात् ।
लाटाचार्येणोक्तो यवनपुरेऽर्द्धास्तगे सूर्ये ॥१८॥

रव्युदये लङ्कायां सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहितः ।
यवनानां निशि दशभिर्गतैर्मुहूर्तैश्च तद्गुरुणा ॥१९॥

लङ्कार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः ।
भूयः स एव सूर्योदयात् प्रभृत्याह लङ्कायाम् ॥२०॥

देशान्तरसंशुद्धिं कृत्वा चेन्न घटते तथा तस्मिन् ।
कालस्यास्मिन्साम्यं तैरेवोक्तं यथाशास्त्रम् ॥२१॥

मध्याह्नं भद्राश्वेऽव्वस्तमयं कुरुषु केतुमालानाम् ।
कुरुतेऽर्द्धरात्रमुद्यन्भारतवर्षे युगपदर्कः ॥२२॥

उदयो यो लङ्कायां सोऽस्तमयः सवितुरेव सिद्धपुरे ।
मध्याह्नो यमकोटयां रोमकविषयेऽर्द्धरात्रः सः ॥२३॥

अधिमासकोनरात्रग्रहदिनतिथिदिवसमेषचन्द्रार्कः ।
अयनर्त्त्वार्क्षगतिनिशाः समं प्रवृत्ता युगस्यादौ ॥२४॥

अन्यद्रोमकविषयाद्देशान्तरमन्यदेव यवनपुरात् ।
लङ्कार्द्धरात्रसमयादन्यत्सूर्योदयाच्चैव ॥२५॥

सूर्यस्यार्द्धास्तमयात्प्रतिदिवसं यदि दिनाधिपं भ्रमः ।
तत्रापि नाप्तवाक्यं न च युक्तिः काचिदन्यास्ति ॥२६॥
क्वचिन्निशादिवसपतेः···क्वचित्क्वचित् ।
स्वल्पे स्वल्पे स्थाने व्याकुलमेवं दिनपतित्वम् ॥२७॥
होरावार्त्तप्येवं यस्माद्धोरा दिनाधिपस्याद्या ।
तस्याऽपरिनिष्ठाने होराधिपतिः कथं भवति ॥२८॥
अविचार्यैवं प्रायो दिनवारे जनपदः प्रवृत्तोऽयम् ।
स्फुटतिथिविच्छेदसमं युक्तमिदं प्राहुराचार्याः ॥२९॥
अ० १५ पञ्चसिद्धान्तिकायाम् ॥

वराहमिहिर ने उपर्युक्त श्लोक लिखे हैं। एवं इस पर वासनानामक टीका श्री महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी प्रोफेसर संस्कृत कालिज बनारस ने की है। पाठकों के अवलोकनार्थ भाषा में अर्थ किया गया है।

भाषार्थः—जिस कारण अहर्गण से वार प्राप्ति होती है और अहर्गण भी देश-काल के सम्बन्ध से सिद्ध होता है। जैसेः—लाटाचार्य ने यवनपुर (जौनपुर) में सूर्यार्द्धास्त समय में, सिंहाचार्य ने लङ्का में सूर्योदय काल में, मुसलमानों के गुरु यवनाचार्य ने रात्रि में १० मुहूर्त्त वीतने पर अहर्गण कहा है और आर्यभट्ट ने तो एकत्र लङ्का में अर्द्धरात्रि समय दिन प्रवृत्ति कही है। पुनः उन्हीं आर्यभट्ट ने दूसरे स्थान में लिखा है कि लङ्का में सूर्योदय से वार प्रवृत्ति होती है ॥१८,१९,२०॥ उस देश में देशान्तर की शुद्धि भी की जावे तो भी उस प्रकार काल की समता नहीं होती तो काल साधनार्थ उन्हीं आचार्यों द्वारा शास्त्रसम्मत कहा गया है, उसी प्रकार इस विषय में काल की समता किस प्रकार की है वह समता आगे कही जाती है:—

भारतवर्ष में जव सूर्य उदित होता है उस समय भद्राश्व वर्ष में मध्याह्न, कुरुवर्ष में सूर्यास्त, केतुमालवर्ष में आधीरात एवं लङ्का में जव सूर्य उदय तब सिद्धपुर में सूर्यास्त, यमकोटि में मध्याह्न, रोमक नगर में आधीरात। इस प्रकार गणक लोग देश की स्थिति जानकर अपने अपने अभीष्ट देश अभीष्टकाल में अहर्गण साधते हैं और तदनुसार ग्रहों को सर्वत्र अपने अपने समय में वास्तविक ही देखते हैं। दिन के आरम्भ भेद से इस में कोई हानि नहीं। ऐसा आचार्य का अभिप्राय है ॥ २१, २२, २३ ॥ युग के आदि में अधिमास, क्षयतिथि, ग्रह, सावनदिन, तिथि, मेषराशि, चन्द्रमा, सूर्य, अयन, ऋतु, नाक्षत्रगति, रात्रि ये सब बराबर एक ही समय में प्रवृत्त हुवे अर्थात् सूर्यास्त समय में अधिमासादि सब एक साथ प्रवृत्त हुवे परन्तु किस

स्थान में ? सो आचार्य नहीं कहते परन्तु प्राय: सब सिद्धान्तों के अनुसार लङ्का ही में युगादि हुई। रोमक देश से जो देशान्तर लिया जाता है वह दूसरा है। एवं जौनपुर से जो देशान्तर लिया जाता है वह और ही है ।।२४,२५।। लङ्का में आधीरात से वारप्रवृत्ति हुई यह किसी का मत है और वहीं सूर्योदय समय वारप्रवृत्ति हुई यह औरों का मत है। अब यदि प्रतिदिन सूर्य के आधे ग्रस्त समय ही से हम लोग दिनाधिप अर्थात् वारप्रवृत्ति को कहें, उसमें भी कोई आप्तवाक्य प्रमाण नहीं और न कोई युक्ति ही है। सूर्य से किसी स्थान में सन्ध्या, किसी स्थान में दिन, किसी स्थान में रात्रि होती है इस प्रकार छोटे छोटे स्थानों में भी वारप्रवृत्ति की असङ्गति होती है ।। २५, २६, २७ ।। जैसे पहिले वारप्रवृत्ति की बात कही गई उसी प्रकार "होराधिपति" की वार्त्ता भी जाननी चाहिये। जिस कारण दिन से पहिले होराधिपति होता है। इस कारण वारप्रवृत्ति के अनिश्चय होने पर होराधिपति का निश्चय नहीं हो सकता ।।२८।। और यह देश प्राय: विना विचार ही जिस दिन जो वार सुनता है उस दिन उस वार की प्रवृत्ति मानता है। अर्थात् आज कौन दिन है, यह परम्परा ही से जाना जाता है, इस में कोई गणित की युक्ति नहीं है जिस से वार ज्ञात किया जावे। अब आचार्यों ने जो यह गणित स्फुट तिथि आदि विचार के तुल्य हो वही गणितयुक्त समीचीन कहा है। अर्थात् जिस गणित से ग्रहगण तुल्यता को प्राप्त हों वही गणित समीचीन जानना, दिनपति चाहे जो हो इसमें हम को आग्रह नहीं।

मास

हमारे व्यवहार में अर्थात् शास्त्रों में एवं लोक में चान्द्रमास से व्यवहार होता है (विशेष देखना हो तो सूर्यसिद्धान्त अ० १४ देखो)। चान्द्रमास दो प्रकार का होता है। एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक एक। इस को "अमान्त मास" कहते है, एवं एक पौर्णमासी से दूसरी पौर्णमासी तक दूसरा। इस को "पूर्णिमान्त" मास कहते हैं। व्यवहार दोनों ही प्रकार के महीनों से होता है, परन्तु मुख्य कर "अमान्त" मास से होता है।

चन्द्रमा जो पृथिवी को एक वार पूरा परिभ्रमण कर लेता है, इसमें २७ दिन ७ होरा ४३ मिनट ११.५ सैकण्ड समय लगता है। यही पूर्णिमान्त मास होता है, एवं एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक में सामान्यत: २९ दिन १२ होरा १४ मिनट २.८७ सैकण्ड समय होता है। इसी को अमान्त एवं मुख्य चान्द्रमास कहते हैं। अमान्त और पूर्णिमान्त मास कब से आरम्भ होता है। वह नीचे लिखा जाता है।

अमान्त		पूर्णिमान्त
	शुक्लपक्ष	चैत्र
	कृष्णपक्ष	
		वैशाख
वैशाख	कृष्णपक्ष	
	शुक्लपक्ष	ज्येष्ठ

अमान्त एवं पूर्णिमान्त मास होने का प्रमाण:—

अमावास्यया मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति । अमावास्यया हि मासान्संपश्यन्ति । पौर्णमास्या मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति पौर्णमास्या हि मासान् संपश्यन्ति ॥ (तै० ब्रा० ७ । ५ । ६ । १)

स्पष्ट है । भाषा में अर्थ करने की आवश्यकता नहीं ।

अधिक मास

युग के आरम्भ से अमावास्या के अन्त तक एक चान्द्रमास शेष रहता है इस चान्द्रमास के शेष होने से उस का ५४ दण्ड २९ पल ३१ विपल ५२ अनुपल ३० प्रत्यनुपल के अनन्तर सूर्य वृष राशि में प्रवेश करता है अर्थात् वृष की संक्रान्ति में एक सौरमास शेष रहता है । इसलिये सौरमास और चान्द्रमास इन दोनों के अन्तर ५४ दण्ड, २७ पल, ३१, विपल, ५२ अनुपल, ३० प्रत्यनुपल हो जाता है, उसके अनन्तर मिथुन की संक्रान्ति समय उस के द्विगुण अर्थात् १ दिन ४६ दण्ड, ५५ प०, ३ वि०, ४५ अ० प० वढ़ता है । एवं कर्कट संक्रान्ति में तीन गुण और सिंह की संक्रान्ति में चार गुण, इसी प्रकार क्रमशः वढ़ते बढ़ते मीन संक्रान्ति में अर्थात् १ वर्ष में दोनों का अन्तर १० दिन ५३ द०, ३० प०, २२ विपल ३० अ० प० होता है । इसी प्रकार प्रत्येक सौर और चान्द्रमास में एक दिन का तारतम्य होता है । एवं १ वर्ष में प्रायः ११ दिन अधिक होते हैं । अतएव ये दिन सब जव क्रमशः ३० दिन पूरे हो जाते हैं तो अधिक मास होता है, इसी को अधिमास कहते हैं । वेदों में भा अधिमास का उल्लेख है ।

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदाय उपजायते ॥ ऋ०सं० १।२५।८॥

अर्थात् यह जो काल के विभाग १२ महोने हैं । इन में प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं । एवं इन बारह से अधिक महीना होता है । यानी अधिमास (उपजायते) ।

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते । अथर्व० १३।३।८॥

अर्थात् जिस परमात्मा ने दिन रात ३० दिन का महीना, १३ महीने (अधि-मास गिन कर) रचे हैं।

---

१५ तिथियों का वर्णन वेदों में

अग्नेः पक्षति (परिवा) र्वायोर्निपक्षति (द्वितीया) रिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुतां सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दश-मीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ॥ यजुर्वेद अ० २५।४॥

भाषार्थ—पक्षति (परिवा), निपक्षति (द्वितीया) तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी इन की क्रम से अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम, अदिति, इन्द्राणी, मरुत, बृहस्पति, अर्यमा, धाता, इन्द्र, वरुण, यम संज्ञा हैं।

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अष्टका, उदष्ट, व्यष्टका तिथियों का भी वर्णन है।

तस्य व्रात्यस्य । योस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ अथर्व सं० १५।१६।२॥

पौर्णमास्यां पूर्वमहर्भवति । व्यष्टकामुत्तरम् अमावास्यायां पूर्वमहर्भवति । उदष्ट उत्तरम् ॥ तै० ब्रा० १।८।१०।२॥

अर्थात् कृष्ण प्रतिपदा से आठवीं तिथि को "व्यष्टका" और शुक्ल की परिवा से आठवीं तिथि को "उदष्ट" कहते हैं।

चन्द्रमा की कला की ह्रास वृद्धि

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृतिः ॥ ऋ०सं०१०।८५।५॥
यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति ॥
तं० ब्रा० २।४।१४॥

हे चन्द्र ! तुझे सूर्य की किरणें (कृष्ण पक्ष में) शोष जाती हैं। एवं पुनः कला कला कर बढ़ाती हैं (शुक्ल पक्ष में)।

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रे ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरति दीर्घमायुः ॥
ऋ० सं० १०।८५।१९॥

अर्थात्—जिस प्रकार सूर्य किरणों से चन्द्रमा को कला प्रतिदिन बढ़ती बढ़ती पूर्णमासी को पूरी हो जाती हैं, इस प्रकार मेरे ऐश्वर्यों को मेरी आयुभर वृद्धि करो।

———

तिथि

चन्द्रमा प्रतिदिन राशिचक्र में पश्चिम से पूर्व ओर १३ अंश, १० कला, ५५ विकला, जाता है और सूर्य ५९ कला, ८ विकला चलता है। इसी कारण चन्द्रमा प्रतिदिन सूर्य से १२ अंश, ११ कला, ४७ विकला करके पूर्व को ओर आगे जाता है। चन्द्रमा की इस प्रात्याहिक अग्रगति से एक एक तिथि बनती है। चन्द्रमा की कला (प्रकाश का १६ वां भाग) का बृद्धि का नाम शुक्लपक्ष और ह्रास का नाम कृष्णपक्ष है। चन्द्रमा को आकाश का पक्षी भी कहते हैं। इसी कारण इस के दो पक्ष (डैंने) लिखे हैं। चन्द्रमा जब सूर्य से १८० अंश वा छः राशि अन्तर में होता है तो पूर्णमासी तिथि कहते हैं। एवं पूर्वोक्त रीति से चन्द्रमा जब १८० अंश से १२ अंश, ११ कला, ४७ विकला पूर्व से पश्चिम गमन पूर्वक ९० अंश पहुंचने पर कृष्णाष्टमी तिथि होती है। एवं क्रमशः सूर्य के निकट होने से (एक स्थान में) अमावास्या तिथि होती है। पुनः क्रम क्रम से चन्द्रमा सूर्य से जैसे जैसे दूर होता जावेगा वैसे वैसे चन्द्रकला बढ़ती जावेगी, एवं बढ़ते बढ़ते जब १८० अंश पर आ जावेगा तो पूर्णमासी होगी। अब इसके प्रमाण दिये जाते हैं:—

यां पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथिः ॥ ऐ० ब्रा० ३२।१०॥

चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे पर्यन्त काल की तिथि संज्ञा है।

चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते ॥ पञ्चदश्यामापूर्यते ॥

तै० ब्रा० १।५।१० ॥

आशय वस्तुतः चन्द्रमा एक ही है, पर लोक में व्यवहार होता है कि परिवा का चन्द्र द्वितीया का चन्द्र आदि। यही एक चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्रमशः १५ दिन घटता है। एवं पुनः शुक्लपक्ष में १५ दिन क्रम क्रम से बढ़ता है।

तिथि भाग ७२०

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥
ऋ० सं० १।१६४।११ ॥

भावार्थ—एक चक्र (संवत्सर वा राशिचक्र) में १२ महीने वा राशि अविचल सनातन हैं और जिस में सूर्य के पुत्र (सूर्य से उत्पन्न) स्वरूप ३६० जोड़े (अहोरात्र) अर्थात् ७२० तिथि भोग हैं।

अमावास्या और पौर्णमासी

तस्य व्रात्यस्य। यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च ॥ तस्य व्रात्यस्य ॥१॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥२॥ (अथर्व० १५।१७।६॥१५।१८।१,२)

भावार्थः—उस व्रात्य के अङ्गस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा जब एक स्थान में होते हैं तब अमावास्या होती है ॥ १ ॥ उस व्रात्य की दहिनी आंख स्वरूप सूर्य और बाईं आंखस्वरूप चन्द्रमा है। पुनः—

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति।
आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते ॥ ऐतरेयब्राह्मणे ४०।५ ।।

भावार्थः—चन्द्रमा अमावास्या को सूर्य के साथ (समसूत्रस्थ) होता है और पुनः उस से अलग होता है। पुनः—

एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चोषधीश्च प्रविशति स वै देवानां वस्वन्नं ह्येषां तद्येषां रात्रिमिहामावसति तस्मादमावास्या नाम ॥ (शतपथ ब्राह्मणे १।६।४।५)

भावार्थः—यह चन्द्रमा जो देवों के अन्न (ओषधि) आदि करने वाला है सो जिस रात्रि में कुछ भी नहीं दीख पड़ता है उस रात्रि की अमावास्या संज्ञा हैं।

पौर्णमासी

सोमावास्यायां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते ॥ बृहदारण्यके ॥

भावार्थः—वह चन्द्रमा जिस रात्रि में १६ कलाओं से प्रकाशित होता है तो सब प्राणियों को सुखप्रद होता है अर्थात् पौर्णमासी को।

शुक्ल या पूर्वपक्ष और कृष्णपक्ष वा अपरपक्ष

पूर्वपक्षं वै देवा अन्वसृज्यन्त। अपरपक्षमन्वसुराः। ततोदेवा अभवन्। परा सुराः ॥ तै० ब्रा० २।२।३।१॥

अर्थात्—जिस समय उत्तरमेरुनिवासियों को शुक्लपक्ष होता उस समय उसके विरुद्ध दक्षिणमेरुनिवासियों को कृष्णपक्ष होता है।

आश्रित्यताममावास्यां पश्यतः सुसमागतौ।
अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तौ यदा तद्दर्श उच्यते ॥

जिस तिथि में चन्द्रमा और सूर्य समसूत्रस्थ होते हैं उसको अमावास्या वा "दर्श" कहते हैं।

चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र! रविसंक्रान्तिरेव च ॥

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा, सूर्य की संक्रान्ति इन का नाम "पर्व" है।

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका।
या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः ॥
(ऐ० ब्रा० ३२।१०)

अर्थ—चतुर्दशीयुक्त पौर्णमासी को "अनुमति" एवं परिवायुक्त पौर्णमासी को "राका" कहते हैं। इसी प्रकार चतुर्दशीयुक्त अमावास्या को "सिनीवाली" एवं परिवायुक्त अमावास्या को "कुहू" कहते हैं। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है।६।१०॥

क्षयतिथि

कल्प या युग के आरम्भ में भौम और चान्द्रदिन एक ही समय आरम्भ होता है किन्तु सावनदिन से चान्द्रदिन न्यून होने से सावनदिन के शेष होने के पहिले वह शेष हो जाता है अर्थात् उस के परदिवस में सूर्योदय से आगे शेष हो जाता है, यही चान्द्र दिन के शेष एवं पर दिवस में सूर्योदय के शेष इन्हीं दोनों के बीच के समय को "अवम" या क्षयतिथि वा तिथि की हानि आदि कहते हैं। यही अवशिष्टाङ्क प्रतिदिन बढ़ते बढ़ते जब ६० दण्ड पूरा होता है तब पूरी एक तिथि की हानि वा क्षयतिथि होती है। इसका भी वेद में उल्लेख है:—

द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ॥ अथर्व १९।४७।५॥

अर्थात् १ वर्ष में ११ "अवम" एवं दो वर्ष में २२ इसी प्रकार जानो। यहां स्पष्ट 'अवम' शब्द तिथि का वाचक है। जैसा भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ज्योतिषग्रन्थ में लिखा है।

सायन और निरयण

ग्रहगण निरन्तर राशिचक्र में भ्रमण करते हैं। इस राशिचक्र के किसी स्थान को आरम्भ नहीं कह सकते, तब सूर्य मार्ग के जो दो स्थानों में सूर्य के आगमन समय दिन रात का परिमाण बराबर होता है और जिन दो स्थानों में अयन शेष होगा, उन्हीं चारों स्थानों में से किसी स्थान से आरम्भ कहा जा सकता है। किन्तु विषुवरेखा के जिस स्थान में सूर्य के आने से दिनमान वृद्धि और वृक्ष लता आदि का नूतन पल्लवादि उद्गम होते दृश्य हो, उसी स्थान को राशिचक्र का आरम्भ कह सकते हैं। इसी स्थान से सूर्यमार्ग को ३६० अंशों में विभक्त कर उस के प्रथम ३० अंश मेष, उसके बाद ३० अंश वृष इत्यादि क्रम से १२ राशि कल्पना कर जो लग्न स्फुट और ग्रह स्फुट गणना की जावे उसका नाम "सायन" है।

ज्योतिष गणना के प्रथम (आरम्भ काल में) आकाशमण्डल के चिह्नित मेष राशि स्थित अश्विनी नक्षत्र के प्रारम्भ में दिन और रात्रि मान समान स्थिर हुआ था। पीछे क्रम क्रम से नक्षत्रगण खसकता जाता है। विषुवरेखा से प्रतिवत्सर अश्विनी नक्षत्र जितनी दूर खसक जावेगा, उसी अश्विनी नक्षत्र में सूर्य के आगमन (समय) उसी दिन को वत्सर का पहिला दिन कल्पना कर लग्नस्फुट ग्रहस्फुट द्वारा उसी स्थान को राशिचक्र का आरम्भ कह कर जो गणना की जावे, उस को "निरयण" कहते हैं।

हमारे ज्योतिषशास्त्र के अनुसार राशिचक्र वा अयन प्रतिवर्ष ५४ विकला प्रतिमास ४ विकला ३० अनुकला और प्रतिदिन ९ अनुकला खसकता है। एवं ६६ वर्ष ८ मास में राशिचक्र विषुवरेखा से एक अंश करके चला है और इसी प्रकार राशिचक्र विषुवरेखा से चल चल कर समय समय पर उक्त विषुवरेखा के स्थान में मिल जाता है। सम्प्रति सूक्ष्मगणनानुसार लगभग २६००० वर्ष में राशिचक्र का विषुवरेखा पर पूरा एक फेरा होता है और प्रति वत्सर इस की गति ५०.३ विकला है। वेद में भी "अयन" का उल्लेख है:—

भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ।। अथर्व १९।७।२।।

अर्थात्—आश्लेषा नक्षत्र के अन्त एवं मघा की आदि में "अयन" है।

भारतवर्ष में यद्यपि प्रमाण एवं युक्ति से "सायन" मत ठीक है, परन्तु अद्यावधि ज्योतिष के विद्वानों ने इस को स्थिर नहीं किया है और अधिकांश निरयण मत से "पञ्चाङ्ग" बनाते हैं। जिस लिये सायन और निरयण दो पक्ष चल रहे हैं, इस लिये दोनों में कौन सा प्रकृत शास्त्रसम्मत है, इसको हम प्रमाणों से सिद्ध करते हैं:—

यस्मिन्दिने निरंशः स्यात्संस्कृतोर्कोऽयनांशकैः ।
तद्दिनं च महापुण्यं रहस्यं मुनिभिः स्मृतम् ॥ (ज्योतिर्निबन्धे वसिष्ठः)

अयनांशसंस्कृतो भानुर्गोले चरति सर्वदा ।
अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालविधिस्तयोः ॥

स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः ॥
सुकृतं चलसंक्रान्तावक्षयं पुरुषोऽश्नुते ॥ पुलस्त्यस्मृतौ ॥

चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः ।
अजागलस्तन इव राशिसंक्रान्तिरुच्यते ॥

पुण्यदां राशिसंक्रान्तिं केचिदाहुर्मनीषिणः ।
नैतन्मम मतं यस्मान्न स्पृशेत् संक्रान्तिकक्षया ॥ वसिष्ठः ॥

संस्कृतायनभागार्कः संक्रान्तिस्त्वयनं किल ।
स्नानदानादिषु श्रेष्ठा मध्यमः स्थानसंक्रमः ॥ सोमसिद्धान्तः ॥

अयनांशसंस्कृतार्कस्य मुख्या संस्कृतिरुच्यते ।
अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालावधिस्तयोः ॥४७॥
(रोमशसिद्धान्त स्पष्टाधिकार)

चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः ।
नान्योन्यत्र च तत्क्षेत्रं नैति तत्क्रान्तिकक्षया ॥६२॥ शाकल्यसंहिता ।
देखो—तृतीयाध्याय सू० सि० अ० १४ श्लोक ७।८।९।१०

उपर्युक्त सब वचनों का यही आशय है कि जितने वैदिक व शास्त्रीय यज्ञादिक संस्कार हैं, सायन गणनानुसार ही होना उत्तम है, निरयण से नहीं।

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः ।
युगानां परिवर्त्तन कालभेदोऽत्र केवलम् ॥ सू० सि० अ० १।९॥

इस पर रङ्गनाथ की टीका इस प्रकार है:—

कालवशेन ग्रहचारे किंचिद्वैलक्षण्यं भवतीति तत्तदन्तरं ग्रहचारे प्रसाध्य तत्तत्कालस्थितलोकव्यवहारार्थं शास्त्रान्तरमिव कृपालुरुक्तवान् ।

आशयः—कालवशात् ग्रहों की गति में भेद पड़ता है। इस लिये समय समय पर ग्रहों को वेधकर वीज देवे और लोक व्यवहारार्थ तिथ्यादि का निश्चय करे।

अत्र गणितस्कन्धे उपपत्तिमानेवागमः प्रमाणम् ॥
(भास्कराचार्य, गोलबन्धाधिकारः)

अर्थ—इस गणित स्कन्ध में "उपपत्तिमान्" ही शास्त्र प्रमाण है।

यस्मिन्देशे यत्र काले येन दृग्गणितैक्यकम् ।
दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात् तिथ्यादिनिर्णयम् ॥

अर्थ—जिस देश में जिस काल में जिस प्रकार दृग्गणितैक्य दीखे, उसी पक्ष द्वारा तिथ्यादि का निश्चय करे।

"महाराज द्विजराज श्री ५ महीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुराख्येन श्री-काशीनरेशेन······आदिष्टः पञ्चाङ्गकरणे प्रवृत्तोऽहम् । भवति यद्यप्यत्र सायनगण-नैव मुख्या तथाप्यस्मिन्भारतवर्षे सर्वत्र निरयणगणनाया एव प्रचारात् सामान्यजन-प्रमोदायेदं तिथिपत्रं निरयणगणनयैव व्यरचयम् ।"

आशय:—महाराज द्विजराज श्री ५ महीश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर नामक काशीनरेश की आज्ञा से मैं पञ्चाङ्ग बनाने के लिये प्रवृत्त हुवा हूं। यद्यपि शास्त्रप्रमाण से सायन गणना ही मुख्य है, तथापि इस भारतवर्ष में सर्वत्र निरयण-गणना के प्रचार से एवं सामान्य लोगों के प्रसन्न करने के लिये इस तिथिपत्र को निरयण गणना द्वारा मैंने रचा।

देखो भूमिका "ऋतुवर्णन" यजुर्वेद का प्रमाण- सायनगणनानुसार ऋतुओं और मास का होना।

मधुश्चमाधवश्च वासन्तिकावृतू ॥ तै० ४।४।११॥
आश्वयुजामाश्वयुजोकर्म ॥१॥ आहिताग्नेराग्रायणस्थालीपाकः ॥४॥
आश्वलायन गृ० सू० अ० २ खं २

मार्गशीर्ष्यां प्रत्यवरोहणं चतुर्दश्याम् ॥१॥ पौर्णमास्यां वा ॥२॥ हेमन्तं मनसा ध्यायेत् ॥५॥ आश्व० गृ० सू० २।३॥

अथातोध्यायोपाकरणम् ॥१॥ ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावणस्य ॥२॥
आश्वलायन गृ० सू० ३।५॥

इन वचनों का भी यही आशय है कि सायनगणना मुख्य है। इसी से वैदिक एवं स्मार्त्तकर्म होने चाहियें।

ग्रहण

चन्द्रमा अमावास्या को सूर्य और पृथिवी के मध्यस्थान में प्रवेश करता है और पृथिवी पूर्णिमा को चन्द्रमा और सूर्य के मध्यवर्तिनी होती है। पृथिवी स्वयं निस्तेज एवं गोलाकार है, इस हेतु इस का जो भाग सूर्यरश्मि से प्रकाशित होता है उस के विपरीत भाग (परली तरफ) में सूच्याकार (सूई की नोक की सी आकृति) इस

भूच्छाया में जब चन्द्रमा प्रवेश करता है तब वह क्रमशः मलिन होने लगता है। इसी को "चन्द्रग्रहण" कहते हैं। ऐसो घटना केवल पूर्णमासी ही को होती है इस कारण पूर्णमासी हो को चन्द्रग्रहण हो सकता है। चन्द्रमण्डल सूर्य और पृथिवी के मध्यवर्त्ती होने से सूर्यरश्मि अवरुद्ध होती है उसी को "सूर्यग्रहण" कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के संगमकाल में अर्थात् अमावास्या को सूर्य ग्रहण होने की सम्भावना होती है। यदि चन्द्रकक्षा और भूकक्षा समतल स्थित होती तो प्रति पूणमासो का चन्द्रग्रहण एवं प्रति अमावास्या को सूर्यग्रहण होता। क्योंकि उस उस काल में सूर्य चन्द्रमा और पृथिवो समसूत्र में रहने से चन्द्र द्वारा सूर्यरश्मि आच्छन्न वा भूच्छाया द्वारा चन्द्र-विम्ब दोप्तिहोन होता। किन्तु चन्द्रकक्षा और पृथिवो कक्षा समतलस्थ नहीं है। इन दो कक्षाओं के दो विन्दुमात्र में तिर्यग्भाव से सन्धि होती है। जिन (राहु, केतु) को चन्द्रपात कहते हैं, इसो पातस्थान में चन्द्रमा जब आता है, चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी समतलस्थ होतो है। अतएव पूर्णमासो वा अमावास्या को चन्द्रमा अपने पातस्थ वा निकटस्थ न होने से चन्द्र या सूर्यग्रहण नहीं होता।

चन्द्रग्रहण के नियम

१—पृथिवी की छाया के केन्द्र से चन्द्रविम्ब के केन्द्र तक जो अन्तर है, वह भूच्छाया और चन्द्रमा के व्यासार्द्ध के योग से न्यून न होने से ग्रहण नहीं हो सकता।

२—चन्द्रमा के केन्द्र से छायाकेन्द्र पर्यन्त जो अन्तर है, वह छाया और चन्द्रमा के व्यासार्द्ध वियोग फल की अपेक्षा न्यून अथवा दोनों समान न होने पर पूर्ण ग्रहण नहीं हो सकता।

३—पृथिवी से चन्द्रमा जितनी दूर, भूच्छाया उस के प्रायः साढ़े तीन गुण अधिक दूर विस्तृत एवं इस छाया के जिस प्रदेश में चन्द्रमा प्रवेश करता है उस के परिसर चन्द्रव्यास के प्रायः तीन गुण। चन्द्रविम्ब जब सम्यग् रूप से छाया में प्रविष्ट होता है, उस समय "पूर्णग्रहण" होता है। और जिस समय उस का एक अंशमात्र छाया में आच्छन्न होता है उस समय "आंशिकग्रहण" होता है।

४—एक वर्ष में दो वार भी चन्द्रग्रहण हो सकता है और चन्द्रग्रहण एकवार न हो यह भी सम्भव है। एक वर्ष में पांच सूर्यग्रहण और दो चन्द्रग्रहण का होना सम्भव है।

५—चन्द्रमा अमावास्या को १७ अंश, २१ कला पातस्थान में निकटवर्त्ती होने पर सूर्यग्रहण, एवं पूर्णमासी को ११ अंश, ३४ कला निकट होने पर चन्द्रग्रहण हो सकता है।

६—चन्द्रपात यदि स्थिर रहता तो प्रतिवत्सर एक ही समय ग्रहण होता किन्तु यह पात पूर्व से पश्चिम को सूर्य की प्रायः १८ वर्ष २२८ दिन और ६ होरा में एक वार प्रदक्षिण करता है। इसी कारण इतने समय के अन्त में चन्द्रपात अपने स्थान में प्रत्यागत होता है। सुतरां प्रति १८ वर्ष २२८ दिन छः होरा में चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण प्रायः समानरूप से होते हैं।

हमारे बहुत से फलितज्योतिषी और पौराणिकों का यह निश्चय है कि जब जब पृथिवी पर अधिक पाप होता है तब तब ग्रहण अधिक होता है। यह उन की भ्रान्तिमात्र है।

सूर्यग्रहण के नियम

चन्द्रमा द्वारा सूर्य की किरणें अवरुद्ध होने से सूर्यग्रहण होता है। चन्द्रमा यद्यपि वस्तुतः सूर्य की अपेक्षा छोटा है, परन्तु दूरता में वह सूर्य की अपेक्षा पृथिवी के निकटस्थ होने से उस का भी बिम्ब के समान देख पड़ता है। सौरग्रहण तीन प्रकार के हैं:—आंशिक, माध्य, एवं सर्वग्रास।

१—सूर्य और चन्द्रमा का दृश्यमान व्यासार्द्ध योगफल यदि सूर्य के केन्द्र से चन्द्रमा के केन्द्र की अपेक्षा न्यून होता है तो ग्रहण सम्भव होगा।

२—सूर्य के दृश्यमान व्यासार्द्ध से चन्द्रमा का दृश्यमान व्यासार्द्ध अन्तर करने पर यदि वह सूर्य के केन्द्र से दूरता अपेक्षा न्यून हो तो "माध्यग्रास" होगा।

३—सूर्य का दृश्यमान व्यासार्द्ध चन्द्रमा के दृश्यमान व्यासार्द्ध से अन्तर करने पर यदि वह सूर्य के केन्द्र से दूरता अपेक्षा न्यून हो तो "सर्वग्रास" ग्रहण होगा।

४—सूर्यग्रहण कहीं न कहीं प्रतिदिन होता है, परन्तु स्थान विशेष से वह ग्रहण कहीं दीखता है कहीं नहीं दीखता। इस का प्रमाण आगे दिया जावेगा।

ग्रहणविषयक वैदिक प्रमाण—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥५॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्त्तमाना अवाहन्।
गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः॥६॥
मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा॥७॥
ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्॥८॥

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यऽन्ये अशक्नुवन् ॥९॥
(ऋग्वेदे ५ । ४० । ५-९ ॥)

पुनः—

उच्चापतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥
(अथर्ववेदे १३ । २ । २ । ३६) पुनः—

स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः । सूर्यं तमसा विव्याध स तमसा विद्धो न व्यरोचत— तस्य सोमरुद्रावेवैतत्तमोऽपाहतां स एषोऽपहतपाप्मा तपति ॥ शतपथब्राह्मणे ५।३।२।२

पुनः—

स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसा विध्यत्तदत्रिरपनुनोद तदत्रिरन्वपश्यत् ॥ गोपथ-ब्राह्मणे उ० ३।१९॥

पुनः—

स्वर्भानुर्वा आसुरः आदित्यन्तमसाऽविध्यत्तं देवाः स्वरसामानो भवन्त्यादित्यस्य स्पृत्यैः ॥ ताण्ड्यब्राह्मणे ४।५।२॥

पुनः—

स्वर्भानुर्वाआसुर आदित्यन्तमसा विध्यत्तं देवा न व्यजानंस्तेऽत्रिमुपाधावंस्तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपाहन्यत् ।

[1]प्रथममपाहन् सा कृष्णाविरभवद्यद्द्वितीयं सा रजता यत्तृतीयं सा लोहिती यया वर्णमभ्यतृणत्सा शुक्लासीत् ॥ (ताण्ड्यब्राह्मणे ६।६।८) पुनः—

स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसा विध्यत् स न व्यरोचत्तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपाहन्स व्यरोचत यदेतदभा अभवत्तद्भासस्य भासत्वम् ॥
(ताण्ड्यब्राह्मणे १४ । ११ । १४ ॥) पुनः—

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः । अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् । आश्वलायन शाखा अष्टक ४

पूर्वोक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों के ग्रहणविषयक मन्त्र और व्याख्यान का एक ही आशय है । इस लिये प्रत्यक प्रमाण का भिन्न भिन्न अर्थ न करके एकत्र आशयमात्र लिखा गया है:—

---

१. विवरण – इसमें ग्रहण के रङ्ग का वर्णन है । कृष्ण, चांदी का रङ्ग, लाल वर्ण और शुक्ल ये चार प्रकार के होते हैं । देखो सू० सि० ग्रहणाध्याय ॥

आशय: -हे सूर्य ! चन्द्रमा ने जो तुझे अन्धकार से घेर लिया है इस से सब लोग अपने अपने स्थान न जानकर मुग्ध हो रहे हैं ॥५॥ द्युलोक में तेरा प्रकाश है उस को चन्द्रमा ने आच्छादक होकर अन्धकार से तेरे रूप को एक मात्र छिपा दिया है । इस बात को पूर्ण विचार करने पर ज्ञान द्वारा जाना जाता है ॥६॥ हे सूर्य ! तेरा नाम मित्र एवं वरुण अनेक स्थानों में लिखा गया है । ऐसे अनेक विशेषण होने पर भी ईश्वरीय नियम से बद्ध हो तुझे अन्धकार निगल गया (सर्वग्रासग्रहण का उपलक्षण है) ॥७॥ मानो ब्रह्मा ने मेघ को नाईं तुम्हारे लिये चन्द्रमा को आच्छादक अर्पण किया है । उन्मीलनकाल में द्युलोक में पुनः प्रकाश होने लगा ॥८॥ जिस सूर्य को चन्द्रमा (स्वर्भानु) ने आच्छादित कर लिया था, उस को केवल ज्ञानी लोग (ज्योतिषविद्यावित्) जानते हैं, दूसरे नहीं जान सकते ॥९॥

ग्रा०ण=मेघ । अत्रि=ज्ञान । स्वर्भानु=चन्द्रमा । आसुर=अन्धकार । अन्वविन्दत्=जाना ।

वेदादि सत्यशास्त्रों में ग्रहण का कारण न तो राहु नामक दैत्य लिखा है और न उस समय स्नान दान एवं श्राद्धादि कुछ कर्त्तव्य ही लिखा है । जो उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है ।

सूर्येन्दुभगणधात्रीसंस्थानविदोऽधिकृत्य कथयामि ।
ग्रहणं सदैव भानोः स्थानविशेषात् क्वचिद् दृश्यम् ॥१॥

अविदितसंस्थानानां बोधोऽपि हि जायते यथाधान्यम् ।
क्षीरं शङ्खोपहितं दशनविनाशक्षमं भवति ॥२॥

संक्षेपसूत्रवशतः शशिना ध्रियते दिवाकरो येषाम् ।
तेषां सूर्यग्रहणं स च देशं प्रतिदिनं क्वापि ॥३॥

भाषार्थः—सूर्य चन्द्रमा नक्षत्रगण एवं पृथिवी की संस्था को जानने वालों के मत के अवलम्बन से मैं कुछ ग्रहण की विशेषता कहता हूं । सूर्यग्रहण सदैव कहीं न कहीं प्रतिदिन होता है, परन्तु स्थान विशेष से वह ग्रहण कहीं कहीं दीख पड़ता है, कहीं नहीं दीखता । अर्थात् सर्वत्र नहीं दीखता । यह बात गणित द्वारा जानी जाती है । जिस प्रकार भात, दूध को शंख में रख कर खाने से दांतों का नाश होता है, यह ओषधि बल से जाना जाता है । उसी प्रकार गणित द्वारा अविदित संस्थान का ज्ञान होता है । जिस जिस देश में दृष्टिरेखा के वश से चन्द्रमा द्वारा सूर्य आच्छन्न होता है, उस उस देश में सूर्यग्रहण होता है । यह घटना प्रतिदिन कहीं न कहीं अवश्य होती है ॥ १—३ ॥

इसी प्रकार जिस समय पृथिवी पर सूर्यग्रहण होता है, उस समय चन्द्रलोक में

पृथिवीग्रहण हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार सूर्यरश्मि द्वारा चन्द्रमण्डल दीप्तिमान् होता है, इसी प्रकार पृथिवी भी सूर्य के आलोक से आलोकमय हो जाती है, इस कारण जब चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के मध्य स्थान में पूर्वोक्त प्रकार समावेशित होता है, उस समय चन्द्रमण्डल द्वारा सूर्य किरण अपवारित हो भूमण्डल अन्धकार-मय होकर चन्द्रलोक में अदृश्य होता है, उसी को पृथिवीग्रहण कहते हैं।

पुनः—वराहमिहिराचार्य ने लिखा है कि:—

नीचस्थोऽस्माकमंशुमान् भवति ।
चन्द्रः परमोच्चस्थो घनवद् भानोर्भवति हेतुः ॥७॥

अस्माकमुदयसमये येषामल्पास्तगो दिवसनाथः ।
मध्याह्नो वा येषां तेषामपि न युगपद् ग्रहणम् ॥८॥

तदतीतमुदयगानां क्षणद्वयेनैष्यदस्तदशानाम् ।
मध्याह्नदेशगानामनवरतं वर्त्तमानेन ॥९॥

उक्तश्च संहितायां मया प्रपञ्चोऽस्य राहुचारादौ ।
ग्रहणस्य यन्निमित्तं विनैव राहुं रविहिमांश्वोः ॥१०॥

भाषार्थ—हमारे उदयकाल या अस्तकाल में अर्थात् सम्पूर्ण दिन में सूर्य दूरस्थ और चन्द्रमा निकटस्थ रहता है। इसी कारण सूर्यग्रहण में चन्द्रमा मेघ की नाईं सूर्य को ढक लेता है। जिस से हम उस को उतने समय तक नहीं देखते। हमारे उदय समय में जिन देशों में सूर्य अस्तप्राय होता है, उसी समय जिन देशों में मध्याह्न होता है उन देशों में एक ही काल में ग्रहण दृश्य नहीं होता, लम्वन और अवनति भेद से सूर्य के अदृश्य होने के कारण।

जिस कारण वर्त्तमान एक ही दिन में कभी उदय देशों में मनुष्यों को ग्रहण व्यतीत होवे, उस के अनन्तर दो क्षण में निरन्तर अस्त देशों में ग्रहण भावी होने और मध्याह्न देशों में दो क्षण निरन्तर ग्रहण रहना चाहिये।

सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण में राहु छोड़कर जो अन्यान्य वास्तविक कारण हैं, उन्हें मैंने स्वरचित संहिता में कहा है।

नित्यमधस्थस्येन्दोर्भाभिर्भानोः सितं भवत्यर्द्धम् ।
स्वच्छाययान्यदसितं कुम्भस्येवातपस्थस्य ॥१॥
सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् ।
क्षपयन्ति दर्पणोदरविहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥२॥

(बृहत्संहितायाम्)

भाषार्थ—धप में रक्खे हुए घट के तुल्य चन्द्रमा का आधा भाग सूर्य की

किरणों से प्रकाशित हो जाता है और दूसरा आधा अपनी छाया से अन्धकार में रहता है। सूर्य की किरणें चन्द्रमा पर पड़कर प्रतिबिम्बित होकर लौट आती हैं और रात्रि में अन्धकार का नाश करती हैं। जैसे धूप में रक्खे हुवे दर्पण पर सूर्य की किरणें पड़ कर मन्दिर के भीतर चली जाती हैं। पुनः—

भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः।
प्रग्रहणमतः पश्चान्नेन्दोर्भानोश्च पूर्वार्धात् ।।
(बृहत्संहितायाम अ० ५)

भाषार्थ—चन्द्रमा अपने ग्रहण में भूमि की छाया में और सूर्यग्रहण में सूर्य और पृथिवी के मध्य में आ जाता है, इस कारण ग्रहण होता है। पुनः—

एवमुपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्य्यैः।
राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्रसद्भावः ।।
(बृहत्संहितायाम् अ० ५)

भाषार्थ—यह दिव्यदर्शी आचार्यों ने सत्यशास्त्रों के अनुकूल ग्रहण का कारण कहा है। इस में राहु कारण नहीं है। पुनः आर्यभट्ट ने लिखा है कि:—

चन्द्रो जलमर्कोऽग्निर्मृद् भूच्छायापि या तमस्तद्धि।
छादयति शशी सूर्यं शशिनं च महती भूच्छाया ।।
(आर्यसिद्धान्ते गोलपादे ३७)

अर्थ—जलमय चन्द्रमा अग्निस्वरूप सूर्य को ग्रहणकाल में ढक लेता है और मृत्तिकामय पृथिवी जिस की बड़ी छाया चन्द्रग्रहण काल में चन्द्रमा को ढक लेती है, राहु नहीं। इसी प्रकार भास्कराचार्य ने भी लिखा है कि:—

पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायान्तर्यतः शशी विशति।
तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ।। (सिद्धान्तशिरोमणौ)

भाषार्थ - जब चन्द्रमा पूर्व की ओर को जाता हुआ भूमि की छाया में चला जाता है, तब ग्रहण पड़ता है और जब छाया से निकलता है, तब मोक्ष वा उग्रहण होता है। ग्रहलाघवकार ने भी यही कारण लिखा है:—

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ।।

भाषार्थ—चन्द्रग्रहण में भूमि की छाया चन्द्रमा को और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को ढक लेता है। इसी प्रकार आदि कवि वाल्मीकि ने भी लिखा है:—

अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ।।

भाषार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा (स्वर्भानु) ग्रहणकाल में सूर्य को आच्छादन

कर लेता है, उसी प्रकार रावण श्री रामचन्द्र जी महाराज की ओर धावा करता है।

युक्ति एवं वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध ग्रहण में हेतु कल्पना

१—पुराणों में ग्रहण का विलक्षण कारण लिखा है। जिस समय विष्णु जी मोहनी का रूप धर अमृत बांट रहे थे, राहु नामक एक राक्षस देववेष बनाकर उन की पङ्क्ति में आ बैठा। जब विष्णु भगवान् ने उस को अमृत दिया, वह उस को उसी समय पी गया। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा ने उसकी चुगली खा दी कि यह देवता नहीं है, राक्षस है। इस पर विष्णु ने क्रोध कर चक्र से राहु का शिर काट डाला, परन्तु वह अमृत पी चुका था, इस लिये न मरा। इस कारण से वह सूर्य एवं चन्द्रमा को जहां पाता है वहीं ग्रस लेता है। परन्तु वह उसकी गरदन के छेद में होकर निकल जाता है। यद्यपि यह लेख महाभारतादि में भी समुद्रमथन प्रसङ्ग में आया है और उसी के अनुसार आलङ्कारिक वर्णन से इस का आशय भी ज्योतिष-शास्त्र के अनुकूल ही है। परन्तु इस आलङ्कारिक लेख को न समझ कर लोक में ऐतिहासिक घटना मान कर अन्धपरम्परा चल रही है। हम इस विषय को "पुराण मीमांसा" नामक पुस्तक में लिखेंगे।

इस अन्धपरम्परा का कारण फलितज्योतिष एवं पुराण (वस्तुत: नवीन) ग्रन्थ हैं। इसी के अनुसार आधुनिक धर्मशास्त्रों में भी लिखा है कि यही चाण्डाल राहु गगनगामी चन्द्रमा और सूर्य को स्पर्श करता है, इस कारण पृथिवीस्थ मनुष्यों को भी अशौच होता है। ग्रासकाल में मरने का अशौच एवं मोक्ष काल में जन्मा-शौच करना चाहिये। इसलिये स्नान व्यतिरिक्त शुद्धि नहीं होती। उस के अति-रिक्त ग्रहण काल में राहु के वर्ण अनुसार भूमण्डल में अनेक प्रकार की शुभाशुभ घटना होती हैं। देखो मत्स्य पुराण अ० ६७।

भारतवर्ष को छोड़ अन्यान्य देशों में ग्रहणकाल में पोपलीला

ग्रहण की उत्पत्ति विषय में अनेक अप्रकृत और भ्रममूलक मत हैं, उनके प्रभाव से अनेक लोगों के चित्त में ग्रहण घटित नाना प्रकार की आशङ्कायें होती हैं। किसी असाधारण कारण द्वारा इस की घटना होती है। एवं इसके द्वारा चन्द्रमा या सूर्य या पृथिवी को अमङ्गल होता है। अनेक जातियों में इस प्रकार विश्वास पहिले था और कहीं कहीं अब भी है।

२—पूर्वकाल में रोम नगर में लोग चन्द्रग्रहण काल में चन्द्रमा को यातना-

ग्रस्त समझ कर उस के क्लेशशान्त्यर्थं पित्तल यन्त्र बजाया करते थे। एवं ऊंचे स्वर से कोलाहल किया करते थे। उन में बहुतों को ऐसा विश्वास था कि कुहक जीवी लोगों ने चन्द्रमा को आकाश से गिरा कर "दूर्वाक्षेत्र" में चराया था एवं उन्हीं लोगों के कुहक द्वारा चन्द्रग्रहण होता है। इस देश में ऐसा नियम था कि कोई व्यक्ति ग्रहण के वास्तविक कारण की प्रकाश रूप से आलोचना न करे।

३—चीन देश में चीनियों को ऐसा विश्वास है कि भयङ्कर सब सर्प चन्द्रमा और सूर्य को ग्रास करते हैं, इसी कारण उन का ग्रहण होता है। ग्रहण समय में ग्रासकारी सर्प की ताड़ना के लिये चीनी लोग डण्का बजाया करते हैं।

४—अमेरिका खण्ड के अन्तःपाती मेक्सिको देशीय लोग ग्रहणकाल में उपवास (खाते नहीं) करते हैं। उनका यह विश्वास है कि चन्द्रमा एवं सूर्य में आपस में विवाद हुआ है और चन्द्रमा को सूर्य ने मारा है। इसी निमित्त वे लोग विशेषतः उन की स्त्रियां आपस में एक दूसरे को कटुवचन आदि व्यवहार कर एवं बाहू और अन्यान्य अङ्ग प्रहार द्वारा शरीर से रुधिर बाहर करती हैं, इस विचार से कि जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य संग्राम में लड़कर आपस में एक दूसरे को क्लेशित करता है, हम लोगों को भी उन के दुःख में साहनुभूति प्रकट करनी चाहिये।

५—यूरोप खण्ड में विद्या के प्रभाव से इस पूर्वोक्त प्रकार के अनेक भ्रम-मूलक संस्कार लुप्तप्राय हो गये और अन्यान्य स्थानों में भी प्रकृत (असली) ज्योतिष सम्यग् रूप से प्रचरित हुआ। हे जगदीश्वर! हमारे देश से यह डायन फलित विद्या कब जावेगी। भगवन! सिद्धान्त ज्योतिषरूप सूर्य प्रकाशित कर फलितरूपी तिमिर का शीघ्र नाश करो।

पञ्चाङ्ग

किसी ज्योतिषी का वचन है कि जिस प्रकार हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल इन चार प्रकार की सेना (बल) से राजा पृथिवी को जीतकर अपने वश में कर लेता है। इसी प्रकार मैं भी पञ्चाङ्गरूपी बल से आकाश को वश में कर लेता हूं।

चतुरङ्गबलो राजा जगतीं वशमानयेत्।
अहं पञ्चाङ्गबलवानाकाशं वशमानये॥

अर्थात्—१ तिथि, २ वार, ३ नक्षत्र, ४ योग, ५ करण ये पांच अङ्ग हैं। प्राचीन समय में 'वार' और 'योग' पञ्चाङ्ग के अङ्ग नहीं थे और ऐसा भी न था कि इस में पांचों अङ्ग हों। तिथि, करण और सावनदिन (वार) एक ही अङ्ग में थे और योग का तो एकमात्र प्रचार ही नहीं था, क्योंकि सिद्धान्तज्योतिष में (आर्यभट्ट और वराहमिहिर ने भी इसका गणित प्रकार नहीं लिखा है) न इस का गणित

प्रकार लिखा है और न प्राचीनग्रन्थों में वार, योग, करण शब्द से किसी यज्ञादि का विधान पाया जाता है। भारतवर्ष से प्रायः सब हो श्रौत एवं स्मार्त्त कर्म करने में प्रतिदिन आर्यमात्र को पञ्चाङ्ग व तिथिपत्र की आवश्यकता पड़ती है। तदनुसार प्राचीनकाल से इस तिथिपत्र वा पञ्चाङ्ग का प्रचार चला आता है, परन्तु पहिले वेदोत्तरकालीनपञ्चाङ्ग भारतवर्ष भर के लिये एक ही बनता था और पांच वर्ष का पञ्चाङ्ग एक वार बनता था और उसी का प्रचार आर्यों में था। आपस में खींचा-तानी नहीं थी, जैसी कि अब है।

पांच संवत्सरों के नाम एवं प्रमाणः—

संवत्सरोसि परिवत्सरोसि इदावत्सरोसीदु वत्सरोसि इद्वत्सरोसि।

(तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१०।४)

अर्थात्—१ संवत्सर, २ परिवत्सर, ३ इदावत्सर, ४ वत्सर, ५ इद्वत्सर ये पांच वत्सर हैं। और महाभारत में भीष्मजी ने दुर्योधन से कहा हैः—

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः। ३।।
एषाभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादशक्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्त्तते मतिः ।।४।।

(महाभारते विराट्पर्वणि अ० ५२ श्लोक)

अर्थात् राजा विराट् के गोहरण के पीछे कौरव पाण्डवों को युद्ध तैयारी के समय प्रथम इस बात का निश्चय किया गया कि पाण्डवों के १२ वर्ष वनवास के पूरे हुवे या नहीं? ग्रहों की गति से प्रत्येक पांच वर्ष पर दो दो महीने अधिक होते हैं। इस हिसाब से वनवास के १२ वर्ष, ५ महीने, १२ दिन हुवे। अर्थात मेरी समझ में १३ वां वर्ष बीत रहा है। इस लिये पाण्डवों के प्रकट होने में (प्रच्छन्न थे) कोई सन्देह नहीं है। अब तो पांच वर्ष के पञ्चाङ्ग का प्रचार एकमात्र उठ गया और भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न प्रकार के पञ्चाङ्ग एक दूसरे से विरुद्ध बनने लगे। केवल घटी, पल, स्पष्टग्रह आदि का भेद हो सो नहीं, दिन, लग्न, तिथि, एवं पञ्चाङ्ग बनाने के ग्रन्थ भी भिन्न भिन्न कल्पित कर लिये। एवं सायनपञ्चाङ्ग जो शास्त्रानुसार था, उसके स्थान में निरयणपञ्चाङ्ग बनने लगा। इस समय तीन पक्ष के ग्रन्थ एवं इन्हीं तीनों पक्षों के अनुसार पञ्चाङ्ग भी बनते हैंः—१ सौर, २ ब्राह्म, ३ आर्य हैं।

सौर वा सूर्यसिद्धान्त के अनुसार मकरन्द विवरण तत्त्वविवेक आदि, ब्रह्म-सिद्धान्त के अनुसार करणप्रकाशादि और आर्यसिद्धान्तानुसार ग्रहलाघव और करण-

कुतूहलादि हैं। इन्हीं तीनों पक्षों के ग्रन्थ आपस में खींचातानी एवं तिथि आदि के निश्चय में झगड़ा डालते हैं और एक एक व्रतादि दो दो दिन किये जाते हैं। ये सब झगड़े फलित ज्योतिष के प्रचार से हो रहे हैं।

संवत् शक आदि

भारतवर्ष में प्रत्येक श्रौत एवं स्मार्त्त कर्म के संकल्प में और पञ्चाङ्ग या लौकिकव्यवहार में सृष्टिसंवत् का व्यवहार होता था, जिस का वर्णन सूर्य सि० अ० १ अहर्गणानयन में किया गया है। अब इस का प्रचार उठ गया और निम्नलिखित संवत् का प्रचार भिन्न भिन्न रीति से होता है:—

१—कलिकाल—चैत्रादि और मेषादि दोनों ही का प्रचार है। पञ्चाङ्ग में कहीं गत कल्यब्द कहीं वर्त्तमान कल्यब्द लिखते हैं। शक वर्ष में ३१७९ मिलाने से गत कलिवर्ष होते हैं।

२—सप्तर्षिकाल—इस को लौकिककाल भी कहते हैं। अर्थात् सप्तर्षिनक्षत्र १०० वर्ष में राशिचक्र के एक नक्षत्र से चलकर दूसरे नक्षत्र में जाते हैं और २७ नक्षत्रों को २७०० वर्ष में एकवार भ्रमण करते हैं। परन्तु प्रचार केवल प्रत्येक वर्ष में एक एक वर्ष बढाते जाने का है। एवं १८० वर्ष पूरा होने पर पहिला, दूसरा, तीसरा, इस क्रम से बढ़ाते जाने का है। ज्योतिषशास्त्रानुसार वर्त्तमान कलिवर्ष २७ चैत्रशुक्ल १ दिवस सप्तर्षिकाल का आरम्भ हुवा। वर्ष चैत्रादि और वर्त्तमान है। एवं महीना पूर्णिमान्त होता है।

३—विक्रमकाल—वर्ष चैत्रादि और कार्त्तिकादि और महीना अमान्त और पूर्णिमान्त दोनों होते हैं। शकवर्ष में १३४ मिलाने से कार्त्तिकादि विक्रम वर्ष और १३५ मिलाने से चैत्रादि विक्रम संवत् होगा।

४—ईसवी सन् ख्रिस्तीसन्, अग्रेजीराज्य समय से इस देश में इस का प्रचार है। इस वर्ष सायन और सौर होता है और १ जनवरी से वर्ष आरम्भ होता है। इस समय जनवरी का आरम्भ अमान्त पौष या माघ में होता है। शक वर्ष में ७८-७९ मिलाने से ईसवी सन् होता है।

५—शककाल—ज्योतिष के करण ग्रन्थों में इस वर्ष से अधिक काम लेते है। इसका वर्ष चान्द्र और सौर होता है। चान्द्रवर्ष चैत्रादि और सौरवर्ष मेषादि होता है और महीना अमान्त, एवं पूर्णिमान्त होता है।

६—चेदिकाल, या कलचुरियाकाल—इस का इन दिनों प्रचार नहीं। विक्रम चैत्रादि संवत् ३०५, शक १७०, ईसवी सन् २४८, २४९ आश्विन शुक्ल प्रतिपदा इस

चेदिकाल का आरम्भ होता है। इस का वर्ष आश्विनादि और महीना पूर्णि-
मान्त एवं अमान्त होता है। इस में १६९, १७० मिलाने से शकवर्ष और
२४७, २४८ मिलाने से ईसवी सन् होगा।

७—गुप्तकाल—इस का इस समय प्रचार नहीं। वर्ष चैत्रादि और मास पूर्णिमान्त होता है। शकवर्ष २४२ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को इस वर्ष का आरम्भ हुवा। इस में २४१ मिलाने से शकवर्ष होगा और ३१९, २० मिलाने से ईसवी सन् होगा।

८—हिजरी सन् का मूल स्थान अरब देश है। मुसलमानों की अमलदारी से इस देश में इस का प्रचार हुवा 'हिजरा' मुसलमानों का पैगम्बर 'मुहम्मद' ईसवी सन् ६२२ ता० १५ जुलाई शक ५४४ श्रावण शुक्ल गुरुवार की रात्रि को (मुसलमानों की शुक्रवार की रात्रि) मक्का होकर मदीना गये थे। इस से सन् का नाम 'हिजरी' हुवा। इस का महीना मोहर्रम इत्यादि चान्द्र है और अधिकमास इस में नहीं जोड़ा जाता। इस लिये वर्ष केवल ३५४ या ३५५ दिन का होता है और इस के अनुसार ३२ या ३३ सौर वर्ष में इस सन् के वर्ष का एक अङ्क सौर वर्ष की अपेक्षा बढ़ जाता है।-शुक्ला प्रतिपदा या द्वितीया तिथि से चन्द्रमा को देखने पर इस का महीना आरम्भ होता है। महीना का एक दिन, दूसरा दिन आदि कहने को पहिला चन्द्र, दूसरा चन्द्र इस प्रकार है (चान्द्रदिन या तारीख)। महीना में २९ या ३० दिन होते हैं। वार और तारीख का आरम्भ सूर्यास्त समय से होता है। इस कारण हमारे गुरुवार की रात्रि मुसलमानों की शुक्रवार की रात्रि होती है।

९—वङ्गाली सन्—इस का प्रचार बङ्गाल प्रान्त में है। इस का वर्ष सौर एवं मेष की संक्रान्ति से आरम्भ होता है। महीना का नाम चैत्र, वैशाख आदि चान्द्र होता है। मेष संक्रान्ति से महीने का आरम्भ होता है, जिस को वैशाख कहते, उस को तामीर प्रान्तवाले चत्र कहते हैं। बङ्गाली सन् २०३० शक वर्ष १८१५ ई० सन् १८९३—९४ बङ्गाली सन् में ५१५ मिलाने से शकवर्ष निकलता है। ५९३, ५९४ मिलाने से ईसवी सन् होता है।

१०—विलायती सन्—बङ्गाल के किसी भाग में मुख्यतः ओरियाप्रान्त में प्रचरित है। इस का वर्ष सौर परन्तु महीना चान्द्र होता है। वर्ष का आरम्भ कन्या-संक्रान्ति के दिन होता और महीने का आरम्भ बङ्गालियों में संक्रान्ति के दूसरे या तीसरे दिन से होता। परन्तु विलायती सन् के महीने का आरम्भ संक्रान्ति के दिन से होता है। विलायती वर्ष में ५१४, १५ मिलाने से शकवर्ष होता है, और ५९२, ९३ मिलाने से ईसवी सन् होगा।

११—अमली सन्—"ओरिया" प्रान्त के राजा इन्द्रद्युम्न की जन्मतिथि अर्थात् भाद्रपद शुक्ल १२ से यह वर्ष आरम्भ होता है। इस का महीना सौर, परन्तु वर्ष चान्द्र सौर होता है। कन्यासंक्रान्ति भाद्रपद महीने में द्वादशी के पहिले या पीछे आरम्भ हुआ है।

१२—फसलीसन् को अकबर बादशाह ने चलाया था। प्रथम हिजरी सन् का वर्षाङ्क इस की बराबर चलता था, परन्तु हिजरी वर्ष केवल चान्द्र (३५४ दिन का) होता है और फसली सौर होता है। इसी से इस वर्ष से एक वर्ष का अन्तर पड़ता है। दक्षिण में जिस फसली सन् का प्रचार है, उस में ५१२, ५१३ मिलाने से शक वर्ष होगा और ५९०,५९१ मिलाने से ईसवी सन् होगा। और बङ्गालियों के फसली सन् में ५१४, ५१५ मिलाने से शक वर्ष होता है एवं ५९२, ५९३ मिलाने से ईसवी सन् होता है।

१३—सूर सन् या शाहुर सन्—इस को कभी कभी "अरबी सन्" भी कहते हैं, ईसवी सन् १३४४ हिजरी ७४५ में यह वर्ष (सूर सन्) आरम्भ हुआ। सूर सन् के वर्ष में ५२१, ५२२ मिलाने से शक वर्ष होगा और ५९९, ६०० मिलाने से ईसवी सन् होगा।

१४—हर्ष काल—कन्नौजदेश के राजा हर्षवर्द्धन ने इस काल को चलाया था। बेरुणी के समय से मथुरा और कन्नौज—इन प्रान्तों में आरम्भ हुआ था परन्तु अब इसका प्रचार नहीं है। इस वर्ष में ५२८ मिलाने से शक वर्ष होगा और ६०६, ६०७ मिलाने से ईसवी सन् होगा।

१५—मगी सन्—चटगांव प्रान्त में चलता है—इस में और बङ्गाली सन् में ४५ वर्ष का अन्तर है, शेष सब अंशों में बराबर है।

१६—कोल्लम काल—'परशुराम काल' यह काल मलबार प्रान्त में 'मंगलोर' से कुमारी पर्यन्त और तीने वेल्ली से आरम्भ हुआ। इस का वर्ष सौर और इस के महीनों के नाम मेष, वृष इत्यादि राशियों के नाम के अपभ्रंश हैं—१००० वर्षों का इस का एक चक्र होता है। और इस समय इस का चौथा चक्र है परन्तु इस की वर्ष गणना १००० से भी अधिक होने लगी है। इस वर्ष में ७४६, ७४७ मिलाने से शकवर्ष और ८२४,८२५ मिलाने से ईसवी सन् होगा।

१७—नेवार काल—नेपाल में यह काल शक १६६० से आरम्भ हुआ। इस का वर्ष कात्तिकादि और मास अमान्त होता है। ताम्रपट पर या संस्कृत ग्रन्थों में इस को "नेपाल काल" कहते हैं। ८००, ८०१ वर्ष मिलाने से शकवर्ष और ८७८, ८७९ मिलाने से ईसवी सन् और ९३५ मिलाने से कात्तिकादि विक्रम संवत् होगा।

१८—चालुक्यकाल—चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने इस को शाके ९९८ में आरम्भ किया था। विजलकलचुरिया ने जब शाके १०८४ में इस को पराजित किया तब से यह संवत् बन्द हो गया। इस वर्ष में ९९७, ९९८ मिलाने से शकवर्ष और १०७५, १०७६ मिलाने से ईसवी सन् होता है।

१९—सिंहसंवत्—काठियावाड़ और गुजरात प्रान्तों से प्रचरित हुआ। महीना इस का अमान्त, वर्ष चान्द्र सौर होता है। इस में १०३५, १०३६ मिलाने से शक-वर्ष और १११३, १११४ मिलाने से ईसवी सन् होता है और ११७० मिलाने से आषाढादि विक्रम संवत् होता है।

२०—लक्ष्मण सेनकाल—यह काल तिरहुत प्रान्त में विक्रम काल या शककाल के बराबर प्रचरित है। इस का वर्ष कार्त्तिकादि, महीना अमान्त है। इस वर्ष में १०४०, १०४१ मिलाने से शकवर्ष और १११८,१११९ मिलाने से ईसवी सन् और ११७५ मिलाने से कार्त्तिकादि विक्रम संवत् होगा।

२१—इलाहीसन्—इस को अकबर बादशाह ने आरम्भ किया था। इस से इस को "अकबरी सन्" भी कहते हैं। इस में १४७६, १४७७ मिलाने से शकवर्ष और १५५५, १५५६ मिलाने से ईसवी सन् होगा।

२२—राज शक या राज्याभिषेक शक—मराठी राज्य के संस्थापक शिवा जी ने इस काल को चलाया। शिवा जी के राज्याभिषेक के समय ज्येष्ठ शुक्ला १३ शाके १५९६ में आनन्द संवत्सर चला। दक्षिण में चान्द्र सौर अमान्त शकवर्ष अनु-सार होता है। इस में १५९५, १५९६ मिलाने से शकवर्ष और १६७३, १६७४ मिलाने से ईसवी सन् होगा।

———

संवत् प्रदर्शकचक्र

अर्थात् जिस संवत् का जिस समय से आरम्भ हुआ है, इस चक्र से ज्ञात होगा।

कलि (चैत्र, मेष)	सप्तर्षि (चैत्र)	विक्रम चैत्र	विक्रम (आषाढ़) (कार्त्तिक)	ईसवी (जनवरी)	शक (चैत्र, मेष)
गत ४९७९ वर्त्तमान ४९८०	६४५४	१९३५	१९३४	१८७८	१८००

चेदि भाद्रकृष्ण १ प्रतिपदा	गुप्तवल्लभी कार्त्तिक	गुप्त (चैत्र)	हिजरी (मोहर्रम)	फ़सली दक्षिणी (मृग, जुलाई)	फ़सली वङ्गाली (भाद्र कृष्णा १)
१६३०	१५५९	१५५९	१२९५	१२८७	१२८५

विलायती (कन्या)	अमली भाद्रशु० १२	वङ्गाली (मेष)	अर्बी सूर (मृग)	हर्ष	मगी (मेष)	कोल्लम (सिंह, कन्या)
१२८५	१२८५	१२८५	१२७८	१२७२	१२४०	१०५३

नेपाल (नेवार) (कार्त्तिक)	चालुक्य	सिंह (आषाढ़)	लक्ष्मणसेन (कार्त्तिक)	इलाही (अकबरी) (सायन मेष)	शिवा जी राजशक (ज्येष्ठ शुक्ला १३)
९९९	८०२	७६४	७५९	३२३	२०४

धूमकेतु (Comet.)

ग्रह, उपग्रह और नक्षत्रों के अतिरिक्त एक प्रकार का ज्योतिष्क कभी कभी रात्रि को आकाश में दृष्टिगोचर होता है। यह गोलाकार और पुच्छ के साथ होता

है। इस के पुच्छ ही में दीप्ति रहती है और गृहमार्जनी (झाड़) की नाईं देख पड़ती है। इस ज्योतिष्क को "धूमकेतु" कहते हैं। धूमकेतु के शरीर (आकार) में दो भाग होते हैं, एक मस्तक और दूसरा पुच्छ। इस का मस्तक भाग कुछ उज्ज्वल एवं उस का मध्यभाग तारा की नाईं अपेक्षाकृत दीप्तिमान् होता है। यही मध्यस्थल धूमकेतु की अष्टि प्रतीत होती है। पुच्छभाग कुछ उज्ज्वल होता है और कभी कभी किञ्चित् वक्रभाव से क्रमशः प्रशस्त होकर बहुत दूर तक बढ़ जाता है। पुच्छ का मध्यभाग अपेक्षाकृत् कृष्ण वर्ण होता है। एवं एक रेखा में रहने के कारण उस के दो अलग अलग भाग दीखते हैं। धूमकेतु का केतु बहुत कालपर्य्यन्त सूर्य के विपरीत दिशा में रहता है। सब समय धूमकेतु का केतु हम लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, कभी कभी केतुहीन धूमकेतु एवं कभी कभी छः केतुयुक्त धूमकेतुयुक्त धूमकेतु दीखने लगता है। धूमकेतु प्रभृति स्वयं प्रकाशमान नहीं किन्तु अन्यान्य ग्रहों की नाईं यह भी सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता है। जब यह सूर्य के निकट होता है तो दीखने लगता है। अन्यथा दूर होने पर अदृश्य होता है। और ग्रहों को नाईं यह भी सूर्य की परिक्रमा किया करता है। अर्थात् पश्चिम से पूर्व और कभी कभी पूर्व से पश्चिम जाता है। अद्यावधि यूरोपियन विद्वानों ने लगभग ७०० धूमकेतुओं की गति विधि आदि का निश्चय किया है। एवं जिन-जिन पुरुषों ने जिन धूमकेतुओं का पता लगाया है उन उन के नाम से वे वे धूमकेतु प्रसिद्ध किये गये हैं। हमारे बहुत से नवशिक्षित भारतवर्षीय पुरुषों को ऐसी धारणा है कि हिन्दू लोगों के यहां इस का कुछ उल्लेख नहीं है। यह उन की एकमात्र भूल है, क्योंकि प्रथम तो हमारे वेद ही में इस का मूल पाया जाता है। एवं अन्यान्य कतिपय ज्योतिष के संहिता ग्रन्थों में १००० के लगभग धूमकेतुओं का लेख है:—

शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥
(अथर्व वे० कां० १९। ६। मं० १०)

कभी कभी धूमकेतु सूर्य के अतिनिकट होने के कारण उसे बड़ी उष्णता होती है।

पैतामहश्चलकेतुः पञ्चवर्षशतं प्रोष्य उदितः। अथोद्दालकश्वेतकेतुर्दशोत्तरवर्षशतं प्रोष्य दृश्यः। शूलाग्राकारां शिखां दर्शयन् ब्राह्मनक्षत्रमुपसृत्य मनाग्ध्रुवं ब्रह्मराशिं सप्तर्षीन संस्पृश्य कश्यपः श्वेतकेतुः पञ्चदशं वर्षशतं प्रोष्यैंध्रां पद्मकेतोश्चारान्ते''' । नभस्त्रिभागमाक्रम्यापसव्यं निवृत्यार्द्धप्रदक्षिणजटाकारशिखः। अथरश्मिकेतुर्विभावसुजः प्रोष्य शतमावर्त्तकेतोरुदितश्चारान्ते कृत्तिकासु धूमशिखः।

बृहत्संहिता ग्रन्थ के टीकाकार पं० भट्टोत्पल ने "पराशरसंहिता" नामक ग्रन्थ के वचन का उल्लेख किया है।

भा०—पैतामहकेतु ५०० वर्ष प्रवास कर अर्थात् एक बार दृश्य होकर ५००

वर्ष के पीछे दृष्टिगोचर हुआ। उद्दालकश्वेतकेतु ११० वर्ष के पीछे दृष्टिगोचर हुआ। शूलाग्रशिखाधारी काश्यपकेतु १५०० वर्ष के पीछे, पद्मकेतु उदय होकर पूर्व से होता हुआ ब्राह्मराशि (अभिजित्) नक्षत्र स्पर्श करता हुआ ध्रुवनक्षत्र ब्रह्मनक्षत्र और सप्तर्षि नक्षत्रों को स्पर्श करता हुआ आकाश के तीसरे भाग को अर्द्ध प्रदक्षिणाकार कर जटाधारी की नाईं अवस्थित है। एवं विभावसुज रश्मिकेतु सौ वर्ष के पीछे दृश्य हुआ और आवर्त्तकेतु कृत्तिका नक्षत्र में प्रकाशित है। इन प्रत्येक धूमकेतुओं के साथ जो व्यक्तिविशेष के नाम लगे हैं वह इस कारण से जिन जिन महापुरुषों ने जिन जिन धूमकेतुओं को देख कर उन का उल्लेख किया था उन उन के नाम से वे वे प्रसिद्ध हैं।

———

उल्कापिण्ड

रात्रिकाल में जो गगनमण्डल से नक्षत्र गिरते दीख पड़ते हैं वह नक्षत्रपात नहीं किन्तु उल्कापिण्डपात होता है।

उल्कापिण्ड किस प्रकार कहां से गिरता है इस बात पर आधुनिक यूरोपियन विद्वानों ने अनेक वादानुवादपूर्वक यह निश्चय किया है कि जिस प्रकार ग्रह, धूमकेतु आदि निर्दिष्ट नियमानुसार सूर्य की परिक्रमा करते हैं उसी प्रकार उल्कापिण्ड भी सूर्य के चारों ओर भ्रमण करता है। उल्कापिण्ड और पृथिवी के भ्रमण मार्ग का सम्पात (संयोग स्थान) है। जब पृथिवी और उल्कापिण्डगण भ्रमण करते करते सम्पातस्थान में पहुंच जाते हैं, उस समय उल्कापिण्ड सब पृथिवी में गिरते हैं या उसी समय न गिर कर भूवायु राशि में मिल जाते हैं। एवं पीछे क्रमशः पृथिवी के आकर्षण के प्रभाव से भूतल में गिरते हैं। उल्कापिण्ड की संस्था १६ माईल से २०० माईल पर्यन्त पृथिवी से ऊपर को है और इसकी गति प्रतिविपल १८ माईल से ४० माईल पर्य्यन्त होती है। प्रतिवर्ष में पृथिवी में कितने उल्कापिण्ड गिरते हैं, इस की संख्या करनी दुःसाध्य है। प्रतिदिन लाखों उल्कापिण्ड पृथिवी के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में गिरते हैं। उल्कापिण्ड में परीक्षा से देखने पर निश्चित हुआ है कि इस में लोहा, टीन आदि अनेक पृथिवी की अपेक्षा विलक्षण धातु रहते हैं। हमारे भारतीय ज्योतिषशास्त्रों में अशनि और पाषाण द्रव्य मिश्रित इस के पिण्ड में लिखा है। एवं वेद में इस का भी उल्लेख है:—

शन्नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत् ॥
(अथर्व० कां० १९। ९। मं० ७)

आधुनिक सिद्धान्त कैसा मिलता है कि पृथिवी के गमन से उल्का टक्कर खा

कर गिरता है। जैसा ऊपर कहा गया है। और श्री पं० श्रीपति ने भी एक ज्योतिष ग्रन्थ में उल्कापिण्ड का उल्लेख किया है।

ज्वार और भाटा

प्रतिदिन नियमपूर्वक जो समुद्र के जल का ह्रास एवं वृद्धि होती है उस का ज्वारभाटा कहते हैं, अर्थात् समुद्र का जल जो सहसा बढ़ जाता है, उस को ज्वार (संस्कृतभाषा में "वेला") कहते हैं और यही ज्वार का जल जब क्रमशः घट जाता है, तब उस को भाटा कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की आकर्पण शक्ति से यह घटना होती है।

ज्योतिर्वित् पण्डितों ने यह निश्चय किया है कि चन्द्रमा पृथिवी के आकर्षण से आकृष्ट होकर अपनी कक्षा में घूमता है। पृथिवी जिस प्रकार चन्द्रमा को आकृष्ट करती है, चन्द्रमा भी उसी प्रकार पृथिवी का आकर्षण करता है। इसी कारण पृथिवी का जो भाग जिस समय चन्द्रमा के ठीक नीचे आता है। उस समय उस भाग की जलराशि बढ़ जाती है और वही ज्वार होता है। पृथिवी का जल भाग जिस प्रकार चन्द्रमा के आकर्षण के आधीन है, स्थल भाग भी उसी प्रकार चन्द्रमा का व्याप्य है, तो जल तरलपदार्थ है इसी कारण वह अनायास चालित और स्फीत हो जाता है। यह व्यापार सब को दृष्टिगोचर होता है, स्थल कठिन होता है। इस लिये स्फीत और सङ्कोच सहज से नहीं होता और वह इन्द्रियगोचर भी नहीं होता। पृथिवी का जो अंश चन्द्रमा के निम्न भाग में आ जाता है उस समय उस भाग में ज्वार होने की सम्भावना होती है। किन्तु रात दिन में कोई स्थान एक वार से अधिक चन्द्रमा के ठीक निम्नस्थ नहीं होता तब जो इस समय एक स्थान में दो वार ज्वार होता है, उस के कारण नीचे दिखलाये जाते हैं:—

पृथिवी का जो स्थान जिस समय चन्द्रमा के ठीक निम्नभाग में अवस्थित होता है, उस समय वह स्थान अन्यान्य अंश की अपेक्षा उस के निकटवर्त्ती होता है, इस कारण उस स्थान का जल चन्द्रकर्तृक अधिक आकृष्ट होकर चन्द्रमा के सम्मुख स्फीत हो जाता है। उस स्थान का जल इस प्रकार बढ़ता है। उसके पादविपक्ष (पाताल) स्थान चन्द्रमा से अधिक दूर होने के कारण वहां चन्द्रमा का आकर्षण न्यून होता है। कारण यह है कि जो वस्तु आकर्षण पदार्थ के निकट रहता है वही अधिक तेज से आकृष्ट होता है और निकट से जैसे जैसे दूर जाता है, आकर्षण नत हो जाता है और अपर स्फीत अर्थात् उन्नत और स्थानद्वय पृथिवी के केन्द्र से बहुत दूर अपसृत हो जाता है। सुतरां दोनों स्थानों के ऊपर पृथिवी की केन्द्राभिकर्षणी शक्ति अनुसार खर्वता होती है। इस कारण उस उस स्थान की जलराशि

की तरलता स्वाभाविक तरलता की अपेक्षा अधिक होती है। इस प्रकार मध्याकर्षण के विरल प्रभाव से दोनों ओर का जल तरल होता है और एक ओर चन्द्रमा के अव्यवहित आकर्षण से उक्त जल स्फीत (बढ़ता है) होता है, दूसरी ओर केन्द्र-प्रसारणी शक्ति का प्रादुर्भाव के निबन्धन से वह नत हो जाता है। इस से दोनों जगह ज्वार होता है। जिस स्थान की जलराशि स्फीत होती है, उस के पार्श्वस्थ जलराशि अवश्य ही सङ्कुचित होती है। इसी सङ्कोच का नाम भाटा है।

चन्द्रमा जिस प्रकार जल आकर्षण करता है सूर्य भी उसी प्रकार जल आकर्षण करता है। एवं कोई बाधा न होने से सूर्यकर्तृक एक पृथक् ज्वार होने की सम्भावना थी किन्तु सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा पृथिवी से बहुत निकटवर्त्ती है। इस कारण उस की आकर्षण शक्ति अधिक होती है। एव उसी शक्ति द्वारा सूर्यकृत ज्वार निराकृत होता है। परीक्षा द्वारा निश्चय किया गया है कि पृथिवी के जल के ऊपर सौर आकर्षण की अपेक्षा चन्द्राकर्षण अधिक होता है। सुतरां, चन्द्रमा और सूर्य दोनों जल आकर्षण करने से चन्द्राकर्षण सौराकर्षण को रोक देगा और दोनों यदि समसूत्र में रहें और आकर्षण करें तो अधिक शक्ति होगी। वस्तुतः इसी प्रकार होता भी है। अमावास्या समय चन्द्रमा और सूर्य समसूत्रस्थ होते हैं अर्थात् उस समय चन्द्रमण्डल सूर्यमण्डल के नीचे भाग में अवस्थिति करता है। इस कारण दोनों मिल कर जल आकर्षण करते हैं, इस कारण अन्यान्य दिन की अपेक्षा इस दिन ज्वार अत्यन्त प्रबल होता है और पूर्णमासी को सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकाश-मण्डल के विपरीत भाग में उदय होते हैं। चन्द्रमा जब पूर्व भाग में तो सूर्य पश्चिम भाग में रहता है। एवं चन्द्रमा जब पश्चिम भाग में तो सूर्य पूर्व भाग में रहता है। चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त २४ होरा ४८ मिनिट लगता है। एवं इतने समय में पूर्वोक्त रीति से दो बार ज्वार हो जाता है। सुतरां इस ज्वार की प्रतिदिन निरूपित एक समय होने की सम्भावना नहीं।

प्रातःकाल में १० बजे ज्वार होने से दूसरे दिन १० बज के २४ मिनट में ज्वार आरम्भ होगा और प्रतिदिन ४८ मिनट अग्रसर होता है अर्थात् एकादशी के दिन ६ बज के ५६ मिनट पर ज्वार होने से द्वादशी दिन ७ बज कर ४४ मिनट पर होगा। ज्वार के आरम्भ से भाटा को समाप्तिपर्यन्त १२ होरा २४ मिनट होता है। इस काल को द्विगुण करने पर एक तिथि होगी। ज्वार आरम्भ होने पर प्रायः छः होरा पर्यन्त दक्षिण ओर से उत्तराभिमुख वेगवान् होता है। उस के बाद प्रायः १२ मिनट पर्यन्त स्थगित रहता है। उस के बाद भाटा होता है। भाटा के आरम्भ होने पर वह वेग पुनर्वार दक्षिणाभिमुख छः होरा पर्यन्त अपसरण करके ४ मिनट तक स्थिर होता है। अनन्तर उस के पूर्वोक्त रीति से पुनर्वार ज्वार होता होता, है और पुनर्वार भाटा होता है।

पूर्णमासी और अमावास्या के दो एक दिन पीछे ज्वार की अत्यन्त वृद्धि होती है और चान्द्रमास के द्वितीय और चतुर्थ पाद के प्रथम दो तीन दिन ज्वार अत्यन्त खर्व हो जाता है। कारण अमावास्या और पौर्णमासी के समय चन्द्रमा और सूर्य मिलकर अधिक परिमाण जल आकर्षण करने से जल की गति का वेग अत्यन्त प्रबल हो जाता है। अमावास्या और पौर्णमासी के पीछे चन्द्रमा और सूर्य आकर्षण नहीं करते। इस से आकर्षण प्रभाव ह्रास हो जाता है, किन्तु जल की गति का वेग दो एक दिन न बीतने पर ह्रास नहीं होता। क्योंकि जड़ पदार्थ एक बार किसी शक्ति के प्रभाव से चालित होने से उस की गति शीघ्र स्थिर नहीं होती। इसी प्रकार चन्द्रमा की कला की वृद्धि और ह्रास क्रम से ज्वार भाटा होता है, जैसा कि ऊपर कहा गया। हम विस्तारभय से यहां अधिक उल्लेख नहीं करते। पाश्चात्त्य पण्डित और भारतवर्षीय नवशिक्षित लोगों की धारणा है कि भारतवर्ष में उक्त घटनाविषयक नियम नहीं जानते हैं। परन्तु यह कहना उन का एक मात्र युक्तिशून्य है। हमारे शास्त्रों में चन्द्रमा को समुद्र का पुत्र, एवं चन्द्रमा की कला की वृद्धि और ह्रास क्रम से समुद्र में वेला (ज्वार) वा जलोच्छ्वास और पुनः जल का ह्रास (भाटा) होता है, स्पष्टतया लिखा है। जैसेः—

वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम् ।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ।।१०।।
चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ।।
महाभारते आदिपर्वणि २१ अध्याये

अर्थात्—यह जो समुद्र में ज्वार और भाटा से लहरें ऊपर को उठ उठ कर पुनः गिरती हैं, इसका कारण वायु और चन्द्रमा की कला की वृद्धि और ह्रास होता है।

वेध या पर्यवेक्षण (Observation)

शलाका या यष्टि या दूसरे किसी पदार्थ के सहारे से जो आकाशस्थ नक्षत्रादिकों को देखते हैं, उस क्रिया का नाम संस्कृत में "वेध" है। एवं यन्त्रादि द्वारा देखने से "यन्त्रवेध" कहते हैं। आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वानों, एवं हमारे कतिपय नवशिक्षित भारतवर्षीय लोगों को ऐसी धारणा है कि भारतवर्ष में वेध की परम्परा एवं वेधविषयक ग्रन्थ तथा यन्त्रादिक नहीं थे और न कहीं वेधशाला थी इत्यादि।

यह धारणा उन की एकमात्र युक्तिशून्य और अविश्वासनीय है क्योंकि जिन सूर्य, पृथिवी, नक्षत्र, धूमकेतु आदि की गति आदि को यथावत् जानने के लिये अँग्रेज अरबों रुपये व्यय करके एक यन्त्र निर्माणपूर्वक २०० वर्ष के लगभग में

ग्रहादिकों की गति विधि आदि से अभिज्ञ हुए हैं, इन विषयों को हमारे पूर्वज करोड़ों वर्ष पूर्व ही से निश्चय कर हमारे ज्योतिष शास्त्र में उनका उल्लेख कर गये हैं। राशिचक्र १२ भाग, एवं एक एक भाग में तीस तीस अंश एवं ३६० अंश का राशिचक्र, धूमकेतु, सप्तर्षि तारे, ग्रहण आदि विषय, वृहस्पति का गुरुत्व अधिक जान कर गुरु नाम रखना, मङ्गल को लोहिताङ्ग (अंग्रेजों ने ताम्बे की नाईं रङ्ग निश्चय किया है) इत्यादि बिना यन्त्रों के ही कर गये हैं। अब हम यहां पाठकों के अवलोकनार्थ कतिपय वेध यन्त्रों का नाम लिखते हैं।

१—गोलयन्त्र (Globe) काठ का बना—खगोल और भूगोल के विषयों को चित्र द्वारा भलीभान्ति ज्ञान के लिये। देखो सू० सि० अ० १२ एवं सिद्धान्त शिरोमणि भुवनकोष।

२—चक्र यन्त्र
३—चाप
४—तुर्य गोल
} धातुमय या काष्ठमय—इस यन्त्र से ग्रहों का अक्ष, भोग, शर आदि जाना जाता है (अङ्गरेजी में 'थेडोलाइट कम्पास" कहते हैं) इस से पृथिवी को भी माप कर क्षेत्र फल जान लेते हैं। अङ्गरेजी सरकार के सरवे विभाग एव इञ्जीनियरिङ्ग विभाग में इस से काम लिया जाता है।

५—नाड़ी वलय—इस यन्त्र से स्वदेशीय उदय आदि काल ज्ञान होता है।

६—घटिका यन्त्र—प्रसिद्ध ही है।

७—शङ्कु—हाथीदान्त या किसी घन पदार्थ का १२ अङ्गुल लम्बा बना कर उस की छाया से कालज्ञान, दिशा आदि जानते हैं।

८—फलक यन्त्र—इस से काल ज्ञान होता है।

९—यष्टियन्त्र (Compass) क्षेत्रफल निकालने के लिये एवं ज्या, ज्यार्द्ध, अग्रा, त्रिज्या इत्यादि प्रयोजन के लिये होता है।

१०—स्वयंवह यन्त्र—काल ज्ञान के लिये।

यहां हम ने दिङ्मात्र यन्त्रों का नाम लिखा है। यन्त्रों के बनाने के लिये हमारे भारतवर्ष में शिल्पिगण ज्योतिषियों से भिन्न थे, उन के ग्रन्थ भी भिन्न भिन्न थे, क्योंकि जहां यन्त्र का उल्लेख ज्योतिष में आया है, प्रायः यह लिखा रहता है कि अच्छे गोलविद्या जानने वाले शिल्पी से अमुक यन्त्र बनवावें। वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड में जहां महाराजा दशरथ जी ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया है, लिखा है कि यज्ञशाला और यज्ञवेदी आदि बनाने के लिये गणक, शिल्पी, खनक, तक्षा (बढ़ई) आदि को बुलाना चाहिये। इस से शिल्प शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र भिन्न भिन्न होने के कारण ज्योतिष शास्त्र में यन्त्र निर्माण का पूरा उल्लेख नहीं किया

गया है। शिल्प शास्त्र के ग्रन्थ अधुना नहीं मिलते। परन्तु यन्त्रविधायक थोड़े से नवीन ग्रन्थों का नाम लिखते हैं जो आर्षग्रन्थों के अनुकूल ही हैं।

१—सर्वतोभद्र यन्त्र—भास्कराचार्य कृत सिद्धान्त शिरोमणि पुस्तक में इस का उल्लेख है, परन्तु यह ग्रन्थ नहीं मिलता है।

२ -यन्त्रराज=महेन्द्रसूरि कृत एवं इस पर महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने टीका की है। १८२ श्लोक हैं। शाके १२९२ का बना है।

३—ध्रुवभ्रमयन्त्र—पद्मनाभकृत ३१ श्लोक हैं। इस पर टीका ग्रन्थकार ने अपने आप की है। शाके १३२० में बना।

४—यन्त्र चिन्तामणि—चक्रधरकृत। शाके ११०० में बना। २६ श्लोक में ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

५—प्रतोदयन्त्र—गणेशकृत। १३ श्लोक।

६- गोलानन्द—चिन्तामणि ने १२४ श्लोकात्मक ग्रन्थ बनाया।

वेधशाला (Observatory)

वेधशाला उस को कहते हैं जहां ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धि यन्त्र (वेधोपयोगी) रहते हैं और समय समय पर यन्त्र द्वारा ग्रहादिकों को वेध कर गणित द्वारा गति आदि का निश्चय करते हैं। यह कार्य बहुत धनसाध्य होता है। इसी कारण प्रत्येक राज्यशासन-समय यह राजाश्रित रहा। इस समय थोड़े काल से जब से भारत की राज्यश्री समुद्र यान पर चढ़ कर द्वीपान्तर को गई, उस के साथ साथ भारत की विद्या भी गई। एवं वेधशाला आदि का क्रम टूट गया।

पाठकों के अवलोकनार्थ थोड़े से स्थानों का नाम लिखते है कि जहां जहां वेधशाला थीं—और कहीं कहीं अब भी मृत्युकल्प हो रही हैं।

१—सितारा
२—इन्दौर
३—वीड
४—हैदरावाद

५—दिल्ली
६—मथुरा
७—जयपुर
८—उज्जयिनी
} श्री मह राजा जयसिंह कारित संवत् १७५०। उस समय इन की सभा में पं० केशव एवं गणेश ये दो गणक बड़े प्रवीण थे।

९ काशी—श्री राजा मानसिंह कारित—मान मन्दिर नाम से प्रसिद्ध है। इस का

जीर्णोद्धार तक इस समय नहीं हो सका। इस विषय पर पं० बापूदेव शास्त्री जी ने सन् १८६८ ईस्वी में एक लेख प्रकाशित किया था और बहुत शोक प्रकाशित किया था।

भूगोल वर्णन

यद्यपि खगोल विधायक पुस्तक के साथ भूगोल का सम्बन्ध उतना नहीं है परन्तु सू० सि० अ० १२ में इस का विषय गौणभाव से आया है और काष्ठमय भूगोल और खगोल की रचना का प्रकार लिखा है। इस कारण अब हम उस गोल का वर्णन करते हैं।

कृत्रिम गोल एक धातु के तार के आधार से रहता है। यह तार उस गोल के बीच में से केन्द्र होके जाता है। इस के दो अन्त एक पीतल के चक्रवृत्त में दो छेद होते हैं, उन में लगे रहते हैं। यह पीतल का चलवृत्त आधारवृत्त कहावे और तार पृथिवी का "अक्ष" कहावे। पृथिवी का अक्ष अर्थात् उस के केन्द्र पर से जाने हारी एक काल्पनिक रेखा है जिस पर उस का भ्रमण माना है और जिस के चारों ओर समस्त खस्थ पदार्थों का भ्रमण प्रतिदिन देख पड़ता है।

उस अक्ष के दोनों अन्तों को पृथिवी के ध्रुव कहते हैं। उन में एक को "उत्तर ध्रुव" और दूसरे को "दक्षिण ध्रुव" कहते हैं।

जो वृत्त दोनों ध्रुव होके जाते हैं उन को "याम्योत्तर वृत्त" (एक को दक्षिण वृत्त और दूसरे को उत्तर वृत्त) या "मध्याह्न वृत्त" कहते हैं। भूगोल के पूर्व की ओर से पश्चिम को ओर घूमने से पृथिवी का केन्द्र और सूर्य इन के ठीक बीच में जब कोई मध्याह्न वृत्त आता है तब उस मध्याह्न वृत्त पर सूर्य के सम्मुख जितने देश रहते हैं। उन में मध्याह्न होता है।

कृत्रिम वृत्त पर केवल १२ मध्याह्न वृत्त लिखे रहते हैं और अवशिष्ट स्थान में आधार वृत्त को मध्याह्नवृत्त कर सकते हैं।

पृथिवी के दोनों ध्रुवों से जो समान अन्तर पर एक वृत्त रहता है और जो गोल के समान दो भाग करता है उस को "निरक्ष देश" कहते हैं और गोल के उत्तरार्द्ध को "उत्तर गोल" और दक्षिणार्द्ध को "दक्षिण गोल" कहते हैं।

अब पृथिवी के पृष्ठ पर जो स्थान हैं उन पर पूर्वोक्त अनेक काल्पनिक वृत्त मान के उन स्थानों का परस्पर स्थिति सम्बन्ध किस प्रकार से ठहराते हैं इस का विचार करते हैं:—

प्रत्येक वृत्त के ३६० समानभाग मान लिये हैं, उन में से प्रत्येक को अंश कहते हैं। इस लिये अर्द्ध वृत्त में १८० अंश, वृत्त के चतुर्थांश में ९० अंश होते हैं। जैसे

दोनों ध्रुव परस्पर १८० अंश दूर में हैं और निरक्षदेश से प्रत्येक ध्रुव ९० अंश पर है। निरक्ष देश से किसी स्थान के अंशात्मक अन्तर का "अक्षांश" कहते हैं, जो वह स्थान निरक्ष देश के उत्तर में हो तो "उत्तर अक्षांश" एवं दक्षिण में हो तो "दक्षिण अक्षांश" कहलाते हैं। परन्तु संस्कृत में स्थान की जिस दिशा में निरक्ष देश हो उस दिशा के अक्षांश कहलाते हैं। अर्थात् निरक्ष की उत्तर में स्थान हो तो दक्षिण अक्षांश और दक्षिण में स्थान हो तो उत्तर अक्षांश होता है। इस लिये यह परिभाषा उक्त परिभाषा से उलटी है, जैसे उत्तरध्रुव और निरक्षदेश इन के ठीक मध्य में ४५ उत्तर अक्षांश हैं परन्तु संस्कृत में वे दक्षिण अक्षांश कहलाते हैं। निरक्षदेश से जो जो स्थान अधिक दूर रहते हैं, वहां अक्षांश अधिक होते हैं।

१—कृत्रिम गोल पर किसी निर्दिष्ट स्थान के अक्षांश जानने के लिये

नियम—आधार वृत्त की जो अलङ्ग निरक्ष से ध्रुव तक अंशसंख्या से अङ्कित रहती है उस अलङ्ग के नीचे निर्दिष्ट स्थान को ले आना, तब उस स्थान के ऊपर जिस अंश संख्या का चिह्न हो उतने अक्षांश जानना।

किस स्थान पर सब से अधिक अक्षांश हैं, और कितने होते हैं ? पहिले कहा है कि हर एक वृत्त में ३६० अंश मान लिये हैं, उन को अंश कहते हैं। इस लिये एक अंश की लम्बाई वृत्त के महत्त्व के अनुसार होती है। गोल पर जो वृत्त गोल के समान दो भाग करते हैं उन को महावृत्त कहते हैं। जैसे निरक्षदेश मध्याह्नवृत्त ये सब महावृत्त हैं। महावृत्त के एक अंश की लम्बाई अनुमान ३० कोश होता है। अब हिन्दुस्तान के उत्तर से ले दक्षिण तक और वैसे ही सिंहल आफ्रिका अमेरिका और आस्ट्रेलिया इन के स्थलमान से लम्बाई गिनो।

२—किसी निर्दिष्ट स्थान में जितने अक्षांश हों उतने ही अक्षांश जितने स्थानों में होवें उन सब स्थानों को जानने के लिये

नियम—आधार वृत्त की जो अलङ्ग निरक्ष से ध्रुव तक अंशसंख्या से अङ्कित रहती है उस अलङ्ग के नीचे उस निर्दिष्ट स्थान को ले आना, पुनः उस के ऊपर जिस अंशसंख्या का चिह्न हो उस संख्या को मन में धर, गोल को घुमाने से जो जो स्थान उस चिह्न के नीचे आवें वे अभीष्ट स्थान हैं।

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि निरक्षदेश से ९० अंश के अन्तर पर जो दो ध्रुवस्थान हैं उन्हें छोड़ और किसी स्थान का निश्चय केवल अक्षांश पर से नहीं हो सकता। जितने स्थान पर समान अक्षांश हैं वे सब अवश्य निरक्षदेश के एक समान्तर वृत्त में रहते हैं। उस समान्तर वृत्त को "स्पष्ट परिधि" कहते हैं। अब

कृत्रिम गोल पर यद्यपि केवल १६ स्पष्ट परिधि लिखे रहते हैं तो भी गोल पर हर एक स्थान पर से एक स्पष्ट परिधि की कल्पना हो सकती है। गोल पर के १६ स्पष्ट परिधियों में हर एक गोलार्द्ध में आठ आठ लिखे रहते हैं और हर एक गोलार्द्ध में निरक्ष और ध्रुव इन के बीच में ९० अंश होने के कारण वे स्पष्ट परिधि सब मध्याह्न वृत्तों को दश दश अंशों से विभक्त करते हैं। और हर एक विभाग का मध्य देश भी अक्षांश जानने के लिये आधारवृत्त से विभक्त हो सकता है। यह स्पष्ट है कि पृथिवी के ध्रुव तो स्वतः निश्चित हैं। उन पर से निरक्ष देश का निश्चय होता है। निरक्ष देश पर से स्पष्ट परिधि ठहराये जाते हैं। परन्तु वहां से पूर्वापर देश नापते हैं। उस के ठहराने का इस में कोई प्रकार नहीं है। इस लिये वैसा "याम्योत्तर" वा 'मध्याह्न वृत्त' जिस से पूर्वापर देश नापते हैं और जिस को मुख्य रेखा कहते हैं, उसका ठहराना स्वतन्त्रता से होता है।

जैसे भारतवर्षीय ज्योतिष ग्रन्थों में उज्जयिनी आदि पर से जो मध्याह्न वृत्त जाता है उस को मुख्य रेखा मानते हैं। और अङ्गरेज लोग लण्डन पर से जो मध्याह्न वृत्त जाता है उस को मुख्य रेखा मानते हैं और मुख्य रेखा छोड़ कर जो स्थान हैं वे उस के पूर्व में या पश्चिम में गिने जाते हैं। जिस प्रकार किसी स्थान का निरक्ष रेखा से जो अन्तर होता है उसे अक्षांश कहते हैं। उसी प्रकार उस स्थान का जो मुख्य रेखा से अन्तर निरक्ष पर नापा जाता है उस को "देशान्तर" कहते हैं।

३—देशान्तर निकालने का नियम

आधारवृत्त के नीचे निर्दिष्टस्थान को ले आना। तब मुख्य रेखा से आधार वृत्त तक निरक्षदेश में जितने अंश होंगे सो निर्दिष्टस्थान का देशान्तर होगा।

जो निर्दिष्टस्थान मुख्यस्थान के दहिनी ओर होवे तो पूर्व देशान्तर और जो बाईं ओर होवे तो पश्चिम देशान्तर जानना।

४—निर्दिष्ट स्थान में जो देशान्तर है, उस देशान्तर के जितने और स्थान होवें उन के जानने के लिये

नियम—आधारवृत्त के एक अलङ्ग के नीचे निर्दिष्ट स्थान को ले आना; तब एक ध्रुव से ले दूसरे ध्रुव तक उस अलङ्ग के नीचे जितने स्थान होवें वे सब समान देशान्तर के स्थान हैं।

५—किसी स्थान के अक्षांश और देशान्तर निकालने का नियम

आधार वृत्त की जो अलङ्ग निरक्ष से ध्रुव तक अंशों से अङ्कित रहती है, उस अलङ्ग के नीचे वह निर्दिष्ट स्थान ले आना। तब उस स्थान के ऊपर आधार वृत्त में जितनी अंश संख्या का चिह्न होगा, उतने वहां अक्षांश जानना, और आधार

वृत्त की वह अङ्कित अलङ्ग जहां निरक्ष में लगो हो वहां जितने अंश का चिह्न होगा, उतना देशान्तर जानना।

नियम ६

जिस स्थान के अक्षांश और देशान्तर ज्ञात हैं उस स्थान को गोल पर ठह-राने का नियम—

निरक्ष देश पर निर्दिष्टस्थान का देशान्तर का अंश चिह्न जानके उसे आधारवृत्त की अङ्कित अलङ्ग के नीचे ले आना तब आधारवृत्त पर जहां निर्दिष्ट अक्षांश का चिह्न हो उस के नीचे अभीष्ट स्थान होगा।

यह पांचवें नियम के उलटा है।

निर्दिष्ट स्थान कृत्रिम गोल पर किस ठांव में है, यह ठहराने की जब इच्छा हो, तब पृथिवी पर उस स्थान के वास्तविक अक्षांश और देशान्तर जान के तदनुसार उस स्थान का कृत्रिम गोल पर चिह्न करना।

उदाहरण—

एक शुभ्र गोल बनाके उस पर किसी एक ठांव में उत्तर ध्रुव का एक चिह्न करके उस के सामने ही गोल पर दूसरा एक दक्षिण ध्रुव का चिह्न करना। फिर उन दोनों ध्रुवों से समान अन्तर पर एक निरक्षदेश अङ्कित करके सोलह स्पष्ट परिधि और १२ मध्याह्न रेखा अङ्कित करना और उन मध्याह्न रेखाओं में किसी एक को मुख्य रेखा अर्थात् लण्डन की मध्याह्न रेखा ठहराना। फिर कृत्रिम गोल पर इस मुख्य रेखा के किसी बिन्दु पर लण्डन का चिह्न किया जावे सो ठहराना चाहिये। जो पृथिवी के पृष्ठ पर लण्डन से उत्तर ध्रुव तक अन्तर माप सकते तो उस बिन्दु को ठहरा सकते। परन्तु आज तक कोई ध्रुव तक जा नहीं सका। इस लिये उस बिन्दु को ठहराने के लिये जो आकाश से सम्बन्ध रक्खे ऐसा कोई दूसरा प्रकार यहां अवश्य लगाना चाहिये।

आकाश की ओर देखने से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि पृथिवी के चारों ओर और सब आकाशस्थ पदार्थ भ्रमण करते हैं। अथवा पृथिवी अपने अक्ष पर भ्रमण करती है और इसी से सब खस्थ पदार्थ हमारी दृष्टि के सामने आते हैं। इन दोनों कल्पनाओं में पृथिवी के भ्रमण विशेष में लाघव है और वैदिक प्रमाण से भी पृथिवी ही का भ्रमण सिद्ध होता है। अब ऐसी कल्पना करो कि पृथिवी अपने अक्ष पर नित्य एक बार भ्रमण करती है। तब पृथिवी के केन्द्र से उस का ध्रुव स्थान होके जाने हारी रेखा में जो कोई नक्षत्र होता तो और सब घूमते हुये नक्षत्रों में वही एक स्थिर देख पड़ता। एक चमकीली तारा उस स्थिर स्थान के अति निकट में है इसी लिये उस को ध्रुव तारा कहते हैं। जो देखने वाला पृथ्वी के ध्रुव स्थान पर रहता है उस को वह ध्रुव तारा ठीक शिर पर दिखाई देता है। और जो

निरक्षदेश पर रहता है उस को यह पृथ्वी जहां चारों ओर आकाश में लगी हुई दिखाई देती है जिस को संस्कृत में "क्षितिज" कहते हैं, उसमें ध्रुवतारा देख पड़ता है। इसी प्रकार भास्कराचार्य ने भी "सिद्धान्तशिरोमणि" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौ।
ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तराविति॥

पृथिवी पर निरक्षदेश और ध्रुव इन के बीच में जो देश अधिक ध्रुव के पास होगा, वहां ध्रुव तारा अधिक ऊंचा देख पड़ेगा। यह अर्थ आचार्य ने भी सि० शि० में लिखा है कि—

उदग्दिशं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम्।
उदग् ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेरिति॥

अब यह ध्रुव तारों की ऊंचाई एक वृत्त में हर एक क्षेत्रज्ञ नाप सकता है और इस ऊंचाई में जितने अंश होते हैं वे ही निरक्ष से भूमि पर अंश हैं। अर्थात् "अक्षांश" हैं। यों लण्डन में अक्षांश ठहरा के कृत्रिम गोल पर मुख्य रेखा में निरक्ष से उत्तर की ओर "अक्षांशान्तर" पर लण्डन का चिह्न करना। इस प्रकार से अथवा इस के सजातीय और किसी प्रकार से और सब स्थानों के वास्तविक "अक्षांश" ज्ञात होते हैं। परन्तु केवल अक्षांशों से प्रत्येक स्थान का निश्चय नहीं होता। इस लिये पृथिवी के पृष्ठ पर जो स्थान हैं उन के देशान्तर जानने की रीति का अवश्य विचार करना चाहिये। पृथिवी अपने अक्ष पर ६० घड़ी में एक बार घूमती है और ६० घड़ी का ३६० वां भाग १० पल होते हैं। इस लिये इस से यह जान पड़ता है कि जो स्थान मुख्य रेखा से पूर्व में एक अंश पर हैं वे सब मुख्य रेखा के मध्याह्न काल से दश पल पहिले सूर्य के नीचे आते हैं अर्थात् वहां तब मध्याह्न होता है और जो स्थान रेखा से पश्चिम एक अंश पर है, वहां मुख्य रेखा के मध्याह्न काल से दश पल पीछे मध्याह्न होता है। इसी प्रकार से जो स्थान पूर्व में दो अंश के अन्तर पर हैं, वहां २० पल पहिले मध्याह्न होता है। यों ही आगे भी। कृत्रिम गोल पर १२ मध्याह्न वृत्त लिखे रहते हैं। इसीलिये दो दो वृत्तों के बीच में पन्द्रह पन्द्रह अंश रहते हैं और १० पलों को जब पन्द्रह से गुणते हैं तब १५० पल अर्थात् अढ़ाई घड़ी होती है। अढ़ाई घड़ी की एक होरा होती है। इस लिये उन मध्याह्न वृत्तों को "होरा वृत्त" भी कहते हैं। अब जिस स्थान का देशान्तर ठहराना हो उस का मध्याह्न काल वेध से बूझ पड़ता है। और उसी क्षण में जो मुख्य रेखा का भी काल ज्ञात हो तो एक सुलभ गणित से इष्ट स्थान का देशान्तर बूझ पड़ेगा। अब इतना ही करना चाहिये कि इष्ट स्थान का मध्याह्न काल और लण्डन का मध्याह्न काल

इन दोनों का अन्तर जान के दश दश पलों का एक एक अंश गिनना और वे पूर्व वा पश्चिम जैसे होवें वैसा देशान्तर कहना जैसा कि निर्दिष्ट "पुर" के मध्याह्न काल में लण्डन में ११ बजे हों तो निर्दिष्ट पुर में १५ अंश पूर्व देशान्तर जानना और जो लण्डन में एक बजा हो तो निर्दिष्ट पुर में १५ अंश पश्चिम देशान्तर जानना। लण्डन का काल जानने के अनेक प्रकार हैं। उन में एक सुलभ प्रकार यह है कि शुद्ध अर्थात् दोषरहित एक कालमापक यन्त्र पास रखके उसे लण्डन में दृष्ट काल पर लगाके उस को वहां से पृथिवी के इतरभाग में ले जाना, तब जब तक कि वह यन्त्र शुद्ध प्रकार से चलता है तब तक उस पर से लण्डन का काल ज्ञात होगा। इस प्रकार घड़ी आदि यन्त्र बनाने की विधि हमारे शिल्प शास्त्र में है, परन्तु इस के वह ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। बड़ी नाव (जहाज) जो समुद्र में चलती हैं, उन पर देशान्तर जानने के लिये एक कालमापक यन्त्र रहता है। उन्नतांश बूझने के लिये एक षष्ठांश नामक यन्त्र रहता है। इस से अक्षांश जानने के लिये ध्रुवतारा वा और किसी खस्थ पदार्थ के उन्नतांश नापते हैं। तब नौकाध्यक्ष को कृत्रिम गोल पर से यह सब जान पड़ता है कि हम समुद्र के पृष्ठ पर किस ठांव में हैं और हम को इष्ट घाट पर पहुंचने के लिये किस दिशा में चलना चाहिये। ऐसी कल्पना करो कि मुख्य रेखा जहां निरक्ष में लगी है वहां नौका है। तब वहां दृष्ट हुआ मध्याह्न और मालमापक यन्त्र से ज्ञात हुआ लण्डन का मध्याह्न ये दोनों अवश्य एक ही काल में होंगे। अब वह नाव निरक्ष देश पर पश्चिम की ओर उतनी दूर तक गई जहां दृष्ट मध्याह्न काल लण्डन के मध्याह्न काल के पीछे १० पल पर हवे। तब वहां अंश पश्चिम देशान्तर होगा और उस नाव का गमन पश्चिम को ओर अनुमान ३० कोश होगा। परन्तु जो नाव ४५० अक्षांशों से स्पष्ट परिधि पर अर्थात् निरक्ष और ध्रुव इन के मध्य मार्ग पर चले तो काल में दश पल अन्तर होने से जो एक देशान्तरांश होता है, वह ३० कोश से न्यून ही कोश चलने से होगा। इसी प्रकार से और उत्तर की ओर देशान्तरांश की लम्बाई और छोटी रहती है। यह सब पृथिवी को गोलत्व कल्पना पर जैसी घटना होनी चाहिये तदनुसार ही होती है। पृथिवी गोल है। यह कल्पना नाव चलाने की जितनी रीतियां हैं उन सभों का मूल है और इन रीतियों से नाविक को कोई बड़ी भूल कभी नहीं होती। इस लिये नाविक लोग जो पृथिवी का आकार मानते हैं उस से और भांति का उसका आकार होना असम्भवनीय है।

विधि ७

किसी निर्दिष्ट स्पष्ट परिधि पर एक देशान्तरांश में कितने कोश होते हैं यह जानने के लिये नियम

निर्दिष्ट स्पष्ट परिधि पर दो होरा वृत्तों के बीच में जितना अन्तर होगा

उतना निरक्ष पर नापके उस में कितने अंश अन्तर्गत होते हैं, सो देख लेना। फिर उस अंश संख्या को दो से गुण देना। उतने कोश निर्दिष्ट स्पष्ट परिधि पर एक देशान्तरांश की लम्बाई होती है। सूर्य जो पर्याय से फिर फिर उसी मध्याह्न वृत्त पर आता है, इसी से प्राय: "काल गति" की गिनती होती है। इस से किसी मनुष्य का पृथिवी के पृष्ठ पर मध्याह्न वृत्त बदलने से कुछ चमत्कारिक घटना होती हैं। उदाहरण—ऐसी कल्पना करो कि कोई एक मनुष्य ६० घड़ी में पृथिवी को एक प्रदक्षिण कर सकता है और पृथिवी के अपने अक्ष पर घूमने से साठ घड़ी में उस की चारों ओर में सूर्य का भ्रमण देख पड़ता है। इस लिये वह मनुष्य अपनी गति से किसी स्थान का मध्याह्न काल में छोड़ पश्चिम को ओर चलता हुआ सर्वदा सूर्य के नीचे रह सकेगा। अर्थात् उस को साठों घड़ी मध्याह्न ही बना रहेगा और वह मनुष्य जिस स्थान से चला वहां के रहने हारे मनुष्य को उतने काल में दो मध्याह्न होंगे अर्थात् वह एक दिन गिनेगा और वे दो मनुष्य जब फिर मिलेंगे तब उन दोनों की गिनती में एक दिन का अन्तर होगा।

यहां एक पुरुष की साठ घड़ी में पृथिवी को प्रदक्षिण करने का सामर्थ्य मान के दोनों की गिनती में एक दिन का भेद दिखलाया। परन्तु उस प्रदक्षिण करने हारे मनुष्य को साठ ही घड़ी में एक प्रदक्षिण करना आवश्यक नहीं है। वह चाहे उतना धीरे चले और उस के चलने में चाहे उतना विराम हो तो भी वह मनुष्य प्रदक्षिण करके जब फिर अपने स्थान पर आवेगा तब उस को गिनती में एक दिन न्यून होगा। उदाहरण—

ऐसी कल्पना करो कि कोई मनुष्य अपने स्थान से पश्चिम की ओर एक देशान्तरांश पर गया, तब उस के छोड़े हुवे स्थान में जिस काल पर जितने मध्याह्न होंगे, उस काल के दश पल पीछे उस मनुष्य को वहां वहां उतने मध्याह्न होंगे, यह स्पष्ट है। इस गणित से जब वह मनुष्य अपने स्थान से ९० अंश पर पश्चिम में जा रहेगा, तब उस को अपने स्थान के मध्याह्नों से पन्द्रह घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। यों ही जब वह १८० अंश पर जावेगा तब उसके ३० घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। जब वह २७० अंश पर जा रहेगा, तब उस को ४५ घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। और जब ३६० अंश पर जावेगा, अर्थात् फिर अपने स्थान पर आ पहुंचेगा, तब उस को साठ घड़ी पीछे उतने मध्याह्न होंगे। इसी लिये वहां उस की गिनती में एक दिन न्यून होगा, फिर वह चाहे उतना धीरे चला हो और उस के चलने में चाहे उतना विराम हुआ हो। यों ही जो कोई मनुष्य किसी स्थान से पूर्व को ओर चले तो उस को मध्याह्न उत्तरोत्तर पहिले ही होंगे। तब जब उस की एक प्रदक्षिणा होगी तब उस की गिनती में एक दिन बढ़ जायगा।

पृथिवी के प्रदक्षिण करके आये हुवे लोगों से जो लोग मिले हैं उन का उन आये हुवे लोगों के साथ दिन वार के विषय में प्रायः विवाद हुआ है।

कृत्रिम गोल को उष्ण में रखने के लिये यों कि जिस से वह पृथिवी की वास्तविक स्थिति दिखलावे

नियम—पहिले खुले स्थान में समान भूमि पर कर्कटक (कम्पास) से एक वृत्त रचना करके उन के केन्द्र स्थान में एक सूच्याकार शङ्कु रखना। तब उस शङ्कु के अग्र की छाया मध्याह्न के पहिले और पीछे उस वृत्त के परिधि में जहां लगे वहां दो चिह्न करना। फिर उन चिह्नों पर से एक सरल रेखा करके उस रेखा के किसी स्थान पर उस भूमि में एक लम्ब रेखा करनी। वह लम्ब रेखा उस स्थान याम्योत्तर (दक्षिण उत्तर) रेखा कहावे। तब उस भूमि पर कृत्रिम गोल को यों रखना कि जिस में उस का आधार वृत्त ठीक उस याम्योत्तर रेखा पर रहे। फिर अपने रहने के स्थान का जो चिह्न गोल पर होगा, उसे आधार वृत्त के नीचे ले आके ध्रुवस्थान को अक्षांशों के समान ऊंचा करना। तब पृथिवी पर अपने रहने के स्थान से जिन जिन देशों में जो जो स्थान देश राज्य इत्यादि हैं, वे सब कृत्रिम गोल पर ठीक दिखाई देंगे और उस गोल पर जब घाम पड़ेगा तब आधा गोल सूर्य के तेज से प्रकाशित होगा और आधा छाया में रहेगा। यों उस काल में पृथिवी पर जितने स्थानों में दिन है और जितने स्थानों में रात्रि है, वे सब स्पष्ट दिखाई देंगे।

जो गोलार्द्ध सूर्य के तेज से प्रकाशित हुआ, उस के मध्य भाग का स्थान पृथिवी पर जहां हो वहां रहने हारे मनुष्य के ठीक शिर पर उस काल में सूर्य होगा। फिर वह स्थान और दो ध्रुव इन तीनों पर से जाने वाली एक वृत्त रेखा गोल पर करनी। वह रेखा उस स्थान का मध्य वृत्त होगा। उस रेखा पर जितने स्थान होंगे उतने स्थानों में उस काल में मध्याह्न होगा और जितने स्थान उस रेखा के पश्चिम में होंगे, उन में प्रातःकाल होगा। और जितने पूर्व में होंगे उन में दोपहर के पीछे का काल होगा। और प्रकाशित गोलार्द्ध और छाया का गोलार्द्ध इन की सन्धि में जो स्थान पहिले निकाले हुवे मध्याह्न रेखा के पश्चिम में होंगे, उन में रहनेवालों को सूर्योदय काल होगा। और जो स्थान उस रेखा के पूर्व में होंगे उन में रहनेहारों को सूर्यास्त काल होगा। और वह मध्याह्न रेखा उन गोलार्द्धों की सन्धि में जहां उत्तर की ओर लगी होगी, वहां के रहने वालों को सूर्य ठीक दक्षिण "क्षितिज" में देख पड़ेगा और मध्याह्न रेखा जहां दक्षिण की ओर लगी होगी वहां के रहने वालों को सूर्य ठीक उत्तर क्षितिज में देख पड़ेगा।

अब जो पृथिवी का अक्ष इस भांति रक्खा जावे कि जिस में पृथिवी का केन्द्र और सूर्य इन दोनों में मिली हुई रेखा उस अक्ष पर लम्बरूप हो और इसी लिये वह निरक्ष देश होकर जावे ता निरक्ष देश के उस उस स्थान के मध्याह्न काल में सूर्य उस उस स्थान के ठीक ऊपर दिखाई देगा। और ध्रुव स्थान में रहनेहारों को क्षितिज में देख पड़ेगा। परन्तु यह स्थिति सर्वदा नहीं रहती, निरक्ष देश में रहने हारों को सूर्य एक दिन मध्याह्न काल में शिर पर देख पड़ता है। फिर दूसरे दिन किञ्चित् उत्तर की ओर हटा हुआ दिखाई देता है। फिर तीसरे दिन और उत्तर को ओर दीखता है। यों तीन महीने तक उत्तरोत्तर उत्तर की ओर हटत. हुआ दीखता है। फिर यह स्थिति वदल जाती है और सूर्य प्रतिदिन मध्याह्नकाल में निरक्ष देश के निकट देख पड़ने लगता है। फिर जब सूर्य निरक्षदेशियों के ठीक शिर पर दीखता है, तब से तीन महीने तक नित्य उस को सूर्य उत्तरोत्तर दक्षिण की ओर जाता हुआ देख पड़ता है। फिर वहां से लौट के निरक्षदेश के निकट देख पड़ने लगता है। यहां पहिले यह शङ्का उपस्थित होती है कि सूर्य देखने में उत्तर की ओर वा दक्षिण की ओर जा कर फिर पीछे लौटता है? वेध (यन्त्र द्वारा) से यह सिद्ध हुआ है कि सूर्य का निरक्ष से उत्तर में वा दक्षिण में गमन २३ अंश, २७ कला तक दूर होता है (हमारे संस्कृत ग्रन्थों में २४ अंश लिखा है। इस से ३३ कला का अन्तर-होता है सो अनेक वर्ष हुए इस कारण यह अन्तर है)। इतने अन्तर पर निरक्ष में समानान्तर उस से उत्तर में और दक्षिण में जो दो वृत्त होते हैं उन को क्रम से "कर्कादि अयनान्तवृत्त" और "मकरादि अयनान्त वृत्त" कहते हैं। अब जो क्षेत्रमिति जानता है उस को यह स्पष्ट बूझ पड़ेगा कि यह भूगोल जिस भूतल में सूर्य की प्रदक्षिण करता है उस भूलत पर निरक्षदेश का भूतल २३ अंश, २७ कला झुका हुआ है यों मानना चाहिये। तब सूर्य का दक्षिणोत्तर गमन उपपन्न होता है।

अब यों पृथिवी का भ्रमण होने से इस के ध्रुवस्थानों पर क्या घटना होगी इस का विचार करते हैं। जिस दिन सूय मध्याह्न काल में निरक्षदेशियों के ठीक शिर पर आता है, उस दिन ध्रुवस्थान के लोग उसे "क्षितिज" में देखते हैं। और जब सूर्य वहां से उत्तर की ओर एक अंश आता है, तब उत्तर ध्रुवस्थान और उसी की चारों ओर एक अंश के भीतर जितने स्थान हैं उन सबों पर सूर्य का तेज पृथिवी के दैनंदिन भ्रमण के २४ घण्टों तक रहता है। यों दक्षिण ध्रुवस्थान के चारों ओर एक अंश के भीतर जो स्थान हैं वहां उसी काल में उतने ही काल तक सूर्य का तेज नहीं रहता। और जब निरक्षदेशों को मध्याह्न काल में सूर्य दो अंश उत्तर की ओर झुका हुआ दिखाता है तब उत्तर ध्रुवस्थान के चारों ओर दो अंश के भीतर दिन भर सूर्य का तेज रहता है। और उसी काल में दक्षिण ध्रुवस्थान के

चारों ओर सूर्य का तेज नहीं रहता। यों आगे तब तक होता है जब तक उत्तर ध्रुवस्थान के चारों ओर २३ अंश २७ कला इतने प्रदेश में सूर्य का तेज सतत रहता है। और दक्षिण ध्रुवस्थान के चारों ओर उतने प्रदेश में सूर्य का तेज सतत नहीं रहता। ध्रुवस्थान के चारों ओर २३ अंश २७ कला अन्तर पर जो वृत्त होते हैं उन को क्रम से "उत्तर कदम्बवृत्त" और "दक्षिण कदम्बवृत्त" कहते हैं। दो अयनवृत्त और दो कदम्बवृत्त इन चार वृत्तों से भूगोल के पांच विभाग होते हैं, उन को भूगोल के खण्ड कहते हैं। जो खण्ड दो अयनवृत्तों के बीच में है उसे उष्णखण्ड कहते हैं क्योंकि पृथ्वी के और प्रदेशों की अपेक्षा से वहां उष्णता विशेष रहती है। ध्रुवस्थान के चारों ओर कदम्बवृत्तों के भीतर जो देश हैं उन को शीतखण्ड कहते हैं क्योंकि वहां शीत वहुत रहता है। और उष्ण खण्ड और शीत खण्ड इन के बीच में जो खण्ड हैं उन को क्रम से उत्तर और दक्षिण समशीतोष्णखण्ड कहते हैं।

भुवन संस्था

आधुनिक सिद्धान्तानुसार जिस पृथिवी पर हम लोग रहते हैं वह आकाश में सूर्य के आकर्षण से ठहरी है। इस के ऊपर अन्तरिक्ष जिस में मेघ, वायु, चन्द्रमा है और उस के ऊपर मङ्गलादि ग्रह एवं सूर्य और सब से ऊपर नक्षत्र मण्डल है। अब हम वेद के प्रमाण देते हैं:—

योस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं स अग्निः ॥३॥
योस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥४॥
योस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥५॥
योस्य चतुर्थः प्राणो विभुर्नामायं स पवमानः ॥६॥
योस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा "आपः" ॥७॥
योस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥८॥
योस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥९॥

योस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥१॥
योस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥२॥
योस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥३॥
योस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥
(अथर्व सं० काण्ड १५। १५, १७)

इन मन्त्रों से ईश्वर व्रात्य नामधारी ने विराट्स्वरूप में भुवनसंस्था का उपदेश किया है—अर्थात्

१—नक्षत्रमण्डल वा राशि चक्र—सब से ऊपर। इस के नीचे
२—द्यौः लोक जहां सूर्य एव ग्रन्यान्य मङ्गलादि ग्रह हैं। इस के नीचे
३—ग्रन्तरिक्ष लोक—जहां चन्द्रमा है। एवं इसी ग्रन्तरिक्ष में चन्द्रमा के नीचे
४—वायुमण्डल, जल, मेघ, इन्द्रधनुष् ग्रादि का स्थान है—ग्रौर सब से नीचे
५—प्रजा वा भूमि है। ग्राधुनिक विद्वानों ने निश्चय किया है कि ४५ से १०८ मील पर्यन्त ऊपर को वायुमण्डल है जिस में मेघ विजुली ग्रादि हैं। इसी प्रकार हमारे भास्कराचार्य ग्रादि ने भी लिखा है:—

भूमेर्बहिर्द्वादश योजनानि।
भूवायुरत्राम्बुविद्युदाद्यम् ॥२॥ (सि० शि० मध्यगति वासना)

दोनों ग्रार्य भट्ट, लल्ल ने भी ऐसा लिखा है ग्रर्थात् भूमि से ऊपर १२ योजन या ६० माइल पर वायुमण्डल है इसी में निर्घात, उल्का, मेघ, इन्द्रधनुष्, वीज, गन्धर्व नगर दिखाई देते हैं।

निर्घातोल्काघनसुरधनुर्विद्युदन्तःकुवायोः।
संदृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वं० ॥

पृथिवी के ऊपर जो वायु हैं वे सात प्रकार के हैं। ग्रावह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, परिवह ग्रौर परावह। इन्हीं सात वायुग्रों को सात पाताल वा जो द्वीप हैं उन से गुणन करने से ४६ होते हैं। वस्तुतः वायु एक ही है परन्तु स्थान भेद से भिन्न भिन्न संख्या की गई है। इसी को पुराण वालों ने ४६ करोड़ वायु लिखा है। "कोटि" का ग्रर्थ प्रकार है ४६ कोटि ग्रर्थात् ४६ प्रकार के। इसी "कोटि" को करोड़ संख्या ग्रर्थ समझ कर पौरा णक महात्मा ने लिख मारा है।

ग्रावहः प्रवह उद्वहस्तथा संवहः सुपरिपूर्वकौ वहौ।
सप्तमस्तु पवनः परावहः कीर्त्तितः कुमरुदावहोपरः ॥१॥
(धीवृद्धिद तन्त्र ग्रहभ्रमसंस्था)।
सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ऋ० सं० १।१६४।३६

भावार्थः—चन्द्रमा ग्रौर ग्रहादिकों की कक्षा क्रान्ति वृत्त के ग्रास पास है, वह कभी क्रान्तिवृत्त के उत्तर या दक्षिण क्रान्तिवृत्त को काट कर जाता है जिस को "विक्षेप" कहते हैं। वह विक्षेप ७॥ ग्रंश उत्तर या दक्षिण में रहता है। यह क्रान्ति प्रदेश १५ ग्रंश चौड़ा है।

—

भूगोलरेखा वर्णन

वैदिक प्रमाणों से खगोल एवं भूगोल की रेखाओं का वर्णन

यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्य-
मक्ष्यसौ च चन्द्रमाः ।।२।। अथर्ववेदे १५।१८।२।।

अर्थात् —व्रात्य नामधारी ईश्वर की दक्षिण आंख मानो सूर्य है बाईं आंख चन्द्रमा, दिन रात नासिका, दिति और अदिति (आकाश के दो खण्ड पूर्व और पश्चिम) दोनों कपाल और संवत्सर शिर है। इस उपदेश से हम को सूर्यादि की संस्था, दिन रात का होना, आकाश के विभाग एवं नकश का वनाना आदि का ज्ञान होता है।

प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् (अथर्ववेदे १५।१२।५)

अर्थात्—सूर्य जब उत्तरायण एवं दक्षिणायन होता है उस को क्रम से उत्तरायण को "देवयान" एवं दक्षिणायन को "पितृयाण" कहते हैं।

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः, ते देवा ऋतवः ।
शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः । स (सूर्यः)
यत्रोदगावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति।
यत्र दक्षिणावर्त्तते तर्हि पितृषु भवति ।। (शतपथब्राह्मणे २।१।३)

भावार्थः—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा इन ऋतुओं में सूर्य उत्तरायण होने के कारण देवभाग (उत्तर मेरु) में होता है और शरद्, हेमन्त, शिशिर इन ऋतुओं में पितृलोक (दक्षिण मेरु) में होता है अर्थात् दक्षिणायन।

यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथा दक्षिणोऽर्द्ध
एव पूर्वार्द्धो विषुवतो यथोत्तरार्द्ध एवमुत्तरार्द्धो
विषुवतस्तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रवाहुक् सतः
शिर एव विषुवान् ।। ऐतरेयब्राह्मणे १८ । २२ ।।

भावार्थः—जिस प्रकार पुरुष होता है, उसी प्रकार विषुवान् सूर्य होता है। जिस प्रकार पुरुष के शरीर वा शिर के पूर्वार्द्ध और दक्षिणार्द्ध होते हैं, इसी प्रकार पश्चिमार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध होते हैं अर्थात् समान दो दो भाग होते हैं। इसी कारण जब सूर्य मेष एवं कन्या राशिस्थ दीखता है तो उस समय अहोरात्र वरावर होता है।

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।।
(यजुर्वेद अ० ३४।२७)

भावार्थः—पृथिवी के भ्रमण मार्ग को रविमार्ग वा क्रान्तिवृत्त कहते हैं, जिस पर सूर्य प्रत्येक राशि में जाते दीखता है।

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुम् ॥ (अथर्व ८।१७)

भावार्थः—छः महीने सूर्य के उत्तरायण होने के कारण गर्मी रहती है एवं छः मास सूर्य के दक्षिणायन होने से शीत होता है।

तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण ॥
(तैत्तिरीयब्राह्मणे ६।५।३)

भावार्थः—विषुवती रेखा से छः मासपर्यन्त सूर्य दक्षिण जाते दीखता है, एवं छः मास पर्यन्त उत्तरायण में उत्तर की ओर जाते दीखता है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
(ऋ० सं० १।१६४।४८)

भावार्थः—३६० अंश का एक चक्र (संवत्सर वा क्षेत्र) होता है, जिस में तीन नाभि (गर्मी, शर्दी, वर्षा ऋतु वा भूत, भविष्यत्, वर्तमान) हैं। उक्त ३६० अंश सनातन और अविचल हैं।

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा ॥
(ऋ० सं० ८।४६।२२)

भावार्थः—और प्रत्येक ३६० में साठ साठ कलायें (वा दण्ड) होती हैं। अर्थात् ३६०×६०=२१६०० कला।

त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥
ऋ० सं० १।५३।९॥

भावार्थः—और प्रत्येक कला में साठ साठ विकला (या पल) होती हैं। अर्थात् २१६००×६०=१२९६००० विकला।

यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम् ॥२६॥
अध प्रियमिषिराय षष्टिं सहस्रासनम् ॥२९॥ (ऋ०सं०८।४६।२६।२९)

भावार्थः—और प्रत्येक विकला में साठ साठ अनुकला (विपल) होती है अर्थात् १२९६०००×६०=७७७६०००० अनुकला।

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यवतींरवीविपत् ॥
ऋ० सं० १।१५५।६

भावार्थः—३६० अंश का एक चक्र होता है, और इसमें चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में नब्बे नब्बे (६०) अंश होते हैं। जिस को वृत्तपाद कहते हैं।

अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका ऋतुं परियन्ति सद्यः।
(ऋ० सं० १ । १२३ । ८)

भावार्थः—जहां पर ठीक सूर्योदय होता है उस स्थान से (पश्चिम) परे ३० योजन पर उषः प्रकाश होता है (अरुणोदय से पहिले जो प्रकाश होता है)। इस मन्त्र से ईश्वर देशान्तर लाने और सूर्य एक ही समय में सर्वत्र उदित वा अस्तमित नहीं होता, इस का उपदेश करता है।

॥ इति ॥

———

ज्योतिष के ग्रन्थों में बहुत से साङ्केतिक दुरूह शब्दों से संख्यायें निर्देश की गई हैं, उन प्रत्येक का अर्थ

साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ	साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ
अत्यष्टि	१७	इन	सूर्य १२
अज	१	इषु	५
अनल	४	ईक्षण	२
अभ्र	शून्य, ०	ईला	१
अक्षि	२	ईश	११
अङ्ग	६	उरग	८
आर्कि	शनैश्चर	उडु	नक्षत्र २७
अम्बर	०	ऋक्ष	नक्षत्र २७
अर्क	१२	ऋतु	६
अम्बुधि	४	ककुभ्	१०
अङ्क	९	कर	२
अवधि	४	काल	६
अग्नि	३	कु	१
अद्रि	७	कुज	मङ्गल
अग	७	कुञ्जर	८
अरुण	१२	क्ष्मा	१
अश्वि	२	कृति	वर्ग
अचल	७	कृत	४
अष्टि	२०	ख	शून्य ०
आशा	८	खग	८
आढ्य	जोड़ा हुवा	खेट	ग्रह
आकर	मङ्गल	गज	८
आहत	गुणित	गौ	९
इज्य	बृहस्पति	गुण	३
इन्दु		ग्रह	९
इन्द्र	१४	घन	१७
इभ	८	घात	गुणन

ज्योतिष के ग्रन्थों में बहुत से साङ्केतिक दुरूह शब्दों से संख्यायें निर्देश की गई हैं, उन प्रत्येक का अर्थ—

साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ	साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ
चन्द्र	१	नन्द	९
छिद्र	०	नभस्	०
ज्ञ	बुध	नयन	२
जलधि	४	निशाकर	१
जिन	२४	निगम	४
जिष्ण	१४	पक्ष	२
ज्वलन	३	पर्वत	७
तर्क	६	पयोधि	४
तत्त्व	२५	पावक	३
तान	४९	पृथिवी	१
तिथि	१५	प्रभाकर	१२
त्रि	३	वाण	५
तुरङ्ग	७	वाहु	२
दन्त	३२	भ	नक्षत्र २७
दशन	३२	भुज	२
दहन	३	भुजङ्ग	८
दस्र	२	भू	१
दिव्	० शून्य	भूधर	७
दिन	३०	भूप	१६
दृक्	२	भूमि	१
द्विप	८	भूमिधर	७
द्युचर	ग्रह	भौम	मङ्गल
द्वि	२	मरुत्	४९
देव	३३	महीधर	७
धरणी	१	महीज	मङ्गल
नख	२०	मार्गण	५
नग	७	मुनि	७
नव	९	यम	२

ज्योतिष के ग्रन्थों में वहुत से साङ्केतिक दुरूह शब्दों से संख्यायें निर्देश की गई हैं, उन प्रत्येक का अर्थ—

साङ्केतिक शब्द	भावार्थ	साङ्केतिक शब्द	भाषार्थ
यमल	२	शिव	११
युग्म	२	शिखी	३
युग	४	शिलीमुख	५
रन्ध्र	९	शेषित	विभक्त
रद	३२	शैल	७
रस	६	षट्	६
रवि	१२	सर्प	८
राम	३	सागर	४
रुद्र	११	सायक	५
रूप	१	सितरुच्	१
लोचन	२	सिद्ध	२४
वह्नि	३	सितत्विट्	१
वसु	८	सुर	३३
वसुधा	१	सूर्य	१२
वियत्	शून्य ०	सौरि	शनि
वार्द्धि	४	हत	गुणित
विवर	अन्तर	हिमांशु	१
विश्व	१३	हस्ती	८
विधु	१	हुतभुक्	३
वीतिहोत्र	३	हृत	विभक्त
व्यास	८	हीन	घटाना
व्योम	० शून्य		
शर	५		
शशि	१		
शशाङ्क	१	☼	☼
श्रुति	४		
शूली	११		

ओ३म्

सूर्यसिद्धान्त–भाषानुवादः

प्रथमोऽध्यायः

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधारमूर्त्तये ब्रह्मणे नमः ॥१॥
अल्पावशिष्टे तु कृते मयनामा महासुरः ।
रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञासुर्ज्ञानमुत्तमम् ॥२॥
वेदाङ्गमग्रयमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम् ।
आराधयन्विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥३॥
तोषितस्तपसा तेन प्रीतस्तस्मै वरार्थिने ।
ग्रहाणां चरितं प्रादान्मयाय सविता स्वयम् ॥४॥
विदितस्ते मया भावस्तोषितस्तपसा ह्यहम् ।
दद्यां कालाश्रयं ज्ञानं ग्रहाणां चरितं महत् ॥५॥
न मे तेजःसहः कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः ।
मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति ॥६॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवः समादिश्यांशमात्मनः ।
स पुमान्मयमाहेदं प्रणतं प्राञ्जलिस्थितम् ॥७॥
शृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम् ।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता ॥८॥
शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः ।
युगानां परिवर्त्तेन कालभेदोऽत्र केवलम् ॥९॥

भाषानुवाद—उस ब्रह्म को जिसका रूप ध्यान में नहीं आ सकता और न किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो सकता है, जिसमें सत्त्व रज तम आदि प्रकृति के गुण नहीं हैं और नित्य ज्ञान सुखादि गुण वर्त्तमान हैं और जो अखिल जगत् को धारण करता है, नमस्कार है ॥१॥ सत्ययुग के अन्त से थोड़े समय पहिले मयनामक महा असुर ने वह गूढ़ पुण्यजनक सब से श्रेष्ठ और उत्तम ज्ञान ॥२॥ जो सब वेदाङ्गों (वेद के छः अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष) में अग्रणी है और ग्रह नक्षत्रों की गति का कारण है, जानने की इच्छा से नारायण की आराधना करके अतिकठोर परिश्रम वा तप किया ॥३॥ उस के तप से प्रसन्न होकर वर चाहने वाले मय को ग्रहों का सम्पूर्ण ज्ञान सूर्य ने दिया ॥४॥ सूर्य ने कहा हे

मय ! मैंने तेरा प्रयोजन जाना और मैं तेरे तप से प्रसन्न हुवा, मैं तुझ को काल के आश्रय जो ज्योतिष का ज्ञान है वह दूंगा ॥५॥ मेरा तेज कोई नहीं सम्हाल सकता और मुझे उपदेश करने का अवकाश भी नहीं, इस लिये यह पुरुष जो मेरा अंश है तुझ से सम्पूर्ण शास्त्र कहेगा ॥६॥ यह कह कर सूर्य अपने अंश पुरुष को आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गया और उस पुरुष ने मय से जो हाथ जोड़े और नम्र हुवा खड़ा था, यह कहा ॥७॥ हे मय ! जो उत्तम ज्ञान स्वयं सूर्य ने पूर्व युग में महर्षियों को उपदेश किया था उस को एकाग्र हो श्रवण करो ॥८॥ यह बहुत प्राचीन शास्त्र है जो पूर्वकाल में सूर्य ने वर्णन किया है और प्राचीन और आधुनिक शास्त्रों में युगों के बदलने का कारण केवल काल का भेद है। अर्थात् ग्रहादिकों की गति विधि आदि निरूपण के नियम एक से रहते हैं परन्तु समय समय पर वेध (Observation) द्वारा ग्रहों को देखने से कुछ बीज (Correction) देना पड़ता है, इस कारण कुछ कुछ काल में भेद पड़ता है ॥९॥

विवरण—श्लोक २—७ असुर जाति के मय ने खगोलस्थ पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के लिये "सावित्र विद्या" (ज्योतिष शास्त्र) में कठिन परिश्रम (Study) किया जिस से प्रथम उस ने सूर्य (जो सारे जगत् में सबसे बड़ा पदार्थ एवं केन्द्र स्वरूप है) का निश्चय किया (उस का आकार, गति, वर्ण, भगण आदि) और उसी को मूल मानकर सौर जगत्स्थ अन्यान्य ग्रह, उपग्रह एवं नक्षत्रादि समस्त आकाशस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया। इसी को आलङ्कारिक वर्णन में (सूर्य की तपस्यादि) प्राचीन शैली से लिखा है । ज्योतिष शास्त्र को प्राचीन समय में "सावित्रविद्या" कहते थे, इस में प्रमाणः—

"अह्रीनाश्वत्थ्यः । सावित्रं विदाञ्चकार ॥१०॥ स ह हंसो भूत्वा ।
स्वर्गं लोकमियाय । देवभागो ह श्रौतर्षः । सावित्रं विदाञ्चकार ॥११॥
शूषो ह वार्ष्णेयः । आदित्येन समाजगाम ॥ तै० ब्रा० ।३।१०।१।"

अर्थात् अश्वत्था के पुत्र अहीन ने सावित्रविद्या को जाना और स्वर्ग को प्राप्त हुवा और श्रौतर्ष देवभाग ने सावित्रविद्या को जाना और वार्ष्णेय शूष ने सावित्रविद्या को जाना और सूर्य के तुल्य (विद्यामें) प्रकाशमान हुवा।

श्लोक ६,७,८ के विषय में पाठ भेद है। पूना के आनन्द आश्रम नामक पुस्तकालय में टीका रहित पुस्तक है जिसके नं० २९०९ में इस प्रकार पाठ है कि "न मे तेजःसहः कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः । मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति ॥६॥ तस्मात त्वं स्वां पुरीं गच्छ तत्र ज्ञानं ददामि ते । रोमके नगरे ब्रह्मशापान्म्लेच्छावतारधृक् ॥७॥ इत्युक्त्वान्तर्दधे देवः" अर्थः—हे मय ! मेरा तेज कोई सह नहीं सकता और मुझे कहने का समय नहीं । यह मेरा अंश पुरुष तुझ से सब कहेगा । इस लिये तू अपनी नगरी को जा, वहां रोमकनगर में ब्रह्मशाप से मैं म्लेच्छावतार लेने वाला हूं तो वहीं तुझे ज्योतिषशास्त्र का उपदेश करूंगा । यह पाठ सटीक

एक पुस्तक में ६ श्लोक नहीं है, एवं दूसरी में दोनों हैं। इस पर मिस्टर रे० बर्जेस (अंग्रेजी अनुवादक) की सम्मति है कि उक्त श्लोक ६,७,८ असङ्गत हैं किसी ने मिलाये जान पड़ते हैं। इसका पूरा वर्णन भूमिका में किया गया है, वहां देखिये।

लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्त्तश्चामूर्त्त उच्यते ॥१०॥

प्राणादिः कथितो मूर्त्तस्त्रुटयाद्योऽमूर्त्तसंज्ञकः।
षड्भिः प्राणैर्विनाडी स्यात्तत्षष्टया नाडिका स्मृता ॥११॥

नाडीषष्टया तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्त्तितम्।
तत्त्रिंशता भवेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा ॥१२॥

ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत्संक्रान्त्या सौर उच्यते।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदहरुच्यते ॥१३॥

सुरासुराणामन्योऽन्यमहोरात्रं विपर्ययात्।
तत्षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुरमेव च ॥१४॥

तद्द्वादशसहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम्।
सूर्याब्दसंख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः ॥१५॥

सन्ध्यासन्ध्यांशसहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम्।
कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्मपादव्यवस्थया ॥१६॥

युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्व्येकसङ्गुणः।
क्रमात्कृतयुगादीनां षष्ठांशः सन्ध्ययोः स्वकः ॥१७॥

भाषानुवाद—काल दो प्रकार का है, एक वह जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश का कारण होने से अनन्त है। दूसरा जो ज्ञानगम्य है अर्थात् गणित द्वारा जानने योग्य है। ज्ञानगम्य काल दो प्रकार का है। एक मूर्त्त या स्थूल है दूसरा सूक्ष्म (जिसका परिमाण नहीं हो सकता) है ॥१०॥ प्राण से लेकर कल्पादि पर्यन्त काल को मूर्त्त काल कहते हैं। एवं त्रुटि आदि (अतिसूक्ष्म काल जो व्यवहार में नहीं आता) को अमूर्त्त काल कहते हैं। छः प्राण की १ विनाड़ी (पल) एवं ६० विनाड़ी की १ नाड़ी (घड़ी, दण्ड) होती है ॥११॥ ६० नाड़ी का १ नाक्षत्रिक अहोरात्र (दिन+रात्रि) और ३० नाक्षत्रिक अहोरात्र का १ नाक्षत्रिक महीना होता है। एक सूर्य के उदय से लेकर दूसरे सूर्य के उदय पर्यन्त काल को "सावन" (Civil day & night) वा "पार्थिव" अहोरात्र कहते हैं और ३० सावन अहोरात्र का १ सावन मास होता है ॥१२॥ ३० तिथियों का एक चान्द्रमास होता है। संक्रान्ति से संक्रान्ति तक काल का १ सौर मास होता है—और प्रत्येक पूर्वोक्त १२ नाक्षत्र

मास का १ नाक्षत्र वर्ष, १२ सावनमास का १ सावनवर्ष, १२ चान्द्रमास का १ चान्द्र वर्ष और १२ सौर मास का १ सौर वर्ष होता है। एवं १२ सौर मास का दिव्य अहोरात्र होता है (देवता और असुर का) ॥१३॥ देव और असुरों का अहोरात्र विपर्यय (बरअक्स) से होता है अर्थात् जब देवताओं का दिन होता है, तब असुरों की रात्रि होती है। एवं जब असुरों का दिन होता है तब देवताओं की रात्रि होती है।। ऐसे दिव्य ३० अहोरात्र का १ दिव्यमास और १२ दिव्य महीनों का १ दिव्य वर्ष होता है ॥१४॥ पूर्वोक्त १२००० दिव्य वर्षों की १ चतुर्युगी (चौकड़ी —युग) होती है। जिस के सौर वर्ष ४३२०००० होते हैं ॥१५॥ उक्त चतुर्युगी का परिमाण सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलाकर है। चतुर्युगी में जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि क्रम से ४, ३, २, और १ (संख्या से आगे जो गुणन होगा) हैं यह धर्म के ४ चरण की नाईं है ॥१६॥ युग (पूर्वोक्त १ महायुग वा चतुर्युगी) के वर्ष के दशम भाग को ४, ३, २ और १ से गुणा करने से क्रम से कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के वर्षों का परिमाण होगा और इन प्रत्येक युगों के वर्ष परिमाण का छठा भाग अपना अपना सन्ध्या और सन्ध्यांश वर्ष होता है जो उसी में मिला है अर्थात् प्रत्येक युगमान वर्ष के छठा भाग के वर्ष दो भाग में से एक भाग आदि सन्धि का वर्ष और दूसरा भाग अन्त सन्धि का वर्ष होता है ॥१७॥

विवरण—११– सेकण्ड के $\frac{1}{3}$३७५० भाग को त्रुटि कहते हैं।

१२—एक दिन जिस समय माध्याह्निक रेखा के ऊपर कोई स्थिर तारा दीख पड़ती है, उस समय से उस के दूसरे दिन उसी रेखा पर—जिस समय उक्त तारा दीख पड़े, उतने समय को नाक्षत्रिक अहोरात्र कहते हैं।

१३—एक दिन के मध्याह्न काल से उसके दूसरे दिन के मध्याह्न काल पर्यन्त समय को प्रकृत सौर दिन कहते हैं।

१४—पृथिवी को उत्तरमेरु के निवासी देव और दक्षिण मेरु के निवासी असुर कहाते हैं। पृथिवी की दैनिक गति से जब छः मास में उसका उत्तरमेरुप्रदेश सूर्य के सम्मुख होता है तब देवताओं का छः मास तक दिन और उस समय असुरों की रात्रि और जब पृथिवी का दक्षिण-प्रदेश सूर्य के सामने होता है तब असुरों का छः महीने का दिन और उस समय देवों की रात्रि होती है। इस प्रकार पृथिवी की वार्षिक गति में १ वर्ष का—देवता और असुरों का १ अहोरात्र होता है।

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते ।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥१८॥

ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥१९॥

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः ।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥२०॥

परमायुः शतं तस्य तयाहोरात्रसंख्यया ।
आयुषोऽर्द्धमितं तस्य शेषकल्पोऽयमादिमः ॥२१॥

कल्पादस्माच्च मनवः षड् व्यतीताः ससन्धयः ।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ॥२२॥

अष्टाविंशाद् युगादस्माद् यातमेतत्कृतं युगम् ।
अतः कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिण्डयेत् ॥२३॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्त ७१ महायुगों (चतुर्युगी) की १ मन्वन्तर संज्ञा है और मन्वन्तर के अन्त में सत्ययुग के वर्ष परिमाण (सौरवर्ष १७२८००० जिस के दिव्य वर्ष ४८०० होते हैं) के बराबर सन्धि का परिमाण है। इस सन्धि समय सारी पृथिवी जल से भर जाती है अर्थात् जलमय हो जाती है ॥१८॥ पूर्वोक्त १४ मन्वन्तर का १ कल्प होता है। इसमें १४ अन्त की सन्धियां होती हैं और एक आदि सन्धि सत्ययुग के वर्ष परिमाण के बराबर होती है अर्थात् १ कल्प में १४ मन्वन्तर और १५ सन्धियां होती हैं ॥१९॥ पूर्वोक्त रीति से १००० चतुर्युगी का १ कल्प होता है जिसके अन्त में सब प्राणियों का नाश हो जाता है। १ कल्प का १ ब्राह्म दिन होता है और इसी परिमाण की रात्रि अर्थात् पूर्वोक्त २ कल्प का १ ब्राह्म अहोरात्र होता है ॥२०॥ ब्रह्मा की आयु (सृष्टि वर्त्तमान रहेगी) ब्राह्ममान से १०० वर्ष की है अर्थात् पूर्वोक्त ३० ब्राह्म अहोरात्र का १ ब्राह्ममास, एवं १२ ब्राह्म मास का १ ब्राह्मवर्ष होता है। ऐसे १०० वर्ष की ब्रह्मा की आयु है। इस आयु का आधा भाग बीत गया और अवशिष्ट (बाकी) आयु के कल्पों में से यह वर्त्तमान पहिला कल्प है अर्थात् १०० वर्ष में से ५० वर्ष पूरे बीत गये। एवं ५१ वां वर्ष अवशिष्ट आयु का बीत रहा है ॥२१॥ इस वर्त्तमान कल्प (ब्राह्मदिन) में से ६ मन्वन्तर सन्धियों सहित बीत गये हैं। और इस वर्त्तमान वैवस्वत नामक सप्तम मन्वन्तर के ७१ महायुगों में से पूरे २७ चतुर्युग बीत गये हैं ॥२२॥ और २८ वीं चतुर्युगी में से सतयुग पूरा बीत गया है। अब काल की संख्या करने के लिये इस २८ वीं चतुर्युगी के कृत युग तक के बीते हुवे वर्षों को एक स्थान में योग करे ॥२३॥

विवरण—श्लोक १८ से २३ तक

१४ मन्वन्तरों के नाम ये हैं—१ स्वायम्भुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्म सावर्णि, १२. रुद्रपुत्र, १३. रौच्य और १४. भौत्यक। ये १४ मन्वन्तर और १५ सन्धि मिला कर १००० महायुग होते हैं। महायुग का दशम भाग ४३२००० सौ०व० कलियुग का परिमाण, इस के द्विगुणित द्वापर, तीन गुणा त्रेता और चार गुणा सत्ययुग और प्रत्येक युग के वर्षों का छठा भाग आदि और छटा भाग अन्त सन्धि के वर्ष होते हैं।

१ मन्वन्तर = ७१ महायुग

१ महायुग = सौरवर्ष ४३२०००० × ७१ = ३०६७२०००० सौर वर्ष, (१ मन्वन्तर के वर्ष) इनको १४ [मन्वन्तर] से गुणा किया तो ४२९४०८०००० सौर वर्ष हुवे (१४ मन्वन्तर के वर्ष) १५ सन्धि १ सन्धि में १७२८००० सौरवर्ष। इन को १५ से गुणा किया तो २५९२०००० सौर वर्ष हुवे। इस संख्या को १४ मन्वन्तर की वर्ष संख्या में योग किया तो ४३२०००००० सौर वर्ष हुवे। यही १ कल्प वा ब्राह्म दिन का परिमाण हुआ। इसी प्रकार इतने ही वर्ष की ब्राह्म रात्रि होती है। इस वर्त्तमान कल्प के ६ मन्वन्तर वीत गये॥

६ × ३०६७२०००० (मन्वन्तर परिमाण) = १८४०३२०००० सौर वर्ष
मन्वन्तर की वीती हुई सन्धि ७ × १७२८००० (सन्धि परिमाण वर्ष) = १२०९६००० सौर वर्ष
वीते हुवे चतुर्युग २७ × ४३२०००० (१ चतुर्युग वर्ष) = ११६६४०००० सौर वर्ष
गत कृत युग १७२८०००

कल्प के आरम्भ से सतयुग के अन्त पर्यन्त १९७०७८४००० सौर वर्ष हुवे॥

[विवरण सामने के पृष्ठ पर छपे युगवर्ष-ज्ञापक चक्र में देखें]

युगवर्षज्ञापक चक्र

कृत युग			त्रेता युग			द्वापर युग			कलियुग			चतुर्युग वा महायुग		
सन्धि और युगमान	सौर वर्ष	दिव्य वर्ष	सन्धि और युगमान	सौर वर्ष	दिव्य वर्ष	सन्धि और युगमान	सौर वर्ष	दिव्य वर्ष	सन्धि और युगमान	सौर वर्ष	दिव्य वर्ष	सन्धि और युगमान	सौर वर्ष	दिव्य वर्ष
आदि सन्धि	१४४०००	४००	आदि सन्धि	१०८०००	३००	आदि सन्धि	७२०००	२००	आदि सन्धि	३६०००	१००	आदि सन्धि	३६००००	१०००
कृत युग का मान	१४४००००	४०००	युगमान	१०८००००	३०००	युगमान	७२००००	२०००	युगमान	३६००००	१०००	युगमान	३६०००००	१००००
अन्त सन्धि	१४४०००	४००	अन्त सन्धि	१०८०००	३००	अन्त रान्धि	७२०००	२००	अन्त सन्धि	३६०००	१००	अन्त सन्धि	३६००००	१०००
सन्धि सहित युगमान	१७२८०००	४८००	सन्धि सहित युगमान	१२९६०००	३६००	सन्धि सहित युगमान	८६४०००	२४००	सन्धि सहित युगनान	४३२०००	१२००	सन्धि सहित युगमान	४३२००००	१२०००

ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम् ।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः ॥२४॥
पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः ॥
जीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगाः ॥२५॥
प्राग्गतित्वमतस्तेषां भगणैः प्रत्यहं गतिः ।
परिणाहवशाद् भिन्ना तद्वशाद् भानि भुञ्जते ॥२६॥

शीघ्रगस्तान्यथाल्पेन कालेन महताल्पगः ।
तेषां तु परिवर्त्तन पौष्णान्ते भगणः स्मृतः ॥२७॥

भाषानु०—कल्प के आरम्भ से जगन्निर्माता ईश्वर को ग्रह, नक्षत्र, देव, असुर, मनुष्य, भूमि, पर्वतादिकों (चराचर=जङ्गम, स्थावर) की सृष्टि करते हुवे ४७४०० दिव्य वर्ष बीत गये ॥२४॥ ग्रह सब अपने अपने मार्ग पर नक्षत्रों के साथ अति शीघ्र गति से पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हैं परन्तु नक्षत्रों से चलने में पीछे रह जाते हैं । यह गति सब ग्रहों की तुल्य वेग से जनित है ॥२५॥ इस कारण ग्रहा की गति पश्चिम से पूर्व की ओर है और उस गति का ज्ञान ग्रहों के भगणों के नाम से होता है । ग्रहों की कक्षाओं (Orbit) के परिधि (Circumferenee) भिन्न-भिन्न होने के कारण यद्यपि उन की गति तुल्य वेग से जनित है तथापि भिन्न भिन्न है ॥२६॥ शीघ्र चलने वाले ग्रह थोड़े समय में राशि चक्र का भ्रमण पूरा कर लेते हैं और मन्द मन्द चलने वाले ग्रह अधिक समय में एक भगण पूरा करते हैं । राशि-चक्र में रेवती के योग तारा से चलकर पुनः वहीं लौट कर आजाने को प्रत्येक ग्रहों का अपना अपना "भगण" कहते हैं ॥२७॥

विवरण—२४ श्लोक—४७४०० दिव्य वर्ष × ३६० = १७०६४००० सौर वर्ष का १९७०७८४००० (पूर्वोक्त सौर वर्ष) वर्ष से घटाने पर शेष १९५३७२०००० सौर वर्ष कल्प के आरम्भ से कृतयुग के अन्त तक व्यतीत हुए हैं। अब इस प्रकार समझना चाहिये कि:-

कृतयुग के अन्त तक	१९५३७२००००
गत त्रेता युग	१२९६०००
गत द्वापर	८६४०००
गत कलि (मिति चैत्र कृष्णपक्ष संवत् १९५८ तक)	५००२
योग	१९५५८८५००२

वर्त्तमान सृष्टि संवत् यही है और चैत्र शुक्ल १ संवत् १९५९ को १९५५८८५००३ का प्रारम्भ होगा ॥

२६—ग्रहों की कक्षा बड़ी और छोटी होने के कारण प्रत्येक की गति एक सी नहीं होती है। अर्थात् जिन ग्रहों की कक्षा बड़ी है (जैसे शनि बृहस्पति) उन को अपनी कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करने में अन्यान्य छोटी कक्षा वाले ग्रहों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। और जिन की छोटी (जैसे—चन्द्रमा, बुध, शुक्र) है उनकी गति अधिक होती है ॥

विकलानां कला षष्ट्या तत्षष्ट्या भाग उच्यते।
तत्त्रिंशता भवेद्राशिर्भगणो द्वादशैव ते ॥२८॥
युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवाः ।
कुजार्किगुरुशीघ्राणां भगणाः पूर्वयायिनाम् ॥२९॥
इन्द्रो रसाग्नित्रित्रीषुसप्तभूधरमार्गणाः ।
दस्रत्र्यष्टरसाङ्काक्षिलोचनानि कुजस्य तु ॥३०॥
बुधशीघ्रस्य शून्यर्तुखाद्रित्र्यङ्कनगेन्दवः ।
बृहस्पतेः खदस्राक्षिवेदषड्वह्नयस्तथा ॥३१॥

भाषानुवाद—६० विकलाओं (Second) की १ कला (Minute) और ६० कलाओं का १ अंश (Degree), ३० अंश की एक राशि (Sign) और १२ राशियों का एक भगण (Revolution) होता है ॥२८॥ एक चतुर्युगी में सूर्य, बुध और शुक्र पूर्व की ओर चलने में ४३२०००० भगण पूरा करते हैं। मङ्गल, शनि और बृहस्पति के शीघ्रोच्च के भगण भी ४३२०००० ही होते हैं ॥२९॥ एक महायुग में चन्द्रमा के ५७७५३३३६ और मङ्गल के २२९६८३२ भगण होते है ॥३०। एक महायुग में बुध के शीघ्रोच्च के १७९३७०६० और बृहस्पति के ३६४२२० भगण होते हैं ॥३१॥

विवरण—२९—सूर्य और चन्द्रमा की कक्षा का वह स्थान जो पृथिवी से अत्यन्त दूर हो, उनका मन्दोच्च कहलाता है (सूर्य और चन्द्रमा का), मङ्गलादि ५ ग्रहों (मङ्गल बुध बृहस्पति शुक्र शनैश्चर) का वह स्थान जो सूर्य से अत्यन्त दूर हो। उनका मन्दोच्च कहलाता है और वह स्थान जो पृथिवी से अत्यन्त दूर हो उनका शीघ्रोच्च कहलाता है ॥

सितशीघ्रस्य षट्सप्तत्रियमाश्विखभूधराः ।
शनेर्भुजङ्गषट्पञ्चरसवेदनिशाकराः ॥३२॥
चन्द्रोच्चस्याग्निशून्याश्विवसुसर्पार्णवा युगे ।
वामं पातस्य वस्वग्नियमाश्विशिखिदस्रकाः ॥३३॥
भानामष्टाक्षिवस्वद्रित्रिद्विद्व्यष्टशरेन्दवः ।
भोदया भगणैः स्वैः स्वैरूनाः स्वस्वोदया युगे ॥३४॥
भवन्ति शशिनो मासाः सूर्येन्दुभगणान्तरम् ।
रविमासोनितास्ते तु शेषाः स्युरधिमासकाः ॥३५॥

भाषानुवाद—एक महायुग में शुक्र के शीघ्रोच्च के ७०२२३७६ और शनि के १४६५६८ भगण होते हैं ।।३२।। एक महायुग में चन्द्रमा के मन्दोच्च के ४८८२०३ और चन्द्रमा के वामपात वा राहु (Ascending nod or north nod) के २३२२३८ भगण होते हैं ।।३३।। एक महायुग में नक्षत्रों के १५८२२३७८२८ भगण होते हैं । इस नक्षत्र भगण संख्या में से ग्रहों के भगण घटाने पर महायुग में प्रत्येक ग्रहों की अपनी अपनी उदयसंख्या निकल आवेगी ।।३४।। सूर्य के भगणों में से चन्द्रमा के भगणों को घटाने पर शेष (बाकी) अङ्क महायुग के चान्द्रमास की संख्या होगी और इस चान्द्रमास में से सौरमास घटाने पर जो बचे वही महायुग में अधिमास की संख्या होगी ।।३५।।

विवरण —३२ श्लोक—मङ्गल, बृहस्पति और शनि के भगण और बुध के शीघ्रोच्च और शुक्र के शीघ्रोच्च के भगण एक युग में सूर्य के चारों ओर परिक्रमा की संख्या है ।।

विवरण —३३ श्लोक —क्रान्तिवृत्त जो सूर्य का मार्ग है, ग्रहों की कक्षायें उस के सम-क्षेत्र में नहीं हैं, परन्तु उसके साथ कोण बनाती हैं और कभी उस को काट कर ऊपर चढ़ती हैं, कभी उसको काट कर नीचे आती हैं । जिस स्थान में क्रांतिवृत्ति को ग्रहों की कक्षा काट कर ऊपर चढ़ती हैं उसको "पात" (राहु या केतु) कहते हैं । यह पात स्थान बदलता रहता है और इस की वक्र गति है अर्थात् पूर्व से पश्चिम को ओर है ।।

विव०-३४ श्लोक --किसी नक्षत्र का निरक्षदेश में जहां दिन रात बराबर होता है, एक स्थान पर उदय होकर फिर उसी स्थान पर उदय होना, नक्षत्रभगण कहलाता है और जो समय इस में लगताहै उसका नाम नक्षत्र दिवस है, इसलिये युग में १५८२२३७८२८ नाक्षत्रिक दिन हुये । इस में से जिस ग्रह के भगण संख्या को घटादें, युग में उस ग्रह की उदय संख्या (दिन) होगी । जैसे सूर्य के भगण ४३२०००० को उक्त संख्या से घटाने पर शेष १५७७९१७८२८ संख्या होगी । यही एक युग में सूर्योदय की संख्या है (सावन दिन हुवे, इसी प्रकार अन्यान्य ग्रहों को भी जानना ।।

वि०—३५ श्लोक —एक महायुग में चन्द्रमा के भगण ५७७५३३३६ । सूर्य के भगण ४३२०००० घटाने से शेष अन्तर ५३४३३३३६ युग में चान्द्रमास हैं । सूर्य के भगण को १२ (मास) से गुणा करने पर ५१८४०००० युग में सूर्य मास घटाने पर शेष अन्तर १५९३-३३६ युग में अधिमास ।।

सावनाहानि चान्द्रेभ्यो द्युभ्यः प्रोभ्य तिथिक्षयाः ।
उदयादुदयं भानोर्भूमिसावनवासराः ।।३६।
वसुद्वयष्टाद्रिरूपाङ्कसप्ताद्रितिथयो युगे ।
चान्द्राः खाष्टखखव्योमखाग्निखर्तु निशाकराः ।।३७।।

षड्वह्निस्त्रिहुताशाङ्कतिथयश्चाधिमासकाः ।
तिथिक्षया यमार्थाश्विद्व्यष्टव्योमशराश्विनः । ३८॥
खचतुष्कसमुद्राष्टकुपञ्च रविमासकाः ।
भवन्ति भोदया भानुभगणैरूनिताः क्वहाः ॥३९॥
अधिमासोनरात्र्यार्क्षचान्द्रसावनवासराः ।
एते सहस्रगुणिताः कल्पे स्युर्भगणादयः ॥४०॥

भाषानुवाद—एक महायुग में चान्द्र दिनों (तिथि) की संख्या से सावन दिन घटाने पर शेष संख्या महायुग में "तिथिक्षय" संख्या होगी। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को "सावनदिन" कहते हैं ॥३६॥ एक महायुग में १५७७९-१७८२८ सावन दिन और १६०३०००८० चान्द्र दिन (तिथि) होते है ॥३७॥ एक महायुग में १५९३३३६ अधिमास और २५०८२२५२ तिथिक्षय होते हैं ॥३८॥ एक महायुग में ५१८४०००० सौर मास होते हैं और नाक्षत्रदिन की संख्या में से सूर्य के भगणों को घटाने पर जो शेष संख्या रहेगी वही युग में पार्थिव वा सावन दिन की संख्या होगी ॥३९॥ पूर्वोक्त भगण, अधिमास, तिथिक्षय, नाक्षत्रदिन, चान्द्रदिन और सावन दिन इन प्रत्येक को भिन्न भिन्न १००० से गुणा करने से कल्प में इन प्रत्येक की संख्या होगी ॥४०॥

विवरण—३७ श्लोक—युग में सावन दिनों की संख्या जानकर ग्रहों की दैनिक गति (भुक्ति) जान सकते हैं और पृथिवी या सूर्य की चारों ओर ग्रहादिकों का भगण काल (भगण) भी जान सकते हैं। जिस ग्रह की दैनिक गति जाननी हो तो उस ग्रह के युग के भगणों को युग के सावन दिन संख्या से भाग देने पर भागफल दैनिक गति होगी इसके लिये त्रैराशिक की क्रिया करे। १ युग के सावन दिन : युग के भगणः तो दैनिक भगण वा दैनिक भुक्ति क्या होगी। जिस कारण दैनिकगति कलाओं में निकाली जाती है, इसलिये प्रत्येक ग्रहों के युगफल संख्याओं को भिन्न भिन्न बारह से गुणा कर गुणन फल राशि संख्या होगी। उसको ३० से गुणा करने पर अंश होंगे, (अंश संख्या होगी) एवं अंश को ६० से गुणा तरने पर कला होंगी। उदाहरण के लिये प्रथम सूर्य की मध्यदैनिकगति निकालकर दिखलाता हूं:—

$$\frac{\text{१ युग में सूर्य के भगण } ४३२०००० \times १२ \times ३० \times ६०}{\text{१ युग के सावनदिन संख्या } १५७७९१७८२८} =$$

ऊपर वाली संख्या जो गुणा करने पर कला संख्या होगी, उसमें नीचे वाली संख्या से भाग देने पर फल कला ५९, विकला ८, अनुकला १०। यही सूर्य की मध्यदैनिकगति हुई (यहां कला के अन्तर विकला और अनुकला, ६० से गुणा करने पर होगी। कला में भाग न हो सका तो

विकला ६० से गुणा कर बनावे, एवं विकला करे । शेषाङ्क को ६० से गुणा करने पर अनुकला होगी) । अब उपर्युक्त नियम से प्रत्येक मङ्गलादि ग्रहों की भी दैनिक भुक्ति निकल आवेगी । इस लिये प्रत्येक की भिन्न भिन्न नहीं लिखी गई ॥

ग्रहगण	अंश	कला	अनुकला	प्रत्यनुकला
रवि	०	५९	८	१०
चन्द्रमा	१३	१०	५५	०
बुध	०	५९	८	१०
शुक्र	०	५९	८	१०
मङ्गल	०	३१	२६	२८
बृहस्पति	०	४	५९	९
बुधशीघ्रोच्च	४	५	३२	२१
शुक्रशीघ्रोच्च	१	३६	७	४४
मङ्गलशीघ्रोच्च	०	५९	८	१०
बृहस्पतिशीघ्रोश्च	०	५९	८	१०
शनिशीघ्रोच्च	०	५९	८	१०
चन्द्रमा का मन्दोच्च	०	६	४१	०

ग्रहों के मन्दोच्चों की गति अत्यन्त थोड़ी है अर्थात् प्रति कला के १/२० भाग से भी न्यून है इसलिये गणित में शून्य ही लिया जाता है ॥

ग्रहों की दैनिक गति कही गई है । अब ग्रहों के भगण काल लाने का नियम लिखा जाता है । जिन ग्रहों का भगण काल (१२ राशियों में एक वार भ्रमण का काल) जानना है, त्रैराशिक द्वारा इस प्रकार लाना चाहिये कि एक युग के भगण में तो इतने (युग) सावन दिन होते हैं तो १ भगण में क्या होगा ? इस लिये युग से सावन दिनों में युग के भगण संख्या से भाग देवे, भागफल इष्ट ग्रह का भगण काल होगा । उदाहरण के लिये, सूर्य का भगण काल निकाला जाता है । जैसे युगीय सावन दिन १५७७९१७८२८ में युगीय सौरभगण ४३२०००० का भाग दिया तो दिन घड़ी पल वि० हुआ । यही सूर्य का सावन दिनों में १ भगण

३६५ ३१ ३१ ३१

काल हुआ । इसी प्रकार पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा के परिक्रमा करने का काल २७ दिन २९ घड़ी १८ पल है । इतने समय में चन्द्रमा राशिचक्र के एक स्थान से चलकर पुनः उसी स्थान पर आ जाता है । चान्द्र मास उस समय पूरा होता है जब चन्द्रमा पुनः सूर्य की राशि में आजावे । चान्द्र मास दिन निकालने के लिये युगीय सावन दिन में भाग दो तो दिन २९ घड़ी ३१ पल ५० यही अमान्त चान्द्र मास होगा । अब प्रत्येक ग्रहों के भगण काल जो पूर्वोक्त

क्रिया से स्थिर हुवे हैं, लिखे जाते हैं । मङ्गल का ६८६ दिन ५९ घड़ी, बृहस्पति का ४३३२ दिन १९ घड़ी, शनि का १०७६५ दिन ४६ घड़ी, बुध का ८७ दिन ५८ घड़ी, शुक्र का २२४ दिन ४२ घड़ी। बुध आदि के शीघ्रोच्चों के भगण के लिये देखो श्लोक ३२ का विवरण ॥

प्राग्गतेः सूर्यमन्दस्य कल्पे सप्ताष्टवह्नयः ।
कौजस्य वेदखयमा बौधस्याष्टर्तुवह्नयः ॥४१॥
खखरन्ध्राणि जैवस्य शौक्रस्यार्थगुणेषवः ।
गोऽग्नयः शनिमन्दस्य पातानामथ वामतः ॥४२॥
मनुदस्रास्तु कौजस्य बौधस्याष्टाष्टसागराः ।
कृताद्रिचन्द्रा जैवस्य त्रिखाङ्काश्च भृगोस्तथा ॥४३॥
शनिपातस्य भगणाः कल्पे यमरसर्तवः ।
भगणाः पूर्वमेवात्र प्रोक्ताश्चन्द्रोच्चपातयोः ॥४४॥
षण्मनूनां तु सम्पीड्य कालं तत्सन्धिभिः सह ।
कल्पादिसन्धिना सार्द्धं वैवस्वतमनोस्तथा ॥४५॥
युगानां त्रिघनं यातं तथा कृतयुगं त्विदम् ।
प्रोझ्य सृष्टेस्ततः कालं पूर्वोक्तं दिव्यसंख्यया ॥४६॥
सूर्याब्दसंख्यया ज्ञेयाः कृतस्यान्ते गता अमी ।
खचतुष्कयमाद्र्यग्निशररन्ध्रनिशाकराः ॥४७॥

भाषानुवाद—एक कल्प में सूर्य के मन्दोच्च के (जो पूर्व की ओर चलता है) ३८७ भगण होते हैं । मङ्गल के मन्दोच्च के २०४ और बुध के मन्दोच्च के ३६८ भगण होते हैं ॥४१॥ एक कल्प में बृहस्पति के मन्दोच्च के ९००, शुक्र के मन्दोच्च के ५३५ और शनि के मन्दोच्च के ३९ भगण होते हैं। अब पातों के भगण की संख्या कहते हैं, जो पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हैं ॥४२॥ एक कल्प में मङ्गल के पात के २१४, बुध के पात के ४८८, बृहस्पति के पात के १७४, शुक्र के पात के ९०३ भगण होते हैं ॥४३॥ और शनि के पात के ६६२ भगण होते हैं, चन्द्रमा के पात और मन्दोच्च के भगण पहिले कहे गये हैं ॥४४॥ छः मन्वन्तरों के काल को ६ सन्धियों सहित और कल्प को आदि की सन्धि सहित काल को एक स्थान में जोड़ कर रक्खो और सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर के वीते हुये चतुर्युगियों को एवं २८वीं चतुर्युगी के गत सतयुग के काल को एकत्र कर पूर्वोक्त छः मन्वन्तरों के काल में जोड़ने से जो संख्या लब्ध हो उस में सृष्टि रचना का काल जो दिव्य वर्षों में (२४ वां श्लोकोक्त ४७४००) दिया है, सौर वर्ष बनाकर घटाने से २८ चतुर्युगी के अन्त तक १९५३७२०००० सौर वर्ष सृष्टि के गत वर्ष होगें ॥४५।४६।४७॥

विवरण—४७ श्लोक—**अब अहर्गण बनाने के नियम लिखे जाते हैं । वर्तमान सृष्टि**

की आदि से इष्टकाल (जिस संवत् मास तक चाहे) तक सावन दिनों की संख्या का नाम अहर्गण है। अब उदाहरण के लिये श्रावण कृष्णा २ संवत् १९४६ तक का लाया जावेगा। गत सौर वर्ष सृष्टि की आदि से संवत् १९५८ के अन्त तक १९५५८८५००२ में १२ वर्ष घटाओ तो शेष संवत् १९४५ के अन्त तक १९५५८८४९९० होगा॥

अत ऊर्ध्वममी युवता गतकालाब्दसंख्यया।
मासीकृता युता मासैर्मधुशुक्लादिभिर्गतैः ॥४८॥
पृथक्स्थास्तेऽधिमासघ्नाः सूर्यमासविभाजिताः।
लब्धाधिमासकैर्युक्ता दिनीकृत्य दिनान्विताः ॥४९॥
द्विष्ठास्तिथिक्षयाभ्यस्ताश्चान्द्रवासरभाजिताः।
लब्धोनरात्रिरहिता लङ्कायामार्द्धरात्रिकः ॥५०॥
सावनो द्युगणः सूर्य्याद्दिनमासाब्दपास्ततः।
सप्तभिः क्षयितः शेषः सूर्याद्यो वासरेश्वरः ॥५१॥
मासाब्ददिनसंख्याप्तं द्वित्रिघ्नं रूपसंयुतम्।
सप्तोद्धृतावशेषौ तु विज्ञेयौ मासवर्षपौ ॥५२॥

भाषानु०—उक्त कृतयुग के अन्त तक के वर्षों की संख्या में इष्ट (जिस संवत्, शाके या समय तक चाहो) काल के गतवर्ष को जोड़ो। पुनः जोड़ने से जो संख्या हो उस को १२ से गुणा करने से मास की संख्या होगी। पुनः इस मास संख्या में चैत्र-मास के शुक्ल पक्ष की परिवा से जितने मास बीते हों जोड़ो तो इष्ट काल तक की मास संख्या होगी ॥४८॥ इन को भिन्न भिन्न स्थान पर रक्खो। एक स्थान के अङ्कों को युग के अधिमासों से गुणा करो और युग के सौरमास की संख्या से भाग दो। इस से अधिमास की संख्या निकल आवेगी। इस अधिमास संख्या को दूसरे स्थान में रक्खे हुए अङ्कों के साथ जोड़ कर उसको ३० से गुणा कर दिन बनावे। एवं इष्ट काल से जितने चान्द्र दिन बीते हों उन को जोड़ें ॥४९॥ उक्त जोड़े हुए अङ्कों को भिन्न भिन्न दो स्थानों में रक्खें। उन में से एक को एक महायुग के तिथिक्षयाङ्क द्वारा गुणा करे और पूर्वोक्त एक महायुग के चान्द्रदिनों पर भाग करे और भागा-वशिष्ट छोड़ कर भागफल, गतक्षयतिथिसंख्या होगी। इस तिथिक्षयसंख्या को दूसरे स्थान में रक्खे हुए अङ्कों में से घटाने पर जो संख्या लब्ध होगी वही लङ्का में आधी रात तक जितने सावनदिन बीते हैं, सावनदिन की संख्या होगी ॥५०॥ उक्त आई हुई सावनदिनसंख्या से दिन, मास और वर्ष का अधिपति जाना जावेगा। वार आदित्य वार से गिन कर निकल आते हैं। इस अहर्गण को ७ से भाग करके शेषाङ्क को आदित्यवार से गिने तो उस तिथि का वार निकल आवेगा अर्थात् ७ भाग करने पर १ बचे तो रविवार, २ बचें तो सोमवार, ३ बचें तो मङ्गलवार, ४ बचें तो

बुधवार, ५ बचें तो बृहस्पतिवार, ६ बचें तो शुक्रवार और यदि कुछ न बचें तो शनिवार जानना ॥५१॥ उक्त अहर्गण को दो स्थानों में अलग अलग रखकर एक को ३० से और दूसरे को ३६० से भाग दो। जो फल हो उसको क्रम से २ और ३ से गुणन करो और दोनों के गुणनफल में १ जोड़दो, पुनः ७ से भाग दो भागफल क्रम से मास और वर्ष के अधिपति होंगे ॥५२॥

विवरण—अब उक्त संख्याङ्क सौर वर्ष को १२ से गुणा कर मास बनाओ एवं गुणनफल में गतमास चैत्र शुक्ल की आदि से आषाढ़ शुक्ल की आदि तक ३ मास हुये। इन को जोड़ो तो इष्टकाल तक मास संख्या होगी। १९५५८८४९९० × १२ + ३ = २३४७०६१९८८३ मास हुये ॥४८॥ उक्त संख्या आषाढ़ शुक्ल से आगे आने वाली संक्रांति तक सौर मासों की संख्या है। इनको त्रैराशिक द्वारा चान्द्रमास बनावे। अर्थात् इस संख्या को युग के अधिमास से गुणाकर गुणनफल में युगीय सौर मास संख्या से भाग दे। भागफल गत अधिमास संख्या होगी। जैसे सौरमास २३४७०६१९८८३ × १५९३३३६ (युगीय अधिमास) = ३७३९९६५८-३६०१८९९६८८ ÷ ५१८४०००० (युगीय सौर मास) = ७२१३८४७१४ गत अधिमास हुए

$\frac{२८१३९६८८}{५१८४००००}$

और भाग देने से शेषाङ्क ५१८४०००० हुवा। उक्त अधिमास को शेषाङ्कों के सहित गत सौर मासों में जोड़ने से योगफल आषाढ शुक्ल के आगे आने वाली संक्रान्ति तक चान्द्रमास की संख्या होगी और यदि उक्त शेषाङ्क को छोड़ दें तो आषाढ शुक्ल के अन्त तक गत चान्द्रमास की संख्या होगी।

आषाढ़ शुक्ला के अन्त तक गत सौरमास २३४७०६१९८८३ + ७२१३८४७१४ (गत अधिमास) = २४ ९२००४५९७ (गत चान्द्रमास) × ३० = ७२५७६०१३७९१० (दिन हुये) + १६ (गतदिन आषाढ शुक्ल के अन्त से श्रावण कृष्णा २ के आदि तक) = ७२५७६०१३७९२६ (सृष्टि की आदि से इष्टकाल तक गत चान्द्रदिन वा तिथि)। अब इस चान्द्रदिन से सावनदिन बनाने के लिये त्रैराशिक की क्रिया करे अर्थात् गत चान्द्रदिन को युगीय तिथिक्षय से गुणा कर गुणनफल में युगीय चान्द्रदिन का भाग दे, भागफल संख्यागत तिथिक्षय संख्या होगी। गत चान्द्रदिन ७२५७६०१३७९२६ × २५०८२२५२ (युगीय तिथिक्षय) = १८२०३६९८६७१०३९७७१६०४ ÷ १६०३०००० ८० (युगीय चान्द्रदिन) = ११३५६०१८५६६ यही गत तिथिक्षय संख्या हुई और शेष अङ्क जो भाग देने से

$\frac{१२६०२८६३२४}{१६०३००००८०}$

रह गया १६०३००००८०। यह तिथिक्षय शेष अङ्कसहित गत चान्द्र दिनों से निकाल दें तो गत तिथि के अन्त तक सावनदिनों की संख्या होगी, परन्तु अहर्गण इष्टतिथि की अर्द्ध रात्रि पर्यन्त चाहिये। इसलिये शेष अङ्क छोड़ देना चाहिये। यह शेष गत तिथि के अन्त से वर्त्तमान तिथि के अर्द्ध रात्रि तक का काल है। इस कारण श्रावण कृष्णा २ संवत् १९४६ को लङ्का की आधीरात तक निम्नलिखित अहर्गण हुवे। गत चान्द्रदिन ७२५७६०१३७९२६, गततिथिक्षय ११३५६०१८५६६ और गत सावन दिन ७१४४०४११९३६० ॥४९॥५०॥ उक्त अहर्गण में

७ का भाग देने से शेष १ मिला, इसलिये श्रावण कृष्णा २ को रविवार था ॥५१॥ पुनः उक्त अहर्गण में ३० का भाग दिया तो २३=१३४७०६४५ (और शेष अङ्क को छोड़ दिया) × २=४७६२६६४१२६०+१=४७६२६६४१२६१÷७ से भाग दिया तो शेष अङ्क ६ मिला तो श्रावण कृ० २ को मास का अधिपति शुक्र था। पुनः वर्षाधिपति जानने के लिये ७१४४०-४११६३६०÷३६०=१६८४५५८८७ (शेष अङ्क को छोड़ दिया) ×३=५६५३३६७६६१ +१=५६५३३६७६६२÷७ तो शेष अङ्क ४ रहा इसलिये संवत् १६४६ का वर्षाधिपति बुध था ॥५२॥

यथास्वभगणाभ्यस्तो दिनराशिः कुवासरैः।
विभाजितो मध्यगत्या भगणादिर्ग्रहो भवेत् ॥५३॥
एवं स्वशीघ्रमन्दोच्चा ये प्रोक्ताः पूर्वयायिनः।
विलोमगतयः पातास्तद्वच्चक्राद्विशोधिताः ॥५४॥
द्वादशघ्ना गुरोर्याता भगणा वर्त्तमानकैः।
राशिभिः सहिताः शुद्धाः षष्ट्या स्युर्विजयादयः ॥५५॥
विस्तरेणैतदुदितं संक्षेपाद्व्यावहारिकम्।
मध्यमानयनं कार्यं ग्रहाणामिष्टतो युगात् ॥५६॥
अस्मिन्कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः।
विना तु पातमन्दोच्चान्मेषादौ तुल्यतामिताः ॥५७॥

भाषानुवाद—उक्त अहर्गण के ग्रहों के एक कल्प के भगणों की संख्या से गुणा करो और कल्प के सावनदिन संख्या से भाग दो तो ग्रहों का भगणादि मध्य अर्थात् राशि, अंश, कला आदि निकल आवेंगे। इस प्रकार ग्रहों की मध्यगति से स्थान ज्ञात हो जावेगा ॥५३॥ इसी प्रकार शीघ्रोच्च मन्दोच्चों के मध्यस्थान जिन के भगण पहिले कहे जा चुके हैं और पातों के मध्यस्थान जाने जा सकते हैं, परन्तु पातों के स्थान १२ राशि में से घटाकर गणित करें क्योंकि इन की राशि क्रम से विलोम अर्थात् उलटी होती है ॥५४॥ बृहस्पति के गत भगणों को १२ से गुणा कर गुणनफल में गत राशियों का योग कर योगाङ्क को ६० का भाग देने पर भागफल विजयादि संवत्सर होगा ॥५५॥ ऊपर अर्थात् ४५ श्लोक से ५४ तक ग्रहों के मध्यानयन प्रक्रिया विस्तार पूर्वक कही गयी। व्यवहार से त्रेतायुग के आरम्भ से ग्रहों का मध्य स्थान निश्चय करना चाहिये ॥५६॥ जिस कारण इस सत्ययुग के अन्त में पात और मन्दोच्च को छोड़कर सब ग्रहों से मध्यस्थान मेष राशि के आरम्भ में थे ॥५७॥

विवरण—**कल्प के आरम्भ में सब ग्रहों का एक ही स्थान था, सब ग्रह रेवती नक्षत्र के योगतारा से चले, इसलिये इष्ट समय पर उन का मध्यम स्थान निकालने के लिये त्रैराशिक**

की क्रिया करनी चाहिये अर्थात् उक्त अहर्गण को कल्प के भगणों से गुणा कर गुणनफल में कल्प के सावनदिनों का भाग देवे तो ग्रहों का मध्यस्थान निकलेगा। जैसे—७१४४०४११९-३६० (अहर्गण) ×४३२०००००००=३०८६२२५७९५६३५२००००००००÷१५७७९१-७८२८००० (कल्प के सावनदिन) = १९५५८७८४९९० भगण, शेष अङ्क ३९६५९८२८०००० ×१२=४७५९१७९३६०००० कल्प के सावनदिन से भाग दिया तो २ राशि हुई और शेष अङ्क २५४२५८७६००० × ३० = ७६२७७६२८०००० अंश हुए, इसमें उक्त कल्प के सावन-दिन का भाग दिया तो फल अंश शून्य हुआ। और जो उक्त अंश को ६० से गुणा किया तो ४५७६६५७६८००००० कला संख्या हुई। इसमें उक्त कल्प के सावनदिन का भाग दिया तो २९ कला मिलीं। शेष अङ्क ६९५९७८८००० × ६० = ४१७५८७२८०००० इसमें उक्त सावनदिन का भाग दिया तो फल शून्य विकला हुई। इसलिये श्रावण कृ० २ संवत् १९४६ को सूर्य का मध्यस्थान १९५५८७८४९९० भगण, ३ राशि, ० अंश, २९ कला, शून्य विकला। इसी प्रकार चन्द्रमा के भगण से उक्त अहर्गण को गुणन शेष क्रिया पूर्ववत् किया तो चन्द्रमा का मध्यस्थान भगण २१६४७८८९५८७। रा० ९। अं० २१। क० ५२। वि० ३७। शेष ग्रहों के निम्नलिखित भगणादि हैं—

	भगण	राशि	अंश	कला	विकला
मङ्गल	१०३९८९३३४१।	२.।	७।	२४।	५२।
बुध	१९५५८७८४९९०।	२।	१।	२९।	७।
शुक्र	१९५५८७८४९९०।	२।	७।	२९।	०।
बृहस्पति	१६४९०१०२५।	८।	२२।	२६।	४३।
शनैश्चर	६६३५८८३१।	३।	२०।	५५।	४७।

॥ ५२ ॥ ५३ ॥

बुध के शीघ्रोच्च भगण को अर्हगण में गुणा करने और कल्प के सावनदिनों पर भाग करने से ८१२१०२४६३५ भगण। ० राशि। ३ अंश। ८ कला और ४५ विकला निकलेंगी। इसी प्रकार शुक्र के शीघ्रोच्च का स्थान ३१७९३८८८४५ भगण, १० राशि, २५ अंश, ६ कला और १९ विकला निकलते हैं॥

मङ्गल, बृहस्पति और शनि के शीघ्रोच्च का वही स्थान होगा जो सूर्य मध्य का है क्योंकि उन के भगण तुल्य हैं॥ अब मन्दोच्चों को लिखते है—

प्रथम चन्द्र का मन्दोच्च

अहर्गण को ४८८२०३००० में गुणा और १५७७९१७८२८००० पर भाग करने से २२१०३४४७२ भगण २ राशि ११ अंश १८ कला और २२ विकला निकलेंगी, यही चन्द्र मन्दोच्च का मध्यस्थान हुआ॥

अब चन्द्रपात लिखते हैं:—अहर्गण को २३२, २३८,००० में गुणा करके १,५७७.९१७, ८२८,००० पर भाग करो तो १०५,१४६,०२२ भगण ९ राशि ७ अंश ९ कला और ५७ विकला निकलेंगी। इन राशि आदि को १२ राशि में शोधने से २ । २२ । ५० । ३ चन्द्रपात का मध्यस्थान हुआ ॥

सूर्य का मन्दोच्च निकालने के लिये अहर्गण को ३८७ में गुणा करके १,५७७,९१७, ८२८,००० पर भाग करो तो १७५ भगण २ राशि १७ अंश १७ कला २७ विकला निकलेंगी। मङ्गल के मन्दोच्च निकालने के लिये अहर्गण को २०४ में गुणा और १, ५७७, ९१७, ८२८, ००० पर भाग करो। लब्ध भगणादि ९२। ४ । १० । २ । ४१ । इसी तरह बृहस्पति के मन्दोच्च के भगणादि ४०७ । ५ । २१ । २२ । २७, बुध के मन्दोच्च के १६६ । ७ । १० । २८ । २३, शुक्र के मन्दोच्च के २४२ । २ । १९ । ५२ । २१ और शनि के मन्दोच्च के १७। ७।२६।३७।३४ भगण, राशि, अंश, कला और विकला निकलेंगे। मङ्गल का पात निकालने के लिये अहर्गण को २१४ में गुणा करके १,५७७,९१७,८२८,००० पर भाग करो तो ९६।१०।१९।५६।५६ यह लब्ध हुए।

राशि आदि को १२ राशि में से शोधो तो १ राशि १० अंश ३ कला और ४ विकला। यह मङ्गल के पात का स्थान हुआ। बुधपात निकालने के लिये अहर्गण को ४८८ में गुणा करके १,५७७,९१७,८२८,००० पर भाग करो तो २२०।११।९।१९।२२ लब्ध भगणादि हुए। १२ राशि में शोधने से ०।२०।४०।३८ बुधपात का स्थान हुआ। बृहस्पति के पात के ७८ भगण ९ राशि १० अंश १९ कला ५६ विकला निकलेंगी। राशि आदि को चक्र में शोधने से २।१९।४०।४ यह बृहस्पति के पात का स्थान हुआ। शुक्र के पात के ४०८।१०।०।२०।४४ भगणादि निकलेंगे। चक्र में शोधने से १ २९।३९।१६ राश्यादि शुक्रपात का स्थान हुआ। शनिपात के २९९।८।१९।३९।१९ भगणादि हुए। चक्र में शोधने से ३।१०।२०।४१ यह शनि के पात का स्थान हुआ। चन्द्र का पात पहिले निकाल चुके हैं, सूर्य का पात नहीं होता। अब ग्रहों का स्थान एक जगह लिखते हैं—

सूर्य्य का मध्य स्थान	३ । ० । २९ । ०	मङ्गलपात „	१ । १० । ३ । ४
सूर्य्यमन्दोच्च „	२ । १७ । १७ । २७	बुध का मध्यस्थान	३ । ० । २९ । ०
चन्द्रमध्य „	९ । २१ । ५२ । ३७	बुधमन्दोच्च „	७ । १० । २८ । २३
चन्द्रमन्दोच्च „	२ । ११ । १८ । २२	बुधशीघ्रोच्च „	० । ३ । ८ । ४५
चन्द्रपात „	२ । २२ । ५० । ३	बुधपात „	० । २० । ४० । ३८
मङ्गलमध्य „	२ । ७ । २४ । ५२	बृहस्पतिमध्य „	८ । २२ । २६ । ४३
मङ्गलमन्दोच्च „	४ । १० । २ । ४१	बृहस्पतिमन्दोच्च „	५ । २१ । २२ । २७
मङ्गलशीघ्रोच्च „	३ । ० । २९ । ०	बृहस्पतिशीघ्रोच्च „	३ । ० । २९ । ०

बृहस्पतिपात	,,	२ । १९ । ४० । ४	शनिमध्य	,,	३ । २० । ५५ । ४७
शुक्रमध्य	,,	३ । ० । २९ । ०	शनिमन्दोच्च	,,	७ । २६ । ३७ । ३४
शुक्रमन्दोच्च	,,	२ । १९ । ५२ । २१	शनिशीघ्रोच्च	,,	३ । ० । २९ । ०
शुक्रशीघ्रोच्च	,,	१० । २५ । ६ । १९	शनिपात	,,	३ । १० । २० । ४१
शुक्रपात	,,	१ । २९ । ३९ । १६			

सब ग्रहों की भुक्ति वा मध्यदैनिक गति भी नीचे लिखते हैं:—

सूर्य्य की गति कलादि		५९ । ८	बुधशीघ्रोच्च	,,	२४५ । ३२
सूर्य्यमन्दोच्च	,,	अत्यन्त अल्प	बृहस्पति	,,	४ । ५९
चन्द्रमा की गति	,,	७९० । ३५	बृहस्पतिमन्दोच्च	,,	अत्यन्त अल्प
चन्द्रमामन्दोच्च	,,	६ । ४१	बृहस्पतिशीघ्रोच्च	,,	५९ । ८
चन्द्रपात	,,	३ । ११	शुक्र	,,	५९ । ८
मङ्गल	,,	३१ । २६	शुक्रमन्दोच्च	,,	अत्यन्त अल्प
मङ्गलमन्दोच्च	,,	अत्यन्त अल्प	शुक्रशीघ्रोच्च	,,	९६ । ८
मङ्गलशीघ्रोच्च	,,	५९ । ८	शनि	,,	२ । ०
बुध	,,	५९ । ८	शनिमन्दोच्च	,,	अत्यन्त अल्प
बुधमन्दोच्च	,,	अत्यन्त अल्प	शनिशीघ्रोच्च	,,	५९ । ८

मङ्गलादि ग्रहों के पातों की गति अत्यन्त अल्प है—अतः नहीं लिखी। गणित में शून्य ही लेते हैं।

विवरण —५५—बृहस्पति के एक राशि में जाने का काल एक प्रकार का संवत्सर माना जाता है। ऐसे ६० संवत्सर हैं जिन के नाम विजय से आरम्भ होते हैं। कल्प के आदि में विजय संवत्सर था तो इस समय कौन संवत्सर होगा। यह ज नने के लिये जितनी राशि कल्प की आदि से बृहस्पति ने भोगी हैं उन को ६० पर भाग करो—जो शेष रहे तो उसको विजय से गिन कर संवत्सर का नाम निकाल लो।

उदाहरण —श्रावण बदि २ सं० १९४६ तक बृहस्पति के १६४,९०१,०२५ भगण और ८ राशि होती हैं। इस की १,९७८,८१२,३०८ राशि हुईं। ६० पर भाग करने से शेष ८ रहे—इसलिये विजय से ८ वां संवत्सर अर्थात् शर्वरी संवत्सर हुआ।

विवरण ५६ —त्रेतायुग की आदि से सं० १९४६ श्रावण वदि २ की अर्धरात्रि का अहर्गण ७९०, ७८१, ६४७ निकलेगा, इससे सूर्य्यादि ग्रहों के मध्य निकालने से वही निकलेंगे जो ऊपर लिख आए हैं। वार निकालने के लिये बुधवार से गिनना चाहिये क्योंकि कृत के अन्त में मङ्गलवार था।

१ बार्हस्पत्य संवत्सर हमारे १२ सौर वर्ष के समान होता है। अर्थात् बृहस्पति ग्रह को सूर्य की एक परिक्रमा करने में हमारे १२ वर्ष के बराबर समय लगता है और वैदिक समय

में ५ वर्ष की १ युग संज्ञा थी और ५ वर्ष का एक ही वार "पञ्चाङ्ग" बनता था। इस कारण बृहस्पति का १ युग अर्थात् ५ वर्ष हमारे ६० वर्ष के तुल्य होता है। इस कारण पञ्चाङ्ग बनाने के साथ ६० वर्ष तक की गणना कर लिखते थे और ६० वर्षों का कल्पित नाम रखते थे। वह नाम रखना अपनी इच्छा पर है, इसी कारण भिन्न २ ग्रन्थों में भिन्न २ प्रकार से ६० वर्षों के नाम पाये जाते हैं। वस्तुतः इस से कोई विशेष प्रयोजन नहीं। परन्तु फलित वालों ने इन ६० वर्षों से भी भिन्न भिन्न प्रकार के शुभाशुभ फल की कल्पना करली है।

बृहस्पति के ६० वर्षों के नाम ये हैं —१ विजय २ जय ३ मन्मथ ४ दुर्मुख ५ हेमलम्ब ६ विलम्ब ७ विकारी ८ शर्वरी ९ प्लव १० शुभकृत् ११ शोभन १२ क्रोधी १३ विश्वावसु १४ पराभव १५ प्लवङ्ग १६ कीलक १७ सौम्य १८ साधारण १९ विरोधकृत २० परिधावी २१ प्रमादी २२ आनन्द २३ राक्षस २४ अनल २५ पिङ्गल २६ कालयुक्त २७ सिद्धार्थी २८ रौद्र २९ दुर्मति ३० दुन्दुभि ३१ रुधिरोद्गारी ३२ रक्ताक्ष ३३ क्रोधन ३४ क्षय ३५ प्रभव ३६ विभव ३७ शुक्ल ३८ प्रमोद ३९ प्रजापति ४० अङ्गिरा ४१ श्रीमुख ४२ भाव ४३ युवा ४४ धाता ४५ ईश्वर ४६ बहुधान्य ४७ प्रमाथी ४८ विक्रम ४९ वृष ५० चित्रभानु ५१ सुभानु ५२ तारण ५३ पार्थिव ४५ व्यय ५५ सर्वजित् ५६ सर्वधारी ५७ विरोधी ५८ विकृत ५९ खर ६० नन्दन।

मकरादौ शशाङ्कोच्चं तत्पातस्तु तुलादिगः।
निरंशत्वं गताश्चान्ये नोक्तास्ते मन्दचारिणः ॥५८॥
योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु।
तद्वर्गतो दशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत् ॥५९॥
लम्बज्याघ्नस्त्रिजीवाप्तः स्फुटो भूपरिधिः स्वकः।
तेन देशान्तराभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता ॥६०॥
कलादि तत्फलं प्राच्यां ग्रहेभ्यः परिशोधयेत्।
रेखाप्रतीचीसंस्थाने प्रक्षिपेत्स्युः स्वदेशजाः ॥६१॥
राक्षसालयदेवौकःशैलयोर्मध्यसूत्रगाः।
रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः ॥६२॥

भाषानुवाद—उस समय केवल चन्द्रमा का मन्दोच्च मकर की आदि अर्थात् ९ रा, ० शून्य अंश में और चन्द्रमा का पात तुला के आरम्भ में अर्थात् ६ राशि शून्य अंश में था। एवं अन्यान्य ग्रहों के मन्दोच्च और पात, ये सब भी अंशरहित न थे ॥५८॥ ८०० योजन को द्विगुण करने से १६०० योजन पृथिवी के व्यास का परिमाण होगा। इस को १० से गुणा कर, पुनः इसका वर्गमूल निकालने से पृथिवी की परिधि होगी ॥५९॥ पृथिवी की परिधि को अभीष्ट देश के लम्बज्या से गुणा करो। गुणनफल में त्रिज्या का भाग देने पर भागफल उस अभीष्ट स्थान की स्फुट

परिधि होगी । देशान्तर को ग्रह की भुक्ति (गति) से गुणा कर गुणन फल में इस स्फुटपरिधि द्वारा भाग दे ॥६०॥ भागफल से कलादि निकलें । उन को ग्रह के मध्य स्थान से घटाओ, यदि अभीष्टदेश मध्यरेखा से पूर्व दिशा में हो । परन्तु यदि इष्ट देश मध्यरेखा से पश्चिम दिशा में हो तो भागफल कलादिकों को जोड़ो तो योगफल स्वदेशीय ग्रहों के मध्यस्थान होंगे ॥६१॥ लङ्का और सुमेरु पर्वत के मध्य सूत्र पर जो रेखा कल्पित हुई है उस का नाम मध्य रेखा है। इस मध्य रेखा पर रोहीतक नगर, उज्जयिनी एवं कुरुक्षेत्रादि देश अवस्थित हैं ॥६२॥

विवरण—५७, ५८— ऊपर लिखी रीति से कृत के अन्त तक अहर्गण लेकर ग्रहों का स्थान निकालने से श्लोक ५७ और ५८ के कथन का प्रमाण निश्चय हो सकता है । कृतान्त का अहर्गण ७१३,३३७,६१३, ७१३ निकलेगा । इस से सब ग्रहों के मध्य ०।०।०।० निकलते हैं । चन्द्रोच्च १।०।०।० और चन्द्रपात ७।०।०।० निकलता है, अहर्गण को ७ पर भाग करने से ३ शेष रहते हैं। इसलिये कृत के अन्त में मङ्गलवार निकलता है ।

विव०- ५९—इस से निरक्ष देश पर परिधि ५०५९ योजन निकलती है ।

वि०—६०—प्रथम चित्र में निपमेरिरवृत्त पृथिवी का गोल है, म उसका मध्य है, है, निरक्ष वृत्त वह बड़ा वृत्त है जहां दिन रात्रि सदैव बराबर होते हैं। निर निरक्ष वृत्त का तथा पृथिवी का व्यास है, रि कोई नगर है, जैसे रिवाड़ी, ममे अर्धव्यास है, इसको त्रिज्या भी कहते हैं, ररिधनु रिवाड़ी का अक्ष है । रिमे रिवाड़ी की मेरु से दूरी है, इस दूरी को लम्ब कहते हैं, परिधि रिवाड़ी की स्फुट परिधि है । परि स्फुट परिधि का व्यास है, जरि मेरि धनु की ज्या है, अब स्फुट परिधि निकालने के लिये यह त्रैराशिक करो । मर वा ममे (अर्द्ध व्यास) पर : उक्तभू परिधि :: जरि पर : स्फुट परिधि क्या होगी ।

अर्थात् लम्बज्या जरि को भूपरिधि में गुणा करके त्रिज्या पर भाग करो। उदाहरण - रिवाड़ी का लम्ब अर्थात् मेरु से फासला ६१ अंश ५१ कला है । ज्या और त्रिज्या निकालने की रीति दूसरे अध्याय के श्लोक १५,१६ में लिखेंगे । ६१ । ५१ की ज्या ३०३१ है और त्रिज्या ३४३८ होती है । ५०५९ को ३०३१ में गुणा और ३४३८ पर भाग किया तो ४४५९ स्फुट परिधि हुई । लङ्का और उज्जैन से मेरु के बीच होकर जो वृत्त कल्पित किया जावे उस को मध्यरेखा कहते हैं । जैसे ग्रीनिच अंगरेजों का है । इस रेखा से इष्टस्थान की दूरी को जो उसकी स्फुट परिधि पर मापी जाती है, देशान्तर कहते हैं । ग्रह की भुक्ति किसी स्थान पर उसके स्फुट परिधि के एक परिवर्त्तन के काल में पूरी होती है। उज्जैन वा लङ्का में जिस राशि आदि में ग्रह होगा उसके पश्चिम की ओर जितने देश हैं उन में उसका भोग कुछ अधिक होगा, क्योंकि ग्रहों की गति पश्चिम से पूर्व की ओर है, पश्चिम देशों में ग्रह पहिले दृष्टि पड़ेगा

और उसके मध्य रेखा तक पहुंचने तक पश्चिम देश में उसका कुछ विशेष भोग हो जायगा। इसी तरह उज्जैन वा लङ्का से पूर्व में जो देश हैं वहां ग्रह की राशि आदि न्यून होंगी।

इस ग्रह का भोग कितना न्यून वा अधिक होगा, सो जानने के लिये यह त्रैराशिक करो। इष्टदेश की स्फुटपरिधि पर : उक्त ग्रह की भुक्ति :: देशान्तर : ग्रह की विशेत गति क्या होगी।

इस लिये भुक्ति को देशान्तर में गुणा करके स्फुटपरिधि में भाग करने से ग्रह की विशेषगति निकल जावेगी जिस को मध्य रेखा पर ग्रह के स्थान में जोड़ने या घटाने से इष्ट देश में ग्रह का मध्यस्थान निकल आवेगा।

उदाहरण —रिवाड़ी का देशान्तर ११ योजन पूर्व की ओर है इसलिये ग्रह की मध्य भुक्ति को ११ से गुणा करके ४४५९ पर भाग करने से जो गति न्यूनाधिक करनी है वह निकल आवेगी।

वि० —६१ —सूर्य की भुक्ति ५९ । ८ है, उसको ११ योजन में गुणा करके ४४५९ पर भाग करें, तो ९ विकला आती हैं। चूंकि रिवाड़ी मध्य रेखा से पूर्व की ओर है इसलिये सूर्य्य के स्थान से ९ विकला घटाओ, तो रिवाड़ी में सूर्य का स्थान ३।०।२८।५१ यह हुआ। चन्द्रमा की भुक्ति ७९०।३५ है इस को ११ में गुणा और ४४५९ में भाग करने से १।५७ कलादि लब्ध हुईं इन को चन्द्रमा के स्थान से घटाने से ९।२१।५०।४० यह रिवाड़ी में चन्द्रमा का मध्यस्थान हुआ। इसी तरह मङ्गल का ५ विकला, बुध के शीघ्रोच्च का ३६ विकला, बृहस्पति का १ विकला, शुक्र के शीघ्रोच्च का १४ विकला, शनि का ० विकला, चन्द्र मन्दोच्च का १ विकला और चन्द्रपात का ० विकला देशान्तर फल निकलेगा। इन को ग्रहों के स्थान में से घटाने से निम्न लिखित ग्रह हो जावेंगे।

सूर्य्य ३ । ० । २८ । ५१ । चन्द्रमा ९ । २१ । ५० । ४० । मङ्गल २ । ७ । २४ । ४७ । बुधशीघ्रोच्च ० । ३ । ८ । ९ । बृहस्पति ८ । २२ । २६ । ४२ । शुक्रशीघ्रोच्च १० । २५ । ६ । ५ । शनि ३ । २० । ५५ । ४७ । चन्द्रमन्दोच्च २ । ११ । १८ । २१ । चन्द्रपात २ । २२ । ५० । ३ ॥

विवरण —६२ —यहां लङ्का से वर्त्तमान लङ्का देश नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह तो निरक्ष से ऊपर है और उज्जैन की मध्य रेखा से बहुत पूर्व है। लङ्का कोई टापू वा नगर निरक्ष पर वर्त्तमान लङ्का देश के दक्षिण पश्चिम कोण में था, अब वहां समुद्र है। कोई नगर वा टापू नहीं है। जो बड़ा वृत्त पृथिवी के उत्तर दक्षिण मेरु तथा रोहीतक, उज्जैन तथा लङ्का के बीच में होकर कल्पित किया जावे उस को मध्य रेखा कहते हैं।

अतीत्योन्मीलनादिन्दोः पश्चात्तद्गणितागतात्।
यदा भवेत्तदा प्राच्यां स्वस्थानं मध्यतो भवेत् ॥६३॥

अप्राप्य च भवेत् पश्चादेवं वापि निमीलनात् ।
तयोरन्तरनाडीभिर्हन्याद् भूपरिधिं स्फुटम् ॥६४॥
षष्टया विभज्य लब्धैस्तु योजनैः प्रागथापरैः ।
स्वदेशपरिधिर्ज्ञेयः कुर्याद्देशान्तरं हि तैः ॥६५॥
वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपाऽर्द्धेऽभ्यधिके भवेत् ।
तद्देशान्तरनाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत् ॥६६॥

भाषानुवाद—इष्टस्थान पर यदि चन्द्रमा के सर्वग्रासग्रहण का आरम्भ या अन्त गणित से आये हुए काल से पीछे हो तो इष्ट स्थान उक्त मध्यरेखा से पूर्व दिशा में है, जानना ॥६३॥ (उन्मीलन से मोक्ष) परन्तु यदि चन्द्रमा के सर्वग्रास ग्रहण का आरम्भ या अन्त गणित से आये हुए काल से पहिले हो तो इष्टस्थान मध्यरेखा की पश्चिम दिशा में जानना । (निमीलन से स्पर्श) गणितागत काल और ग्रहणदर्शनकाल दोनों काल का अन्तर दण्ड, पलादि में निकाल वियोग-फल जो दण्ड पलादि होंगे, उनको स्फुट परिधि से गुणा करो ॥६४॥ उक्त गुणन फल को ६० से भाग करके जो भाग फल हो वह इष्ट स्थान की दूरी (देशान्तर) मध्यरेखा से पूर्व या पश्चिम कितनी होगी उस की संख्या योजन में निकल आवेगी । पूर्वोक्त ६०--६१ श्लोक लिखित नियमानुसार इस देशान्तर योजन को कला बनाय ग्रह मध्य में जोड़ें या घटावे । इससे ग्रहों के मध्यस्थान का निश्चय होगा ॥६५॥ मध्यरेखा से जिस देश के दण्ड, पलादि जितने होंगे मध्य रेखा में सूर्योदय के पहिले वा पीछे उतने ही दण्डपलादि में वार का आरम्भ होगा अर्थात् मध्यरेखा के पूर्व देशों में पहिले एवं मध्यरेखा से पश्चिम के देशों में पीछे वार का आरम्भ जानना ॥६६॥

विवरण गणित द्वारा लाया हुआ काल मध्य रेखा पर उन्मीलन का समय होता है ॥६३॥ दिन रात ६० घड़ी की होती है । देशान्तर निकालने के लिये त्रैराशिक की क्रिया करनी चाहिये अर्थात् देशान्तर घटिकाओं को स्फुट परिधि में गुणा कर गुणनफल में ६० का भाग देवे । भागफल देशान्तर की योजन संख्या होगी । उदाहरण—रिवाड़ी (जिला है) में गणितागत और प्रत्यक्ष सर्वग्रास का मोक्ष काल का अन्तर ८ पल ५२ विपल है और स्फुट परिधि ४४५६ योजन है । दोनों को गुणा करके ६० घड़ी × ६० × ६० = २१६००० विपल से भाग दिया तो ११ योजन रिवाड़ी का देशान्तर मिला ॥६५॥ रिवाड़ी मध्यरेखा के पूर्व है । इस लिये वहां श्रावण कृष्णा २ सं० १९४६ को ८ पल ५२ विपल उपरान्त सोमवार होगा ॥६६॥

इष्टनाडीगणा भुक्तिः षष्टया भक्ता कलादिकम् ।
गते शोध्यं युतं गम्ये कृत्वा तात्कालिको भवेत् ॥६७॥
भचक्रलिप्ताशीत्यंशं परमं दक्षिणोत्तरम् ।
विक्षिप्यते स्वपातेन स्वक्रान्त्यन्तादनुष्णगुः ॥६८॥

तन्नवांशं द्विगुणितं जीवस्त्रिगुणितं कुजः ।
बुधशुक्रार्कजाः पातैर्विक्षिप्यन्ते चतुर्गुणम् ॥६९॥
एवं त्रिघनरन्ध्रार्करसार्कार्का दशाहताः ।
चन्द्रादीनां क्रमादुक्ता मध्यविक्षेपलिप्तिकाः ॥७०॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

भाषानुवाद—ग्रह का स्थान आधी रात से पहिले या पीछे जानना हो तो ग्रह की दैनिक भुक्ति (गति) को इष्ट (जिस समय मध्यस्थान स्थित करना हो) घड़ियों से गुणाकर गुणनफल में ६० का भाग दे, भागफल जो कलादि होंगे उनको ग्रह के स्थान से घटावे । यदि इष्टकाल आधी रात से पहिले हो तो, एवं यदि इष्ट काल आधीरात से पीछे हो तो जोड़ देवे । इस प्रकार करने से ग्रह का तात्कालिक मध्यस्थान निरूपित होगा ॥६७॥ रवि मार्ग के जिस स्थान में चन्द्रमा को क्रान्ति का शेष मिला है उस स्थान से २१६०० कला के ८० वें भाग का एक भाग २७० कला उत्तर या दक्षिण में पात द्वारा चन्द्रमा चलायमान हो जाता है अर्थात् उक्त परिमाण से अपने स्थान से उत्तर या दक्षिण की ओर चला जाता है । इसको चन्द्रमा का विक्षेप कहते हैं । उक्त २७० कला चन्द्रमा का परम विक्षेप है ॥६८॥ चन्द्रमा का जो परम विक्षेप हो, उसको ९ से भाग करके, भागफल को दो भाग में जितना होगा वही बृहस्पति का परम विक्षेप । इसी प्रकार मङ्गल का परम विक्षेप ३/९ एवं ४/९ चन्द्रमा के परम विक्षेप का ४/९ बुध, शुक्र और शनि का होगा ॥६९॥ चन्द्रमा का मध्य परमविक्षेप २७० कला, मङ्गल का ९० कला, बुध का १२० कला, बृहस्पति का ६० कला, शुक्र का १२० कला एवं शनि का १२० कला ॥७०॥

विवरण—ग्रहों के मध्यस्थान जो श्लोक ६१ के अर्थ में लिखे हैं वह रिवाड़ी के अर्ध-रात्रिक हैं । यदि आधीरात के ७ घड़ी ३० पल उपरान्त समय के ग्रह बनाने हों तो ७ घड़ी ३० पल को ग्रहों की भुक्ति में गुणा कर गुणन फल में ६० का भाग देवे और भागफल को ग्रहों के स्थान में जोड़ देवे तो तात्कालिक ग्रह हो जावेंगे । गणित करने से सूर्य के ७ कला २४ विकला, चन्द्रमा के ९८ कला ४९ वि०, मङ्गल के ३ कला ५६ विकला, बुधशीघ्रोच्च के ३०कला ४२ वि०, बृहस्पति के शून्य० कला ३७ वि०, शुक्रशी० के १२ क० १ वि०, शनि के ० कला १५ वि०, चन्द्रमा के मन्दोच्च के ० कला ५० वि० और चन्द्रपात के ० कला २४ विकला । इन को ग्रहों के अपने अपने स्थान में जोड़ने से श्रावण कृष्णा २ की आधी रात से ७ घड़ी ३० पल वीतने पर होंगे । पात में से कलाओं को घटाना चाहिये । सूर्य ३ । ० । ३९ । १५, चन्द्रमा ९ । २३ । २९ । २६, मङ्गल २ । ७ । २८ । ४३, बुध शीघ्रोच्च ० । ३ । ३८ । ५१, बृहस्पति ८ । २२ । २७ । १९, शुक्रशीघ्रोच्च १० । २५ । १८ । ६, शनि ३ । २० ।

२६ । ८, चन्द्रमा के मन्दोच्च २ । ११ । १९ । ११, और चन्द्रपात २।२२।४९।३६।।६७।।

ग्रह की कक्षा का वृत्त जिस विन्दु में क्रान्ति वृत्त को काटकर उसके उत्तर की ओर चढ़ता है उस विन्दु को "पात" कहते हैं । जब ग्रह पात से दूर होता है तो क्रान्ति वृत्त से उस की दूरी को जो दक्षिण या उत्तर में होती है विक्षेप कहते हैं । जब ग्रह पात से ३ राशि आगे वा पीछे होता है, तब वह क्रान्ति वृत्त से अत्यन्त दूर हो जाता है । इस अत्यन्त दूरी का नाम "परम विक्षेप" है । ३ राशि और भोग कर ग्रह का कक्षा वृत्त पुनः क्रान्ति वृत्त को काट के उससे दक्षिण में जाता है यह दूसरा पात है परन्तु गणित में पहिला ही पात लिया जाता है ।

चन्द्रमा का परम विक्षेप राशिचक्र की कलाओं का $\frac{१}{८०}$ है अर्थात् राशि चक्र २१६०० कला में २७० चन्द्रमा का परम विक्षेप है ।।६८।।

इति भाषानुवादे प्रथमोऽध्यायः

———

ओ३म्

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः ।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥१॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम् ॥२॥
प्रवहाख्यो मरुत् तांस्तु स्वोच्चाभिमुखमीरयेत् ।
पूर्वापरापकृष्टास्ते गतिं यान्ति पृथग्विधाम् ॥३॥
ग्रहात् प्राग्भगणार्धस्थः प्राङ्मुखं कर्षति ग्रहम् ।
उच्चसंज्ञोऽपरार्धस्थस्तद्वत् पश्चान्मुखं ग्रहम् ॥४॥
स्वोच्चापकृष्टा भगणैः प्राङ्मुखं यान्ति यद् ग्रहाः ।
तत् तेषु धनमित्युक्तमृणं पश्चान्मुखेषु तु ॥५॥
दक्षिणोत्तरतोऽप्येवं पातो राहुः स्वरंहसा ।
विक्षिपत्येष विक्षेपश्चन्द्रादीनामपक्रमात् ॥६॥

भाषानुवाद—अदृश्यरूप, शीघ्रोच्च, मन्दोच्च, एवं पात काल की मूर्त्ति हैं और भगणों के आश्रित हैं। इन्हीं के कारण ग्रहों की (स्पष्ट) गति होती है ॥१॥ उक्त शीघ्रोच्च, मन्दोच्च एवं पात अपने वायुरूप रस्सियों से सब ग्रहों को बान्ध कर अपनी ओर खींचते हैं। यह ही मन्दोच्चादि अपने दाहिने और बायें रज्जु को पकड़ कर पूर्व और पश्चिम की ओर आकर्षण करते हैं। जो ग्रह इनके वामभाग में हैं उन को बायें हाथ से एवं जो इन के दाहिने ओर हैं, उन को दाहिने हाथ से अपनी ओर खींचते हैं ॥२॥ प्रवह नामक वायु भी सब ग्रहों को अपने उच्च की ओर खींचता है। इसलिये ग्रहगण पूर्व और पश्चिम की ओर आकर्षित होते हैं और इसी कारण ग्रहों की अनेक प्रकार की गति होती है ॥३॥ ये उच्चादि यदि ग्रहस्थान से पूर्व छः राशि अर्थात् मेषादि छः राशियों में होने से ग्रहों को पूर्व की ओर एवं दूसरे आधे में अर्थात् तुलादि छः राशियों में रहने से पश्चिम की ओर आकर्षण करते हैं ॥४॥ ग्रहगण अपने उच्च से आकर्षित होकर जितने अंशादिक पूर्व की ओर जाते हैं उतने अंशादि उन के मध्यस्थान में जोड़ना पड़ता है और इसी प्रकार जितना अंशादि पश्चिम में आकर्षित होते हैं उतने अंशादि ग्रहमध्य स्थान से घटाना चाहिये ॥५॥ इसी प्रकार पात (राहु) अपनी शीघ्रता से चन्द्रादि ग्रह को रविमार्ग में चन्द्रमा के शेष क्रान्ति स्थान से उत्तर या दक्षिण की ओर ले जाता है। इस प्रकार

जिस ग्रह को जितना विक्षेप करता है उस ग्रह का उतना उत्तर या दक्षिण विक्षेप होता है ॥६॥

विवरण—चन्द्रमा की कक्षा जिस स्थान में क्रान्ति वृत्त को काट कर ऊपर चढ़ती है, उसको राहु कहते हैं और ६ राशि भोग कर दूसरे स्थान में पुनः क्रान्ति वृत्त को काटकर दक्षिण की ओर जाती है, उसको केतु कहते हैं ॥६॥

वि० श्लो० १—६—ग्रहों की जो उच्च, पात आदि की गणना का वर्णन है वह केवल गणित की सुगमता के लिये है, वस्तुतः ग्रहों से भिन्न पातादि कोई जीव वा ग्रह की नाईं अपर ग्रह नहीं हैं, जैसा कि भास्कराचार्य ने लिखा है—

ग्रहः पूर्वगत्या प्रतिमण्डलेनैव भ्रमति ।
यदेतन्नीचोच्चवृत्तं तत्प्राज्ञैर्गणकैः फलार्थं कल्पितम् ।
(सि० शिरोमणि गोलाध्याय छेद्यकाधिकार)

अर्थात्—वस्तुतः ग्रहगण पूर्व गति से प्रति वृत्त में भ्रमण करते हैं। ये जो नीच एवं उच्च वृत्त हैं, केवल गणकों ने गणित की सुगमता के लिये कल्पना किये हैं। इसी प्रकार ब्रह्मगुप्त ने भी अपने "ब्रह्मसिद्धान्त" में लिखा है कि—

प्रतिपादनार्थमुच्चाः प्रकल्पिताः ।
ग्रहगतेस्तथा पाताः ॥२६॥ गोलाध्याये ।

अर्थात्—ग्रहों की स्पष्ट गति (True motion) प्रतिपादन के लिये "पात" की कल्पना की गई है।

उत्तराभिमुखं पातो विक्षिपत्यपरार्धगः ।
ग्रहं प्राग्भगणार्धस्थो याम्यायामपकर्षति ॥७॥
बुधभार्गवयोः शीघ्रात्तद्वत्पातो यदा स्थितः ।
तच्छीघ्राकर्षणात्तौ तु विक्षिप्येते यथोक्तवत् ॥८॥
महत्त्वान्मण्डलस्यार्कः स्वल्पमेवापकृष्यते ।
मण्डलाल्पतया चन्द्रस्ततो बह्वपकृष्यते ॥९॥
भौमादयोऽल्पमूर्तित्वाच्छीघ्रमन्दोच्चसंज्ञकैः ।
दैवतैरपकृष्यन्ते सुदूरमतिवेगिताः ॥१०॥
अतो धनर्णं सुमहत् तेषां गतिवशाद् भवेत् ।
आकृष्यमाणास्तैरेवं व्योम्नि यान्त्यनिलाहताः ॥११॥

भाषानुवाद—यदि पात यदि पश्चिम विभागस्थ अर्थात् तुलादि छः राशि के अन्तर्गत होता है तो ग्रहों को उत्तर की ओर विक्षेप करता है। एवं यह पात यदि

ग्रहों के पूर्व भागस्थ अर्थात् मेषादि छः राशि के मध्यवर्त्ती होता है तो ग्रहादि . . को दक्षिण की ओर विक्षेप करता है ॥७॥ परन्तु जब बुध और शुक्र के पात उन के शीघ्रोच्च से समान गति और समान अन्तर होता है उस समय उनके शीघ्रोच्च के आकर्षण द्वारा पूर्वोक्त रीति से विक्षेप को प्राप्त होते हैं ॥८॥ सूर्य्य के मण्डल की गुरुता के कारण उसके उच्च का आकर्षण वहुत थोड़ा होता है। एवं चन्द्रमा के मण्डल लघु होने के कारण सूर्य की अपेक्षा इस को उच्च वहुत आकर्षण करता है ॥९॥ मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि इन पांच ग्रहों के मण्डल छोटे होने से इनको शीघ्रोच्च और मन्दोच्च वहुत [illegible] से आकर्षण करते हैं ॥१०॥ पूर्वोक्त कारण से ग्रहों के मन्दोच्च के आकर्षण से जो गति होती है उसका योगफल या वियोगफल अधिक होता है। इस प्रकार ग्रहगण शीघ्रोच्च और मन्दोच्च से आकर्षित होकर और प्रवह वायु से ताडयमान होकर आकाशमार्ग में भ्रमण करते हैं॥११॥

वक्रानुवक्रा कुटिला मन्दा मन्दतरा समा।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥१२॥
तत्रातिशीघ्रा शीघ्राख्या मन्दा मन्दतरा समा।
ऋज्वीति पञ्चधा ज्ञेया या वक्रा सानुवक्रगा ॥१३॥
तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः।
प्रयान्ति तत्प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात् ॥१४॥

भाषानुवाद—ग्रहों की गति ८ प्रकार की है, वक्रा १, अतिवक्रा २, कुटिला ३, मन्दा ४, मन्दतरा ५, समा ६, शीघ्रतरा ७, और शीघ्रा ८ ॥१२॥ पूर्वोक्त ८ प्रकार की गतियों में से अतिशीघ्रा, शीघ्रा, मन्दा, मन्दतरा और समा ये ५ सरला (सीधी) गति हैं और वक्रा, अतिवक्रा और कुटिला, ये ३ वक्रगति हैं ॥१३॥ ग्रहगण प्रतिदिन गमन करते हैं। उनको गति किसी दिन शीघ्र, कभी अति शीघ्र होती हैं। सुतरां उनकी गति अनेक प्रकार की हो जाया करती है। इस समय यही ग्रहगणों की गति स्थिति निरूपण के लिये स्फुट प्रकरण कहूंगा। इस स्फुट करने से जो निश्चय होगा, वही देखने पर भी जाना जावेगा ॥१४॥

राशिलिप्ताष्टमो भागः प्रथमं ज्यार्द्धमुच्यते।
तत्तद्विभक्तलब्धोनमिश्रितं तद् द्वितीयकम् ॥१५॥
आद्येनैवं क्रमात्पिण्डान् भक्त्वा लब्धोनसंयुताः।
खण्डकाः स्युश्चतुर्विंशज्ज्यार्धपिण्डाः क्रमादमी ॥१६॥
तत्त्वाश्विनोऽङ्काब्धिकृता रूपभूमिधरर्तवः।
खाङ्काष्टौ पञ्चशून्येशा वाणरूपगुणेन्दवः ॥१७॥
शून्यलोचनपञ्चैकाश्छिद्ररूपमुनीन्दवः।

वियच्चन्द्रातिधृतयो गुणरन्ध्राम्बराश्विनः ॥१८॥
मुनिषड्यमनेत्राणि चन्द्राग्निकृतदस्रकाः ।
पञ्चाष्टविषयाक्षीणि कुञ्जराश्विनगाश्विनः ॥१९॥
रन्ध्रपञ्चाष्टकयमा वस्वद्र्यङ्कयमास्तथा ।
कृताष्टशून्यज्वलना नगाद्रिशशिवह्नयः ॥२०॥
षट्पञ्चलोचनगुणाश्चन्द्रनेत्राग्निवह्नयः ।
यमाद्रिवह्निज्वलना रन्ध्रशून्यार्णवाग्नयः ॥२१॥
रूपाग्निसागरगुणा वस्वग्निकृतवह्नयः ।
प्रोज्झ्योत्क्रमेण व्यासार्द्धादुत्क्रमज्यार्धपिण्डकाः ॥२२॥

भाषानु०—एक राशि में १८०० कला होती हैं, उसके अष्टमभाग में २२५ कला, इसी को इस राशि का प्रथम ज्यार्द्ध कहते हैं। इस प्रथम ज्यार्द्ध २२५ को २२५ से भाग करने पर जो १ भागफल होता है इस १ को प्रथम ज्यार्द्ध २२५ से घटाने पर शेष २२४ होगा। इस २२४ को प्रथम ज्यार्द्ध २२५ के साथ जोड़ देने से योगफल ४४९ होगा। यही द्वितीय ज्यार्द्ध है ॥१५॥ उक्त द्वितीय ज्यार्द्ध ४४९ को प्रथम ज्यार्द्ध से भाग करके भागफल २ लेकर यह २ इसके साथ पूर्व द्वितीय ज्यार्द्ध निष्कासन भागफल से जो १ मिला है, जोड़ने से ३ होगा। इस ३ को उक्त भाजक २२५ से घटाने पर २२२ बचेगा, इसी २२२ को द्वितीय ज्यार्द्ध ४४९ के साथ जोड़ने से ६७१ होगा, यही तृतीय ज्यार्द्ध है। इसी प्रकार क्रमशः २४ ज्यार्द्ध गणना करनी होगी ॥१६॥ किसी वृत्त के चतुर्थांश जिसका व्यासार्द्ध ३४३८ उसके २४ अंश की ज्यार्द्ध निम्नलिखित होंगी ॥

	अंश वा	कला	ज्या
प्रथम कोण	३$\frac{3}{4}$	२२५	२२५
द्वितीय ,,	७$\frac{1}{2}$	४५०	४४९
तृतीय ,,	११$\frac{1}{4}$	६७५	६७१
चतुर्थ ,,	१५	९००	८९०
पञ्चम ,,	१८$\frac{3}{4}$	११२५	११०५
छठा ,,	२२$\frac{1}{2}$	१३५०	१३१५
सप्तम ,,	२६$\frac{1}{4}$	१५७५	१५२०
अष्टम ,,	३०	१८००	१७१९
नवम ,,	३३$\frac{3}{4}$	२०२५	१९१०
दशम ,,	३७$\frac{1}{2}$	२२५०	२०९३
एकादशकोण	४१$\frac{1}{4}$	२४७५	२२६७
द्वादश ,,	४५	२७००	२४३१
१३ वां ,,	४८॥।	२४७५	२५८५
१४ वां ,,	५२$\frac{1}{2}$	२७००	२७२८
१५ वां ,,	५६$\frac{1}{4}$	२९२५	२८५९
१६ वां ,,	६०	३१५०	२९७८
१७ वां ,,	६३॥।	३३७५	३०८४
१८ वां ,,	६७$\frac{1}{2}$	३६००	३१७७
१९ वां ,,	७१$\frac{1}{4}$	३८२५	३२५६
२० वां ,,	७५	४०५०	३३२१

अंश वा	कला	ज्या	अंश वा	कला	ज्या
२१ वां कोण ७८॥।	४७२५	३३७२	२३ वां कोण ८६$\frac{3}{4}$	५१७५	३४३१
२२ वां ,, ८२$\frac{1}{2}$	४९५०	३४०९	२४ वां ,, ९०	५४००	३४३८

पूर्वोक्त ज्यार्द्ध परिमाण सबको उलटे प्रकार से ३४३८ व्यासार्द्ध से पृथक् पृथक् घटाने पर जो अङ्क घटाने से बचेंगे उनको उत्क्रमज्या कहते हैं। प्रति २४ अंश में इस प्रकार उत्क्रमज्या हो जाती हैं। श्लोक १६—२२ श्लोक तक ॥

मुनयो रन्ध्रयमला रसषट्का मुनीश्वराः ।
द्व्यष्टैका रूप ड्दस्रा सागरार्थहुताशनाः ॥२३॥
खर्तु वेदा नवाद्रयर्था दिङ्नगास्त्र्यर्थकुञ्चराः ।
नगाम्बरवियच्चन्द्रा रूपभूधरशङ्कराः ॥२४॥
शरार्णवहुताशैका भुजङ्गाक्षिशरेन्दवः ।
नवरूपमहीध्रैका गजैकाङ्कनिशाकराः ॥२५॥
गुणाश्विरूपनेत्राणि पावकाग्निगुणाश्विनः ।
वस्वर्णवार्थयमलास्तुरङ्गर्तु नगाश्विनः ॥२६॥
नवाष्टनवनेत्राणि पावकैकयमाग्नयः ।
गजाग्निसागरगुणा उत्क्रमज्यार्धपिण्डकाः ॥२७॥

भाषानुवाद—अब क्रम से १ से २४ तक की उत्क्रमज्या और अपक्रमज्या नीचे लिखी जाती हैं ॥

संख्या	उत्क्रदज्या	अपक्रमज्या	संख्या	उत्क्रमज्या	अपक्रमज्या
१	७	७१	१३	११७१	१०५०
२	२९	१८२	१४	१३४५	११०७
३	६६	२७३	१५	१५२८	११६२
४	११७	३६२	१६	१७१९	१२१०
५	१८२	४४९	१७	१९१८	१२५३
६	२६१	५३५	१८	२१२३	१२९१
७	३५४	६१८	१९	२३३३	१३२३
८	४६०	६९९	२०	२५४८	१३४९
९	५७९	७७६	२१	२७६७	१३७०
१०	७१०	८५०	२२	२९८९	१३८८
११	८५३	९२१	२३	३२६३	१३९५
१२	१००७	९८८	२४	३४३८	१३९७

परमापक्रमज्या तु सप्तरन्ध्रगुणेन्दवः ।
तद्गुणा ज्या त्रिजीवाप्ता तच्चापं क्रान्तिरुच्यते ॥२८॥
ग्रहं संशोध्य मन्दोच्चात् तथा शीघ्राद्विशोध्य च ।
शेषं केन्द्रपदं तस्माद् भुजज्या कोटिरेव च ॥२९॥
गताद् भुजज्या विषमे गम्यात् कोटिः पदे भवेत् ।
युग्मे तु गम्याद् बाहुज्या कोटिज्या सु गताद् भवेत् ॥३०॥
लिप्तास्तत्त्वयमैर्भक्ता लब्धं ज्यापिण्डकं गतम् ।
गतगम्यान्तराभ्यस्तं विभजेत् तत्त्वलोचनैः ॥३१॥
तदवाप्तफलं योज्यं ज्यापिण्डे गतसंज्ञके ।
स्यात् क्रमज्याविधिरयमुत्क्रमज्यास्वपि स्मृतः ॥३२॥

भाषानुवाद—ग्रहों की परम क्रान्तिज्या १३९७। जब ग्रहों की मध्यक्रान्ति लानी हो तो अभीष्टज्या को परम क्रान्तिज्या १३९७ से गुणा कर—गुणनफल को व्यासार्द्ध ३४३८ से भाग देवे। जो भागफल हो वह पूर्वोक्त जो ज्यार्द्ध संख्या के साथ समान, इस ज्यार्द्धाङ्क में धनु होगी वही धनु ग्रह की मध्य क्रान्ति होगी ॥२८॥ ग्रह के मन्दोच्च से उसी ग्रह का मध्य घटाने से जो शेष रहे उस को मन्दकेन्द्र कहते हैं। एवं मन्द केन्द्र और मध्य को शीघ्रोच्च से घटाने पर जो बचे उसको शीघ्र केन्द्र कहते हैं। इसी शीघ्र केन्द्र और मन्द केन्द्र से भुजज्या और कोटिज्या निरूपित होंगी। १२ राशि के वृत्त में किसी चतुर्थांश में यह केन्द्र होता है, उस को (केन्द्र) जानकर इस केन्द्र की भुजज्या और कोटिज्या स्थिर करे ॥२९॥ १२ राशि के वृत्त के विषम खण्ड में (अर्थात् मेष, वृष, मिथुन प्रथम—एवं तुला, वृश्चिक, धनु तृतीय—इन की विषम पद संज्ञा है) अर्थात् राशि चक्र के प्रथम और तृतीय भाग में धनु का जितना भाग वीत गया है उसको भुजज्या और गम्य अर्थात् इस खण्ड के पूरा होने को जितना भाग अवशिष्ट (वाकी) है उसको कोटिज्या कहते हैं। और सम मण्डल (अर्थात् कर्क, सिंह, कन्या द्वितीय—एवं मकर, कुम्भ, मीन चतुर्थ भाग—इन की युग्म वा सम पद संज्ञा है) अर्थात् द्वितीय, चतुर्थ भाग में धनु का गम्य अर्थात् इस खण्ड के पूरा होने में जितने भाग अवशिष्ट हैं उसको भुजज्या, एवं इस धनु के जितना भाग पूरा हुआ है उसको कोटिज्या कहते हैं ॥३०॥ अभीष्ट अंश को कला बनाकर २२५ से भाग देवे। इस भागफल संख्या में पूर्व कथित जो ज्या के साथ समान होगा, उस का नाम गतज्या। इस गत ज्या के पीछे जो ज्या लिखी है, उस को गम्यज्या कहते हैं। इस गत और गम्य ज्या को घटाने से जो बचेगा, उसके द्वारा पूर्व भाग के अवशिष्टाङ्क से गुणा कर गुणनफल में २२५ का भाग देवे। इस भाग-फल को उक्त गतज्या के साथ जोड़ देवे। योगफल अभीष्ट ज्या होगी। इसी नियम

से अभीष्ट अंश की क्रमज्या निकालनी चाहिये। एवं इसी प्रक्रिया से अवशिष्ट अंश की व्युत्क्रमज्या भी निरूपित होगी ॥३१,३२॥

ज्यां प्रोज्झ्य शेषं तत्त्वाश्विहतं तद्विवरोद्धृतम् ।
संख्यातत्त्वाश्विसंवर्गे संयोज्य धनुरुच्यते ॥३३॥

रवेर्मन्दपरिध्यंशा मनवः शीतगो रदाः ।
युग्मान्ते विषमान्ते च नखलिप्तोनितास्तयोः ॥३४॥

युग्मान्तेऽर्थाद्रयः खाग्नी सुराः सूर्या नवार्णवाः ।
ओजे द्व्यगा वसुयमा रदा रुद्रा गजाब्धयः ॥३५॥

कुजादीनामतः शैघ्र्या युग्मान्तेऽर्थाग्निदस्रकाः ।
गुणाग्निचन्द्राः खनगा द्विरसाक्षीणि गोऽग्नयः ॥३६॥

ओजान्ते द्वित्रियमला द्विविश्वे यमपर्वताः ।
खर्त्तुदस्रा वियद्वेदाः शीघ्रकर्मणि कीर्त्तिताः ॥३७॥

भाषानुवाद—जिस ज्या पिण्ड का धनु स्थिर करना हो उस ज्या से पूर्ववर्ती अशुद्ध ज्या को घटावे। जो शेष रहे, उस को २२५ से गुणन करे। पुनः उस गुणन फल को शुद्ध और अशुद्ध दोनों ज्याओं के अन्तर (घटाने से जो हो) से भाग देवें। पुनः जितनी ज्या अभीष्ट हो उतनी संख्या और २२५ इन्हीं दोनों के गुणनफल में पूर्वोक्त भागफल जोड़ने से जो हो वही अभीष्ट ज्या पिण्ड की धनु होगी ॥३३॥ युग्म खण्ड में सूर्य की मन्द परिधि १४ अंश और चन्द्रमा की मन्द परिधि ३२ अंश। किन्तु विषमखण्ड में पूर्वोक्त दोनों मन्द परिधि बीस २ कला न्यून होंगी। अर्थात् विषमखण्ड में सूर्य की मन्द परिधि १३ अंश ४० कला और चन्द्रमा की मन्द परिधि ३१ अंश ४० कला ॥३४॥ युग्म खण्ड में मङ्गल की मन्द परिधि ७५ अंश, बुध की म० प० ३० अंश, बृहस्पति की म० प० ३३ अंश, शुक्र की म० प० १२ अंश और शनि की म० प० ४९ अंश और विषम खण्ड में मङ्गल की मन्द परिधि ७२ अंश, बुध की म० प० २८ अंश, वृहस्पति की म० प० ३२ अंश, शुक्र की म० प० ११ अंश, एवं शनि की म० प० ४८ अंश ॥३५॥ अब इस समय मङ्गलादि ग्रहों की शीघ्रपरिधि का परिमाण कहा जाता है। युग्म खण्ड में मङ्गल की शीघ्रपरिधि २३५ अंश, बुध की शी० प० १३३ अंश, बृहस्पति की शी० प० ७० अंश, शुक्र की शीघ्रपरिधि २६२ अंश, एवं शनि की शीघ्रपरिधि ३९ अंश ॥३६॥ विषम खण्ड में मङ्गल की शीघ्रपरिधि २३२ अंश, बुध की शीघ्रपरिधि १३२ अंश, बृहस्पति की शी० प० ७२ अंश, शुक्र की शी० प० २६० अंश, एवं शनि की शी० प० ४० अंश ॥३७॥

ओजयुग्मान्तरगुणा भुजज्या त्रिज्ययोद्धृता ।
युग्मे वृत्तें धनर्णं स्यादोजादूनाधिके स्फुटम् ॥३८॥
तद्गुणे भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते ।
तद्भुजज्याफलधनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलम् ॥३९॥

भाषानुवाद—जिस ग्रह को शुद्धपरिधि लानी होवे—उस ग्रह के पूर्वोक्त युग्मखण्ड और विषम की दोनों मन्दपरिधि को आपस में घटाकर उस अन्तरफल को अभीष्टकेन्द्र की भुजज्या से गुणन करे, एवं गुणनफल में व्यासार्द्ध से भाग देवे, अनन्तर इस भागफल को पूर्वोक्त युग्मखण्ड के मन्दपरिधि से यदि न्यून हो तो उस को जोड़े, एवं यदि अधिक हो तो घटावे। यही योग या वियोग फल उस ग्रह की शुद्ध परिधि होगी ॥३८॥ मान्द्य और शीघ्र केन्द्र की भुजज्या और कोटिज्या को अपने अपने स्फुट परिधि से अलग अलग गुणन करके गुणन फल को ३६० से भाग देवे, दोनों भागफल, भुजपरिधिफल और कोटिफल होगा। पुनः यह देखना चाहिये कि जो ज्या इस भुजफल के समान है उसी ज्या की धनु में जितनी कला हैं, वही मन्दफल है ॥३९॥

शैघ्र्यं कोटिफलं केन्द्रे मकरादौ धनं स्मृतम् ।
संशोध्यं तु त्रिजीवायां कर्कादौ कोटिजं फलम् ॥४०॥
तद्बाहुफलवर्गैक्यान्मूलं कर्णश्चलाभिधः ।
त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चलकर्णविभाजितम् ॥४१॥
लब्धस्य चापं लिप्तादि फलं शैघ्र्यमिदं स्मृतम् ।
एतदाद्ये कुजादीनां चतुर्थे चैव कर्मणि ॥४२॥
मान्द्यं कर्मैकमर्केन्द्वोर्भौमादीनामथोच्यते ।
शैघ्र्यं मान्द्यं पुनर्मान्द्यं शैघ्र्यञ्चत्वार्यनुक्रमात् ॥४३॥
मध्ये शीघ्रफलस्यार्द्धं मान्द्यमर्धफलं तथा ।
मध्यग्रहे मन्दफलं सकलं शैघ्र्यमेव च ॥४४॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्त प्रक्रियानुसार शीघ्र केन्द्र से शीघ्र कोटिफल स्थिर करने से जो अङ्क होगा वह केन्द्र यदि ३ राशि से न्यून और ६ राशि से अधिक हो तो व्यासार्द्ध (३४३८) के साथ यह कोटिफल योग करे और यदि केन्द्र ३ राशि से अधिक किंवा ९ राशि से न्यून हो तो यह कोटिफल व्यासार्द्ध से घटावे (तो स्फुट कोटि निकल आवेगी) ॥४०॥ इस योग वा वियोगफल करे वर्ग को द्वितीय भुजफल के वर्ग के साथ जोड़े, पुनः इस योगफल का वर्गमूल निकाले। वर्गमूल संख्या ही शीघ्रकर्ण होगी। तदनन्तर द्वितीय भुजफल के अङ्क को (श्लोक ३९ में कहा गया

है) व्यासार्द्ध से गुणन कर गुणनफल में उक्त शीघ्रकर्ण की संख्या का भाग देवे ॥४१॥ इस शीघ्र कर्ण से भाग कर जो भागफल हो, उस ज्या के अनुसार धनु स्थिर करने पर जो हो वही ग्रहों का कलादि शैघ्र्यफल होगा। मङ्गलादि ५ ग्रहों के स्फुट साधन समय प्रथम संस्कार में और चतुर्थ संस्कार में इस शीघ्रफल की आवश्यकता होती है ॥४२॥ सूर्य और चन्द्रमा का केवल एक ही वार मान्द्यफल संस्कार करने से इनका स्फुट स्थिर होगा, किन्तु मङ्गलादि पांच ग्रहों का यथाक्रम से शीघ्र फल पीछे मान्द्यफल अनन्तर पुनर्वार मान्द्यफल एवं पुनर्वारशीघ्रफल संस्कार करने से उनका स्फुट होगा ॥४३॥ पहिले ग्रहों के मध्य में शीघ्रफल का अर्द्धांश संस्कार करना, संस्कार करने पर जो फल मिले उस के साथ मान्द्यफल का अर्द्धांश संस्कार करना चाहिये अर्थात् जो मान्द्य फल उल्लिखित शीघ्र फलार्द्ध संस्कृत मध्य से स्थिर हुआ है, वही संस्कार करना होगा, उस के पश्चात् पुनः ग्रहों के मध्य में मान्द्यफल का समस्त भाग (जो शीघ्र फलार्द्ध और मान्द्य फलार्द्ध संस्कृत मध्य द्वारा जाना गया है) संस्कार किया जावेगा। इसी का नाम मन्द स्पष्ट है, पुनः इस मन्द स्पष्ट द्वारा जो शीघ्रफल स्थिर होगा वही शीघ्रफल का सम्पूर्ण भाग मन्द स्पष्ट में संस्कार करना चाहिये। इस प्रकार संस्कार करने से ग्रहों का स्फुट स्थिर होगा ॥४४॥

अजादिकेन्द्रे सर्वेषां शैघ्र्ये मान्द्ये च कर्मणि।
धनं ग्रहाणां लिप्तादि तुलादावृणमेव च ॥४५॥
अर्कबाहुफलाभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता।
भचक्रकलिकाभिस्तु लिप्ताः कार्या ग्रहेऽर्कवत् ॥४६॥
स्वमन्दभुक्तिसंशुद्धा मध्यभुक्तिर्निशापतेः।
दोर्ज्यान्तरादिकं कृत्वा भुक्तावृणधनं भवेत् ॥४७॥
ग्रहभुक्तेः फलं कार्य्यं ग्रहवन्मन्दकर्मणि।
दोर्ज्यान्तरगुणा भुक्तिस्तत्त्वनेत्रोद्धृता पुनः ॥४८॥

भाषानुवाद—सब ही ग्रहों के शीघ्रकेन्द्र वा मन्दकेन्द्र मेषादि छः राशि के अन्तर्वर्त्ती होने से उनकी कलादि शीघ्र फलाङ्क वा मन्दफलाङ्क धन अर्थात् जोड़ना होगा और तुलादि छः राशि के अन्तर्वर्त्ती होने से ये ही कलादिफल सकल ऋण अर्थात् घटाना पड़ेगा ॥४५॥ [1]भुजान्तर संस्कार ग्रह के दैनिक स्फुट गति संख्या को

१. टिप्पणी—लङ्का में यथार्थ मध्यरात्रि स्फुट गणना के लिये अहर्गण निरूपण पूर्वक जो ग्रहस्फुट स्थिर किया जाता है उसी ग्रहस्फुट में यह भुजान्तर संस्कार करना पड़ता है।

सूर्य के मन्द फल के कलाङ्क से गुणा कर गुणनफल के अङ्क को राशि चक्र के २१६०० कला द्वारा भाग करने से जो भाग फल मिले उसके कलादि की अङ्कसंख्या जिस प्रकार सूर्य का मन्दफल जोड़ा या घटाया जाता है उसी प्रकार ग्रह के स्फुट में जोड़ना या घटाना पड़ेगा। इस प्रकार लङ्का के मध्यरात्रि का स्फुट निर्णीत होगा। ग्रहस्थान में जो जोड़ने वा घटाने का उल्लेख हुआ है उस को लङ्का के मध्य-रात्रि के अहर्गण से ग्रह का जो मध्य निरूपित होता है उससे जानना चाहिये। चन्द्रमा की दैनिकगति के अङ्क से चन्द्रमा के मन्दोच्च के दैनिकगति के अङ्क घटाने से जो अङ्क अवशिष्ट रहे (वही बचा हुआ द्वारा चन्द्रमा के मन्दोच्च से गति का परि-माण जाना जावेगा) इस अवशिष्ट अङ्क द्वारा पश्चात् लिखित नियमानुसार चन्द्रमा का मन्दफल निरूपण करके चन्द्रमा के दैनिकगति के अङ्क साथ घटाने वा जोड़ने से चन्द्रमा की यथार्थ गति निरूपित होगी ॥४६,४७॥ मन्द फल संस्कार में जिस प्रणाली से ग्रह का मन्दफल निर्णीत होता है, उसी प्रकार ग्रह की दैनिकगति से ग्रह का मन्द-गतिफल साधन करना चाहिये। ग्रह के मन्दकेन्द्र की ज्या निरूपण करने के समय जो "गत" और "गम्य" ज्या निर्णीत हुआ है, वही दोनों ज्या के परस्पर घटाने से जो बचे उसके द्वारा ग्रह की दैनिकभुक्ति के अङ्क को गुणाकर गुणनफल को २२५ से भाग करे, पुनः भागफल को अपने मन्दपरिधि द्वारा गुणन करे ॥४८॥

स्वमन्दपरिधिक्षुण्णा भगणांशोद्धृताः कलाः।
कर्कादौ तु धनं तत्र मकरादावृणं स्मृतम् ॥४९॥
मन्दस्फुटीकृतां भुक्तिं प्रोज्झ्य शीघ्रोच्चभुक्तितः।
तच्छेषं विवरेणाथ हन्यात् त्रिज्यान्त्यकर्णयोः ॥५०॥
चलकर्णहृतं भुक्तौ कर्णे त्रिज्याधिके धनम्।
ऋणमूनेऽधिके प्रोज्झ्य शेषं वक्रगतिर्भवेत् ॥५१॥
दूरस्थितः स्वशीघ्रोच्चाद् ग्रहः शिथिलरश्मिभिः।
सव्येतराकृष्टतनुर्भवेद् वक्रगतिस्तदा ॥५२॥
कृतर्तुचन्द्रैर्वेदेन्द्रैः शून्यत्र्येकैर्गुणाष्टभिः।
शररुद्रैश्चतुर्थेषु केन्द्रांशैर्भूसुतादयः ॥५३॥

भाषानुवादः—पूर्वोक्त गुणनफल को ३६० से भाग देवे, भागफल जो कलादि मिले (उसी को मन्दगतिफल कहते हैं) उसको ग्रह की दैनिक मध्यगति के अङ्क के साथ जोड़े या घटावे। यदि मन्दकेन्द्र कर्कादि छः राशि के अन्तर्वर्ती हो तो जोड़े, एवं मकरादि छः राशि के अन्तर्वर्ती हो तो घटावे तो सूर्य और चन्द्रमा की दैनिकगति और मङ्गलादि अन्यान्य ग्रह की मन्द स्पष्ट गति साधित होगी ॥४९॥ पूर्वोक्त मन्द स्पष्टगति के अङ्क को दैनिक शीघ्रोच्च गति के अङ्क से घटाकर बचे

हुए अङ्क को व्यासार्द्ध और द्वितीय शीघ्रकर्ण इन दोनों के अन्तराङ्क (घटाकर जो बचे) से गुणा कर गुणनफल को इसी शीघ्रकर्ण की अङ्कसंख्या से भाग करे। यदि कर्ण व्यासार्द्ध की अपेक्षा अधिक होवे तो उक्त भागफल को मन्द स्पष्ट गति के अङ्क के साथ जोड़े। एवं कर्णव्यासार्द्ध की अपेक्षा न्यून होने से घटावे, किन्तु यदि भागफल मन्द स्पष्ट गति की अपेक्षा अधिक हो अर्थात् घट न सकें तो भागफल से मन्द स्पष्ट गति के अङ्क को घटावे, घटाने से जो शेष हो उसी को ग्रह की वक्रगति कहते हैं ।।५०।५१।। जिस समय कोई ग्रह अपने शीघ्रोच्च से दूर में अर्थात् ३ राशि अपेक्षा अधिक दूर में ही रहता है, उस समय उसकी रश्मि शिथिल हो जाने से उच्च वाईं या दाहिनी ओर उस को आकर्षण करता है अर्थात् ग्रह उसके वाईं ओर होने से दक्षिण ओर को, एवं दाहिनी ओर होने से उसको बाईं ओर खींचता है। इसी कारण ग्रहों की वक्रगति होती है ।।५२।। ग्रहस्फुट गणना के समय चतुर्थ संकार का केन्द्रांश १६४ होने से मङ्गल का वक्र गमन आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार १४४ अंश होने से बुध, १३० अंश होने से बृहस्पति, १६३ अंश होने से शुक्र, एवं ११५ अंश होने से शनि का वक्रगमन आरम्भ होता हैं ।।५३।।

भवन्ति वक्रिणस्तैस्तु स्वैः स्वैश्चक्राद्विशोधितैः।
अवशिष्टांशतुल्यैः स्वैः केन्द्रै रुज्झन्ति वक्रताम् ।।५४।।

महत्त्वाच्छीघ्रपरिधेः सप्तमे भृगुभूसुतौ।
अष्टमे जीवशशिजौ नवमे तु शनैश्चरः ।।५५।।

कुजार्किगुरुपातानां ग्रहवच्छीघ्रजं फलम्।
वामं तृतीयकं मान्दं बुधभार्गवयोः फलम् ।।५६।।

स्वपातोनाद् ग्रहाज्जीवा शीघ्राद्भृगुजसौम्ययोः।
विक्षेपघ्न्यन्त्यकर्णाप्ता विक्षेपस्त्रिज्यया विधोः ।।५७।।

भाषानुवाद—उल्लिखित सब अंशों को अलग अलग ३६० अंश से घटाने से जो बचे उस उस अंश में उस उस ग्रह का वक्र गमन छुटता है, अर्थात् ३६० अंश से १६४ अंश घटाने पर १९६ अंश बचा, यदि यह १९६ अंश उक्त केन्द्रांश के समान हो तो तत्काल ही मङ्गल की वक्रता छुटेगी। इसी प्रकार २१६ अंश होने से बुध, २३० अंश से बृहस्पति, १९७ अंश में शुक्र एवं २४५ अंश में शनि वक्रता छोड़ेगा ।।५४।। शुक्र और मङ्गल की शीघ्रपरिधि बड़ी है, इसलिये शुक्र और मङ्गल की शीघ्र केन्द्र ७ राशि के समान होने से इन का वक्रत्व छुटेगा और बृहस्पति और बुध का यह शीघ्रकेन्द्र ८ राशि के एवं शनि के शीघ्रकेन्द्र—इसी प्रकार ९ राशि के समान होने से उस समय ग्रहों की वक्रता शेष होगी ।।५५।। स्फुट गणना काल में ग्रहों के चतुर्थ संस्कार शीघ्रकेन्द्र फल को जिस प्रकार उनके मध्य में योग या वियोग

किया जाता है, उसी प्रकार उनके अपने अपने पात में इस शीघ्र फल को जोड़े या घटावे और स्फुट के गणना के समय जिस प्रकार बुध और शुक्र के तृतीय मान्द्यफल को उन के मध्य में जोड़ा वा घटाया जाता है, उसके ठीक विपरीत (उल्टा) प्रकार से उनके पात में यह तृतीय मान्द्यफल योग वा वियोग अर्थात् स्फुट गणना समय यदि तृतीय मान्द्यफल जोड़ा जावे तो उन के पात से तृतीय मान्द्यफल घटावे, एवं यदि घटाया जावे तो जोड़ना होगा ॥५६॥ मङ्गल, बृहस्पति, शनि के स्फुट से एवं बुध और चन्द्रमा के शीघ्रोच्च से उनके अपने अपने पूर्व घटाये हुये पातको वियोग करे, घटाने से जो शेष रहे उसकी भुजज्या को उक्त ग्रहों के परम विक्षेप अङ्क से (जो अ० १ श्लोक ७० में कहा गया है) गुणा कर गुणनफल को चतुर्थ शीघ्रकरण के अङ्क से भाग देवे। जो भागफल मिले वही मङ्गल, बृहस्पति, शनि, बुध और शुक्र का विक्षेप है, किन्तु चन्द्रमा के विक्षेप साधन काल में चतुर्थ शीघ्रकर्ण स्थल में व्यासार्द्ध से भाग करना होता है। वही भागफल चन्द्रमा का विक्षेप होगा ॥५७॥

विक्षेपापक्रमैकत्वे क्रान्तिर्विक्षेपसंयुता ।
दिग्भेदे वियुता स्पष्टा भास्करस्य यथागता ॥५८॥

ग्रहोदयप्राणहता खखाष्टैकोद्धृता गतिः ।
चक्रासवो लब्धयुताः स्वाहोरात्रासवः स्मृताः ॥५९॥

क्रान्तेः क्रमोत्क्रमज्ये द्वे कृत्वा तत्रोत्क्रमज्यया ।
हीना त्रिज्या दिनव्यासदलं तद्दक्षिणोत्तरम् ॥६०॥

क्रान्तिज्या विषुवद्भाघ्नी क्षितिज्या द्वादशोद्धृता ।
त्रिज्यागुणाहोरात्रार्धकर्णाप्ता चरजासवः ॥६१॥

भाषानुवाद – किसी ग्रह की स्पष्ट क्रान्ति स्थिर करनी हो तो (मेष से कन्या तक ६ राशि उत्तर और तुला से मीन तक ६ राशि दक्षिण) उस ग्रह के विक्षेप और अपक्रम (क्रान्ति) यदि रविमार्ग के एक दिशा में अवस्थित हो तो उसकी मध्य क्रान्ति के साथ विक्षेपाङ्क को जोड़े और एक दिशा में अवस्थित न हो तो मध्य क्रान्ति से विक्षेपाङ्क घटावे। इसी प्रकार योग या वियोग करके जो फल मिले वही उस ग्रह की स्पष्ट क्रान्ति है। परन्तु सूर्य की मध्य क्रान्ति ही उस की स्पष्ट क्रान्ति है ॥५८॥ सायन ग्रह जिस राशि में अवस्थित हो उस राशि के लग्नमान के प्राणाङ्क से उस ग्रह की दैनिक कलादि गति के अङ्क को गुणन करके गुणनफल को १८०० से भाग देवे, भागफल को १२ राशि के लग्नमान के प्राणाङ्क के साथ जोड़ने से जो समष्टि होगी, वही उस ग्रह के अहोरात्र का परिमाण होगा ॥५९॥ पूर्वोक्त अनुसार ग्रह की क्रान्ति का क्रमज्या और उत्क्रमज्या साधन पूर्वक उत्क्रमज्या को व्यासार्द्ध

से घटा कर जो बचे वही महाविषुव रेखा के दक्षिण या उत्तर दैनिक वृत्त का व्यासार्द्ध होगा। इसी को द्युज्या कहते हैं। एवं क्रमज्या को ही क्रान्तिज्या कहते हैं ॥६०॥ उपरोक्त क्रान्तिज्या को विषुव दिन की पलभा से गुणा कर, गुणनफल में १२ का भाग दे। भागफल कुज्या होगी। कुज्या को व्यासार्द्ध से गुणा कर गुणनफल को पूर्व कथित द्युज्या से भाग देवे। भागफल चरज्या होगी। इस चरज्या की कला आदि धनु ही चरार्द्ध का प्राण होगा ॥६१॥

तत्कार्मुकमुदक्क्रान्तौ धनहानी पृथक् स्थिते।
स्वाहोरात्रचतुर्भागे दिनरात्रिदले स्मृते ॥६२॥

याम्यक्रान्तौ विपर्यस्ते द्विगुणे तु दिनक्षपे।
विक्षेपयुक्तोनितया क्रान्त्या भानामपि स्वके ॥६३॥

भभोगोऽष्टशतीलिप्ताः खाश्विशैलास्तथा तिथेः।
ग्रहलिप्ता भभोगाप्ता भानि भुक्त्या दिनादिकम् ॥६४॥
रवीन्दुयोगलिप्ताभ्यो योगाभभोगभाजिताः।
गता गम्याश्च षष्टिघ्न्यो भुक्तियोगाप्तनाडिकाः ॥६५॥

भाषानुवाद—यदि क्रान्ति उत्तरदिग्वर्त्तिनी हो तो अहोरात्र के परिमाण के चतुर्थांश को दो भिन्न स्थानों में रखकर एक स्थानस्थ में उक्त चरार्ध जोड़े और अन्य अङ्क स्थानस्थ अङ्क से घटावे तो यथक्रम दिनार्द्धमान और रात्र्यर्द्धमान निरूपित होग। और यदि यह क्रान्ति दक्षिणदिग्वर्त्तिनी हो तो उक्त चरार्द्ध को यथाक्रम घटावे और जोड़े। इस प्रकार करने से पूर्ववत् दिनार्द्धमान और रात्र्यर्द्धमान स्थिर होवगा। दिनार्द्धमान और रात्र्यर्द्धमान को द्विगुण करने से दिनमान और रात्रिमान होगा। इस प्रकार नाक्षत्रिक दिन के परिमाण को जानने ही से यथाक्रम उन उन की क्रान्ति के अङ्क के साथ उन उन के विक्षेपाङ्क को जोड़े या घटावे ॥६२,६३॥ भभोग अर्थात् नक्षत्र के परिमाण ८०० कला और तिथि या चान्द्रदिन का परिमाण ७२० कला अभीष्ट समय के ग्रह स्फुट की राश्यादि को कला बनाकर पूर्वोक्त भभोग (८००) से भाग करने पर जो भागफल हो वही उस ग्रह के भुक्त नक्षत्र अर्थात् अश्विनी से जितने नक्षत्र वीते हैं, वे अवगत होंगे और जो बचें वही वर्त्तमान नक्षत्र के भुक्तांश हैं। अनन्तर उसी ग्रह के दैनिक गति से भागावशिष्ट अङ्क को भाग करने पर दिनादि जो भागफल होंगे उससे जाना जावेगा कि उतने दिन दण्ड इत्यादि पहिले वह ग्रह वर्त्तमान नक्षत्र में गमन किया है अर्थात् उस नक्षत्र का सञ्चार हुआ है ॥६४॥ अभीष्ट समय में रवि और चन्द्रमा के स्फुट को एकत्र जोड़े और योगफल राश्यादि को कला बनावे और उस कला को भभोग (८००) से भाग करने

पर जो भागफल मिले वही (गत विष्कुम्भादि) "योग" और जो बचे वही वर्त्तमान योग का गत अंश एवं इस बचे हुये अङ्क को ८०० से घटावे, घटाने से जो मिले उस का नाम "गम्य" है। इन दोनों अङ्कों को भिन्न भिन्न ६० से गुणा कर गुणनफल को सूर्य और चन्द्रमा की स्फुट गति की समष्टि से भाग करने से, जो फल हो वह यथाक्रम वर्त्तमान योग के गत एवं गम्य दण्डादि होंगे ॥६५॥

विवरण—विष्कुम्भ, प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति. शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतिपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य शुभ, शुक्ल, ब्रह्मा, इन्द्र, वैधृति, ये ही २७ योग एक आदि क्रम से अश्विनी आदि नक्षत्रों के योग का नाम है।

अर्कोनचन्द्रलिप्तभ्यस्तिथयो भोगभाजिताः ।
गता गम्याश्च षष्टिघ्न्यो नाड्यो भुक्तयचन्तरोद्धृताः ॥६६॥

ध्रुवाणि शकुनिर्नागं तृतीयं तु चतुष्पदम् ।
किंस्तुघ्नं तु चतुर्दश्याः कृष्णायाश्चापरार्धतः ॥६७॥

ववादीनि ततः सप्त चराख्यकरणानि च ।
मासेऽष्टकृत्व एकैकं करणानां प्रवर्तते ॥६८॥

तिथ्यर्द्धभोगं सर्वेषां करणानां प्रकल्पयेत् ।
एषा स्फुटगतिः प्रोक्ता सूर्यादीनां खचारिणाम् ॥६९॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

भाषानुवाद—अभीष्ट समय में चन्द्रमा के स्फुट से सूर्यस्फुट घटाने पर जो राश्यादि बचें उनकी कला बना कर तिथि भोग ७२० से भाग देवे, जो भागफल हो वह गत तिथि वा चान्द्र दिन और जो अवशिष्ट रहे, वह वर्त्तमान तिथि के गत (वीता) अंश, एवं इस अवशिष्ट अङ्क को ७२० से घटाने पर जो बचे वही गम्य वीतने वाला। इस गत और गम्य इन दो अङ्कों को पृथक् पृथक् ६० से गुणन कर गुणनफल को भिन्न भिन्न दो स्थानों में रक्खे। तदनन्तर चन्द्रमा की दैनिक स्फुट गति से सूर्य की दैनिक स्फुट गति घटा कर जो बचे उस से पूर्व स्थापित दोनों अङ्कों को यथाक्रम से भाग देवे, भागफल यथाक्रम से वर्त्तमान तिथि का गत और गम्य दण्डादि अवगत हो सकता है ॥६६॥ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के परार्द्ध से आरम्भ होकर शुक्लपक्ष की परिवा के पूर्वार्द्ध तक क्रमशः शकुनि, नाग, चतुष्पद और किंस्तुघ्न, ये चार स्थिर करण होते हैं॥६७॥ और ववादि ७ चर नामक करण शुक्लपक्ष की परिवा के परार्द्ध से यथाक्रम से होते हैं। ये करण प्रत्येक मास में आठ वार परिवर्त्तित होते हैं ॥६८॥ तिथिमान का

अर्द्धभाग हो प्रत्येक करण का भोग काल है। सूर्यादि की दर्शनोपयोगी गति आदि का वर्णन किया गया ॥६६॥

विवरण—किस तिथि के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध में कौन करण होगा, वह नीचे लिखित चक्र द्वारा भली भांति ज्ञात होगा। चक्र की प्रथम पङ्क्ति में १ से ३० तिथि अर्थात् शुक्लपक्ष की परिवा से अमावास्या तक लिखा है, द्वितीय और पञ्चम पङ्क्ति में इस इस तिथि के पूर्वार्द्ध में जो जो करण होंगें उस उस का अङ्क रक्खा गया है। और तृतीय और छठी पङ्क्ति में इस इस तिथि के परार्द्ध में जो जो करण होंगे उस उस का अङ्क रक्खा गया है। जैसे—प्रथम पांति के एक के अङ्क में शुक्ल पक्ष की परिवा है। इस तिथि के पूर्वार्द्ध होने से द्वितीय पांति के प्रथम में "कि०" द्वारा किंस्तुघ्न करण एवं परार्द्ध होने से तृतीय पांति के अङ्क में वव करण होगा। इस प्रकार क्रमशः गणना करनी होगी इन सम्पूर्ण करणों का नाम—वव, चतुष्पद, नाग किंस्तुघ्न है। ये ही चार करण मिलकर ११ करणें होंगे। निम्नलिखित चक्र में विष्टि के बदले में (०) शून्य और शकुनि के बदले में (श०), चतुष्पद के बदले में (च०), नाग के बदले में (ना०), किंस्तुघ्न के बदले में (कि०), ये सब लिखे हैं॥

करणों क नाम—शकुनि, चतुष्पद, नाग, किंस्तुघ्न, ये चार ध्रुवकरण हैं और वव, वालव, कौलव, तैतिल, गर, वाणज्, विष्टि; ये सात चर करण हैं॥

तिथियों के अनुसार करण ज्ञापकचक्र॥

तिथियों के अङ्क	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	कृष्णपक्ष
तिथियों के पूर्वार्द्ध में जो करण होते हैं	कि	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	
तिथियों के परार्द्ध में जो करण होते हैं	१	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	१	
तिथियों के अङ्क	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	शुक्लपक्ष
तिथियों के पूर्वार्द्ध में जो करण होते हैं	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	च०	
तिथियों के परार्द्ध में जो करण होते हैं	३	५	०	२	४	६	१	३	५	०	२	४	६	श०	ना०	

करण के जो भिन्न भिन्न नाम हैं वह फलित ज्योतिष का विषय है और "करण" संज्ञा भी प्राचीन ग्रन्थों में अर्थात् गृह्यसूत्र और महाभारत आदि में नहीं पाई जाती परन्तु इस समय "पञ्चाङ्ग" के पांच अङ्गों में से करण एक अङ्ग माना जाता है और फलित जी महराज इस से भी नाना प्रकार के शुभाशुभ फल की कल्पना करते हैं। देखो भूमिका ॥

इति भाषानुवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

———

ओ३म्

अथ तृतीयोऽध्यायः

त्रिप्रश्नाधिकारः

शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे ।
तत्र शङ्क्वङ्ग लैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत् ॥१॥
तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कुं कल्पनाद्वादशाङ्गुलम् ।
तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्धयोः ॥२॥
तत्र बिन्दू विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ ।
तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्त्तव्या दणिणोत्तरा ॥३॥
याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा ।
दिङ्मध्यमस्त्यैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेव हि ॥४॥

भाषानुवाद—जल की नाईं बराबर पत्थर पर या कठिन समक्षेत्र में इष्ट अङ्गुली के परिमाण का समवृत्त रचना करे । उसमें १२ अङ्गुल का अङ्कुश (काठ का दण्ड उत्तम बना हुवा) स्थापन करे उसके आगे वृत्त को पूर्वाह्ण या अपराह्ण में जिस जगह छुए वहां दो पूर्वापर (पूर्वाह्णिक और अपराह्णिक) बिन्दु (चिह्न) लिखे । तिमि रेखा (दो वृत्त के छेद में उत्पन्न मछली की नाईं स्थान का नाम "तिमि" है) द्वारा उन दोनों बिन्दुओं के बीच दक्षिणोत्तर रेखा खींचे, दक्षिणोत्तर के दो विन्दुओं का केन्द्र करके (मान कर) व्यासार्द्ध परिमाण से वृत्त खींचे, वही तिमि होगी, उस से पूर्व और पश्चिम रेखा बनती है, दिशा के मध्य उक्त तिमि द्वारा ईशानादि (ईशान, अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, इन चार विदिशाओं का निश्चय करे) विदिशा की रेखा होगी ॥१,२,३,४॥

चतुरस्त्रं बहि कुर्यात् सूत्रैर्मध्याद्विनिर्गतैः ।
भुजसूत्राङ्ग लैस्तत्र दत्तैरिष्टप्रभा स्मृता ॥५॥
प्राक्पश्चिमाश्रिता रेखा प्रोच्यते सममण्डलम् ।
उन्मण्डलञ्च विषुवन्मण्डलं परिकीर्त्यते ॥६॥
रेखा प्राच्यपरा साध्या विषुवद्भाग्रगा तथा
इष्टच्छायाविषुवतोर्मध्यमग्राभिधीयते ॥७॥
शङ्कुच्छाया कृतियुतेर्मूलं कर्णोऽस्य वर्गतः ।
प्रोज्झ्य शङ्कुकृतिं मूलं छाया शङ्कुर्विपर्ययात् ॥८॥

भाषानुवाद—तीसरे स्थान से दिक् सम्पातरूप रेखा से निकली हुई आठों

दिशाओं की रेखा द्वारा जो केन्द्र के वृत्त से बाहर है, छाया के परिमाण से वृत्त खींचकर पूर्व पश्चिम की रेखा से वृत्त के बाहर एक सम चतुष्कोण क्षेत्र खींचे, वृत्त में छाया के अनुसार भुज (शङ्कु के आगे की छाया की दूरता के परिमाण को भुज कहते हैं) पूर्व में या पश्चिम में, उत्तर में या दक्षिण में खीचकर भुजाग्र के साथ जहां केन्द्र का संयोग हुआ है, वहां इष्ट छाया दिशा ज्ञात हो जावेगी ॥५॥ पूर्वापर रेखा का नाम सममण्डल रेखा विषुवन्मण्डल रेखा और उन्मण्डल रेखा, ये तीनों नाम हैं ॥६॥ उक्त सम चतुष्कोण में विषुव छाया के परिमाण पूर्वापर रेखा से दूर उत्तर भाग में एक सम रेखा साधन करे। विषुवद् रेखा से इष्ट छाया रेखा के अन्तर को "अग्रा" कहते हैं ॥७॥ शङ्कु छाया का वर्ग करे और इस शङ्कु छायावर्ग में शङ्कुवर्ग को जोड़े। पुन उस योगफल का वर्गमूल निकालने से छायाकर्ण होता है। छाया-कर्ण का वर्ग करे, इसको शङ्कुवर्ग से घटावे। पुनः शेष अङ्क का वर्गमूल निकालने से छाया होगी। और उसके विपरीत करने से अर्थात् कर्ण के वर्ग से छायावर्ग घटाने से शेष फल शङ्कुवर्ग होगा ॥८॥

[1]त्रिशत्कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक्परिलम्बते।
तद्गुणाद् भूदिनैर्भक्ताद् द्युगणाद् यदवाप्यते ॥९॥

तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधाः।
तत्संस्कृताद् ग्रहात्क्रान्तिच्छायाचरदलादिकम् ॥
स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये ॥१०॥

प्राक्चक्रं चलितं हीने छायार्कात्करणागते।
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ॥११॥

एवं विषुवती छाया स्वदेशे या दिनार्धजा।
दक्षिणोत्तररेखायां सा तत्र विषुवत्प्रभा ॥१२॥

भाषानुवाद - एक महायुग में भचक्र (राशिचक्र) पूर्व और पश्चिम दिशा में ६०० वार चलता है अर्थात् राशिचक्र विषुव रेखा से पश्चिम ओर २७ अंश चलकर पुनः अपनी विषुव रेखा पर (अपने स्थान पर) फिर आता है और उस स्थान से पूर्व की ओर इसी प्रकार २७ अंश जाकर पुनः अपनी विषुवरेखा पर वापिस आ जाता है। इस प्रकार एक महायुग में ६०० वार जाता और आता है, इसलिये एक कल्प में ६००००० वार जाता और आता है। इसी को "अयन" कहते हैं। एवं

---

१. इस के टीकाकार पं० रङ्गनाथ ने लिखा है कि यह पाठ (त्रिशत् इत्यादि) प्रामादिक है। सोमसिद्धान्त ग्रन्थ में ऐसा पाठ है कि —"युगे षट्शतकृत्वो हि भचक्रं प्राग्विलम्बते"।

इसी के अंश को अयनांश कहते हैं। इस ६०० को अहर्गण से गुणा कर गुणनफल को युग के सावनदिन से भाग देवे। भागफल भगणादि (भगण, राशि, अंश, कला, विकला) होंगे। इस भागफल में से भगण को छोड़ देवे और राशि, अंश, कला, विकला जो हो उस का भुज बनावे (पूर्वोक्त रीति से) उस भुजांश को तीन से गुणा कर गुणनफल में १० से भाग देवे। भागफल अयनांश होगा। ग्रहों का अयन संस्कार करने से ग्रहों की क्रान्ति, ज्या, चर आदि स्थिर होते हैं। दोनों विषुव दिन में (दोनों उत्तरायण और दक्षिणायन की सन्धि) उक्त नियमों का अनायास निश्चय होता है ॥९,१०॥ छाया द्वारा जाना हुआ सूर्य से गणित द्वारा लाया हुआ स्पष्ट सूर्य यदि न्यून हो तो चक्र (क्रान्तिवृत्त) पूर्वचारी है और छायागत सूर्य से गणितागत स्पष्ट सूर्य अधिक हो तो चक्र (क्रान्तिवृत्त) पश्चिमगामी होगा। अन्तरांश द्वारा क्रान्तिवृत्त चलता है ॥११॥ अपने अभीष्ट देश में इष्ट प्रकार से विषुव दिन के मध्याह्न को छाया दक्षिणोत्तर रेखा में दिखाई देती है वही वहां की विषव छाया है ॥१२॥

शङ्कुच्छायाहते त्रिज्ये विषुवत्कर्णभाजिते ।
लम्बाक्षज्ये तयोश्चापे लम्बाक्षौ दक्षिणौ सदा ॥१३॥
मध्यच्छाया भुजस्तेन गुणिता त्रिभमौर्विका ।
स्वकर्णाप्ता धनुर्लिप्ता नतास्ता दक्षिणे भुजे ॥१४॥
उत्तराश्चोत्तरे याम्यास्ताः सूर्यक्रान्तिलिप्तिकाः ।
दिग्भेदे मिश्रिताः साम्ये विश्लिष्टाश्चाक्षलिप्तिकाः ॥१५॥
ताभ्योऽक्षज्या च तद्वर्गं प्रोज्झ्य त्रिज्याकृतेः पदम् ।
लम्बाज्यार्कगुणाक्षज्या विषुवद्भाथ लम्बया ॥१६॥
स्वाक्षार्कनतभगानां दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ।
दिग्भेदेऽपक्रमः शेषस्तस्य ज्या त्रिज्यया हता ॥१७॥

भाषानुवाद—दो स्थानों में रक्खी हुई त्रिज्या को अलग अलग शङ्कु अर्थात् १२ से गुणा कर गुणनफल को विषुवच्छाया कर्ण से भाग देवे, भागफल पहिले स्थान में रक्खी हुई त्रिज्या की लम्बज्या होगी और दूसरे स्थान में रक्खी हुई त्रिज्या की अक्षज्या होगी और लम्बज्या का धनु बनाने से लम्ब होगा और अक्षज्या का धनु बनाने से अक्ष होगा ॥१३॥ इष्टदिन के मध्याह्न की छाया का नाम "भुज" है, उसको त्रिज्या से गुणाकर गुणनफल को मध्याह्न छायाकर्ण से भाग देवे, भागफल का धनु बनावे, वही "नति" होगी, वह नतकला मध्याह्न छाया (भुज) यदि पूर्वापर रेखा से दक्षिण में हो तो उत्तर नतकला होगी और यदि पूर्वापर रेखा से उक्तभुज उत्तर में हो तो दक्षिण नतकला होगी। उक्त नतकला और सूर्य क्रान्ति यदि एक दिशा में हों तो एक में से दूसरे को घटावे और यदि दोनों भिन्न दिशा में हों तो दोनों को एकत्र जोड़े तो योगफल वा वियोगफल स्वीय अक्ष

होगा ॥१४,१५॥ उक्त अक्ष कलाओं से अक्षज्या होती है, अक्षज्या का वर्ग करे, एवं इस को त्रिज्या वर्ग से घटावे, शेष अङ्क का मूल निकाले, वही लम्बज्या होगी। अक्षज्या को १२ से गुणाकर गुणनफल में लम्बज्या का भाग देवे, भागफल विषुवच्छाया होगी ॥१६॥ स्वदेश के अक्ष और इष्ट दिन के मध्याह्न सूर्य नतांश एक दिशा में हों तो दोनों के अन्तर (घटाने से) करने से शेषफल सूर्य क्रान्ति होगी, एवं यदि दोनों भिन्न दिशा में हों तो दोनों को योग करने से योगफल सूर्य क्रान्ति होगी। इस सूर्य क्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणन करे ॥१७॥

परमापक्रमज्याप्ता चापं मेषादिगो रविः ।
कर्कादौ प्रोज्झ्य चक्रार्धात् तुलादौ भार्धसंयुतात् ॥१८॥
मृगादौ प्रोज्झ्य भगणान्मध्याह्नेऽर्कः स्फुटो भवेत् ।
तन्मान्दमसकृद् वामं फलं मध्यो दिवाकरः ॥१९॥
स्वाक्षार्कापक्रमयुतिर्दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ।
शेषं नतांशाः सूर्यस्य तद्बाहुज्या च कोटिजा ॥२०॥
शङ्कुमानाङ्गुलाभ्यस्ते भुजत्रिज्ये यथाक्रमम् ।
कोटिज्यया विभज्याप्ते छायाकर्णावहर्दले ॥२१॥
क्रान्तिज्या विषुवत्कर्णगुणाप्ता शङ्कुजीवया ।
अर्काग्रा स्वेष्टकर्णघ्नी मध्यकर्णोद्धृता स्वका ॥२२॥
विषुवद्भायुतार्काग्रा याम्ये स्यादुत्तरो भुजः ।
विषुवत्यां विशोध्योदग्गोले स्याद् बाहुरुत्तरः ॥२३॥

भाषानुवाद—उक्त गुणनफल में परम क्रान्तिज्या (१३९७) का भाग देवे, भागफल की ज्या बनावे तो मेषादि (मेष, वृष, मिथुन) राशियों से सायन रवि स्पष्ट होगा और उक्त भागफल ज्या कर्कटादि (कर्क सिंह कन्या) राशियों में चक्रार्द्ध से (६ राशि से) घटाने पर शेषफल मध्याह्न काल में स्फुट सूर्य होगा और तुलादि (तुला, वृश्चिक, धनु) राशियों में छः राशि योग करने से सायन रवि स्पष्ट होगा और मकरादि (मकर, कुम्भ, मीन) राशि में १२ राशि से वियोग करने पर सायन रवि स्पष्ट होगा। सूर्य स्पष्ट में मान्द्यफल निर्णय करके उलटी रीति से अनेक वार संस्कार करने से सूर्य मध्य होगा अर्थात् सूर्य स्पष्ट को सूर्य मध्य की नाईं गणित कर मन्दोच्चादि संस्कार द्वारा मान्द्यफल लाभ होकर उलटी रीति से संस्कार करने से स्थूल सूर्य होगा। उसको मध्य जानकर मान्द्यफल पुनः उक्त रीति से सूर्य स्पष्ट में विपरीत भाव से संस्कार करे ॥१८,१९॥ स्वदेश का अक्षांश और मध्याह्न कालिक सूर्य क्रान्ति यदि एक दिशा में हों तो दोनों का योग करे और दोनों भिन्न दिशा में हों तो एक को दूसरे से घटावे तो योगफल या वियोगफल मध्याह्न कालिक सूर्य का नतांश होगा। उस की भुजज्या और कोटिज्या

कर ।।२०।। भुजज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल में कोटिज्या का भाग देवे (नतांश) भागफल छाया होगी और त्रिज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल में कोटिज्या का भाग देवे, भागफल छाया कर्ण होगा ।।२१।। सूर्य की क्रान्तिज्या को अक्षकर्ण से गुणा कर गुणनफल में शङ्कु (१२) का भाग देवे, भागफल सूर्य को अग्रा होगा। इस अग्रा को इष्ट दिवसीय छायाकर्ण से गुणा कर गुणनफल में त्रिज्या का भाग देवे, भागफल स्वकर्ण की अग्रा होगी ।।२२।। दक्षिण गोल में विषुवच्छाया से सूर्य के अभीष्ट कालिक कर्ण की अग्रा को जोड़े तो उत्तरभुज होगा और उत्तर-गोल में विषुवच्छाया से सूर्य के अभीष्ट कालिक कर्ण की अग्रा को घटावे तो शेष फल उत्तरभुज होगा ।।२३।।

विपर्ययाद् भुजो याम्यो भवेत् प्राच्यपरान्तरे ।
माध्याह्निको भुजो नित्यं छाया माध्याह्निकी स्मृता ।।२४।।
लम्बाक्षजीवे विषुवच्छायाद्वादशसंगुणे ।
क्रान्तिज्याप्ते तु तौ कर्णौ सममण्डलगे रवौ ।।२५।।
सौम्याक्षोना यदा क्रान्तिः स्यात्तदा द्युदलश्रवः ।
विषुवच्छाययाभ्यस्तः कर्णो मध्याग्रयोद्धृतः ।।२६।।
स्वक्रान्तिज्या त्रिजीवाघ्नी लम्बज्याप्ताग्रामौर्विका ।
स्वेष्टकर्णहता भक्ता त्रिज्ययाग्राङ्गुलादिका ।।२७।।

भाषानुवाद—यदि सूर्य से अभीष्ट कालिक कर्ण की अग्रा विषुवच्छाया से न घट सके तो विषुच्वछाया को अभीष्ट कालिक सूर्य के कर्ण की अग्रा से घटावे, शेषफल दक्षिण भुज होगा। पूर्वापर रेखा के मध्य में दक्षिण और उत्तरभुज होता है और मध्याह्न कालिक छाया का नाम भुज है ।।२४।। लम्बज्या को विषुवच्छाया से गुणा कर गुणनफल में क्रान्तिज्या का भाग देवे, भागफल यदि सम मण्डलस्थ सूर्य हो तो "छाया" होगी। पुनः अक्षज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल में क्रान्तिज्या का भाग देवे। भागफल यदि सम वृत्तस्थ सूर्य हो तो छाया कर्ण होगा ।।२५।। यदि उत्तर क्रान्ति अक्ष से न्यून हो तो समवृत्तस्थ सूर्य की साधित क्रान्ति मध्याह्न कर्ण को विषुवच्छाया से गुणा कर गुणनफल में मध्याह्न कर्ण को अग्रा का भाग देवे, भागफल सम मण्डलस्थ ग्रह का छाया कर्ण होगा ।।२६।। इष्ट कालिक क्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल को लम्बज्या से भाग देवे, भागफल अग्रा होगी, उसको अपने इष्ट कर्ण से गुणाकर गुणनफल में त्रिज्या से भाग देवे, भागफल अङ्गुलादिक होंगे ।।२७।।

त्रिज्यावर्गार्धतोऽग्रज्यावर्गोनाद् द्वादशाहतात् ।
पुनर्द्वादशनिघ्नाच्च लभ्यते यत् फलं बुधैः ।।२८।।

शङ्कुवर्गार्द्धसंयुक्तविषुवद्वर्गभाजितात् ।
तदेव करणी नाम तां पृथक् स्थापयेद् बुधः ॥२९॥
अर्कघ्नी विषुच्छायाग्रज्यया गुणिता तथा।
भक्ता फलाखं यतद्वर्गसंयुक्तकरणीपदम् ॥३०॥
फलेन हीनसंयुक्तं दक्षिणोत्तरगोलयोः ।
याम्ययोर्विदिशोः शङ्कुरेव याम्योत्तरे रवौ ॥३१॥
परिभ्रमति शङ्कोस्तु शङ्कुरुत्तरयोस्तु सः ।
तत्त्रिज्यावर्गविश्लेषान्मूलं दृग्ज्याभिधीयते ॥३२॥
स्वशङ्कुना विभाज्याप्ते दृक्त्रिज्ये द्वादशाहते ।
छायाकर्णौ तु कोणेषु यथास्वं देशकालयोः ॥३३॥
त्रिज्योदक्चरजायुक्ता याम्यायां तद्विवर्जिता ।
अन्त्या नतोत्क्रमज्योना स्वाहोरात्रार्धसंगुणा ॥३४॥

भाषानुवाद—त्रिज्या वर्ग के आधे से (५९०९९२२) पूर्व प्रकार लाए हुए तात्कालिक अग्रज्या वर्ग को घटाकर वियोगफल को १४४ से गुणा कर गुणनफल को विषुवच्छाया में ७२ मिलाकर वर्ग करे, इस वर्ग से उक्त गुणनफल में भाग देवे, भागफल "करणी" होगी। इस को अलग एक स्थान में रख छोड़े ॥२८,२९॥ विषुवछाया को १२ से गुणा करे गुणनफल को अग्रज्या से गुणा कर गुणनफल को ७२ मिलाकर विषुवच्छाया के वर्ग से भाग देवे, भागफल "फल" होगा। इस फल के वर्ग और करणी को एकत्र जोड़े, पुनः इसका वर्गमूल निकाले, इस वर्गमूल को दक्षिण गोल में "फल" से घटावे और उत्तर गोल में "फल" में जोड़े तो योग वा वियोग फल कोण शङ्कु होगा। सूर्य दक्षिण में हो तो कोणशङ्कु दक्षिणदिशा के दो कोणों में (आग्नेय, नैर्ऋत्य = विदिशा) और सूर्य उत्तर गोल में हो तो कोणशङ्कु उत्तर के दो कोणों (ईशान, वायव्य = विदिशा) में ॥३०,३१॥ उस का वर्ग और त्रिज्या वर्ग का अन्तर (बाकी घटाने पर) का वर्गमूल निकालने से दृग्ज्या होगी। दृग्ज्या को १२ से गुणाकर गुणनफल को और त्रिज्या को १२ से गुणा कर गुणनफल को क्रम से कोण कटाङ्कु से भाग देने से भागफल इष्ट स्थान में इष्ट स्थान की छाया (पहिला फल) होगी और कर्ण होगा (दूसरे का फल) ॥३२॥ उत्तर दिशा में सूर्य होने पर त्रिज्या से चरज्या को योग करे, योगफल "अन्त्या" होगी। दक्षिणगोल में सूर्य हो तो त्रिज्या से चरज्या को घटावे। शेष फल "अन्त्या" होगी। मध्याह्न से इष्टकाल घटाने पर वियोगफल का अंशादि (अंश, कला) बनाने से "नत" होगा, नत के अनुसार उत्क्रमज्या अन्त्या से घटाकर वियोगफल को अपने अहोरात्रार्ध व्यास से गुणा करे ॥३३,३४॥

त्रिज्याभक्ता भवेच्छेदो लम्बज्याघ्नोऽथभाजितः ।
त्रिभज्यया भवेच्छङ्कुस्तद्वर्गं परिशोधयेत् ।।३५।।
त्रिज्यावर्गात्पदं दृग्ज्या छायाकर्णौ तु पूर्ववत् ।
अभीष्टच्छाययाभ्यस्ता त्रिज्यातत्कर्णभाजिता ।।३६।।
दृग्ज्या तद्वर्गसंशुद्धात् त्रिज्यावर्गाच्च यत्पदम् ।
शङ्कुः स त्रिभजीवाघ्नः स्वलम्बज्याविभाजितः ।।३७।।
छेदः स त्रिज्ययाभ्यस्तः स्वाहोरात्रार्द्धभाजितः ।
उन्नतज्या तया हीना स्वान्त्या शेषस्य कार्मुकम् ।।३८।।

भाषानुवाद—उक्त गुणननफ को त्रिज्या (३४३८) से भाग देवे, भागफल छेद होगा। छेद को लम्बज्या से गुणा कर, गुणनफल को त्रिज्या से भाग देवे, भागफल इष्टकाल का शङ्कु होगा। त्रिज्या वर्ग (११८१९८४४) से उस शङ्कु वर्ग (१४४) को घटाने से शेष फल का वर्गमूल निकाले तो दृग्ज्या होती है। इससे छाया और, कर्ण पूर्वोक्त रीति से स्थिर होता है ।।३५,३६।। अभीष्ट कालिक छाया को त्रिज्या से गुणाकर, गुणनफल को छाया कर्ण से भाग देवे, भागफल दृग्ज्या होगी। इसके वर्ग को त्रिज्या वर्ग से घटावे और शेष अङ्क का वर्गमूल निकालने से शङ्कु होगा। उस शङ्कु को त्रिज्या से गुणाकर गुणनफल को अपनी लम्बज्या से भाग करे, भागफल "छेद" होगा। उस छेद को त्रिज्या से गुणाकर गुणनफल को स्वाहोरात्रार्द्ध से भाग करे, भागफल को स्वीय "अन्त्य" से घटाने पर शेष "उन्नत-ज्या" होगी, उस का धनु करे ।।३६,३७,३८।।

उत्क्रमज्याभिरेवं स्युः प्राक्पश्चार्धनतासवः ।।३८।।
इष्टाग्राघ्नी तु लम्बज्या स्वकर्णाङ्गुलभाजिता ।
क्रान्तिज्या सा त्रिजीवाघ्नी परमापक्रमोद्धृता ।
तच्चापं भादिकं क्षेत्रं पदैस्तत्र भवो रविः ।।३९।।
इष्तेऽह्नि मध्ये प्राक् पश्चाद् धृते बाहुत्रयान्तरे ।
मत्स्यद्वयान्तरयुतेस्त्रिस्पृक्सूत्रेण भाभ्रमः ।।४०।।
त्रिभद्युकर्णार्धगुणाः स्वाहोरात्रार्धभाजिताः ।
क्रमादेकद्वित्रिभज्यास्तच्चापानि पृथक् पृथक् ।
स्वाधोऽधः परिशोध्याथ मेषाल्लङ्कोदयासवः ।।४१।।
खागाष्टयोऽर्थगोऽगैकाः शरत्र्यङ्कहिमांशवः ।।

भाषानुवाद—उन्नत ज्या के परिमाण से धनु बनाने पर पूर्वार्द्ध और अपरार्द्ध नति प्राण स्थिर होगा ।।३८।। इष्ट अग्रा से लम्बज्या को गुणाकर गुणनफल को अपनी कर्णाङ्गुल संख्या से भाग देवे, भागफल सूर्य की क्रान्ति ज्या होगी, उस को

त्रिज्या से गुणाकर गुणनफल में परमापक्रमज्या से भाग करे, भागफल ज्या का धनु (राश्यादि) करने से (यदि यह बात मालूम हो कि चक्र के विषमपद या समपद में) सायन सूर्य स्फुट होगा ।।३९।। अभीष्ट दिन को पूर्वापर सूत्र के मध्यस्थान से ३ चिह्न करके मत्स्यद्वय गत रेखा के संयोग स्थान से तीन चिह्न को स्पर्श करता हुआ तीन वृत्त खींचने से छाया शेष का भ्रमण मार्ग निर्णीत होगा ।।४०।। एक दो और तीन राशि की ज्या को क्रमशः तीन राशि के द्युज्या (१३९७) द्वारा गुणा करके स्वराशि के अहोरात्रार्द्ध ज्या द्वारा भागकर धनु निश्चय करे। प्रथम द्विराशि के फल से प्रथम वियोग और त्रिराशि फल से द्विराशि फल घटाकर कला मेषादि का लङ्कोदय प्राण होगा। प्राण संख्या मेष १६७०, वृष १७९५, मिथुन १९३५ ।।४१,४२।।

स्वदेशचरखण्डोना भवन्तीष्टोदयासवः ।।४२।।
व्यस्ता व्यस्तैर्युताः स्वैः स्वैः कर्कटाद्यास्ततस्त्रयः ।।४३।।
उत्क्रमेण षडेवैते भवन्तीष्टास्तुलादयः ।।४४।।
गतभोग्यासवः कार्य्या भास्करादिष्टकालिकात् ।
स्वोदयासुहता भुक्तभोग्या भक्ताः स्ववह्निभिः ।।४५।।
अभीष्टघटिकासुभ्यो भोग्यासून्प्रविशोधयेत् ।
तद्वत्तदेष्यलग्नासूनेवं यातांस्तथोत्क्रमात् ।।४६।।
शेषं चेत्त्रिशताभ्यस्तमशुद्धेन विभाजितम् ।
भागहीनं च युक्तं च तल्लग्नं क्षितिजे तदा ।।४७।।

भाषानुवाद—उस से स्वदेश चरखण्डों का वियोग करने से इष्ट देश का उदयप्राण होगा ।।४२।। पश्चिम से क्रम से लङ्कोदय प्राण के साथ पश्चिम से चरखण्डों का योग करने से कर्कादि उदयप्राण होगा ।।४३।। मेषादि छः राशि के उदयप्राण पश्चिम से तुलादि के उदयप्राण होंगे ।।४४।। उदय मान द्वारा तात्कालिक (सायन) रवि स्पष्ट के गत और भोग्य प्राण होंगे ।।४५।। स्वभीष्ट घटिका के प्राण से भोग्य घटावे। फिर क्रम क्रम से पिछली पिछली राशियों के प्राण जब तक घट न सकें इसी प्रकार करता जावे ।।४६।। शेष को ३० से गुणाकर गुणन फल में शोध्य राशि की प्राणसंख्या से भाग देने से जो अंशादि हो उसको गत राशि की संख्या में जोड़ने से (सायन) लग्न स्पष्ट होगा ।।४७।।

प्राक्पश्चान्नतनाडीभिस्तस्माल्लङ्कोदयासुभिः ।
भानौ क्षयधने कृत्वा मध्यलग्नं तदा भवेत् ।।४८।।
भोग्यासूनूनकस्याथ भुक्तासूनधिकस्य च ।
संपिण्ड्यान्तरलग्नासूनेवं स्यात् कालसाधनम् ।।४९।।

सूर्यादूने निशाशेषे लग्नेऽर्कादधिके दिवा ।
भचक्रार्धयुताद् भानोरधिकेस्तमयात्परम् ॥५०॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

भाषानुवाद—उक्त प्रकार से पश्चात् नत प्राण लङ्कोदय प्राण खण्डों को लेकर रविस्फुट में ऋण और योग करने से मध्य वा दशम लग्न स्थिर होगा ॥४८॥ लग्न और रवि स्पष्ट के मध्य में न्यून का भोग्य और अन्य का भुक्त एवं इन दोनों के मध्य स्थित राशि गण के प्राण संख्या को एकत्र करने से जो प्राण संख्या होगी, उस से काल साधित होगा ॥४९॥ लग्नस्पष्ट सूर्यस्फुट से न्यून होने से निशा शेष और अधिक होने से दिन में और छः राशि युक्त सूर्य से लग्न अधिक हो तो सन्ध्या के पीछे होगा ॥५०॥

इति भाषानुवादे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

———

ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ चन्द्रग्रहणाधिकारः

सार्धानि षट्सहस्राणि योजनानि विवस्वतः ।
विष्कम्भो मण्डलस्येन्दोः सहाशीत्या चतुःशतम् ॥१॥
स्फुटस्वभुक्तया गुणितौ मध्यभुक्तोद्धृतौ स्फुटौ ।
रवेः स्वभगणाभ्यस्तः शशाङ्कभगणोद्धृतः ॥२॥
शशाङ्ककक्षागुणितो भाजितो वार्ककक्षया ।
विष्कम्भश्चन्द्रकक्षायां तिथ्याप्ता मानलिप्तिकाः ॥३॥
स्फुटेन्दुभुक्तिर्भूव्यासगुणिता मध्ययोद्धृता ।
लब्धं सूची महीव्यासस्फुटार्कश्रवणान्तरम् ॥४॥
मध्येन्दुव्यासगुणितं मध्यार्कव्यासभाजितम् ।
विशोध्य लब्धं सूच्यां तु तमो लिप्तास्तु पूर्ववत् ॥५॥

भाषानुवाद—सूर्यमण्डल अर्थात् सूर्य के विम्ब व्यास का परिमाण ६५०० योजन और चन्द्रमा के बिम्ब व्यास का परिमाण ४८० योजन है ॥१॥ इन को क्रम से सूर्य के विम्ब व्यास को सूर्य की स्पष्ट गति से गुणा कर, गुणनफल में सूर्य की मध्य गति से भाग दे, भागफल सूर्य के स्फुट बिम्ब व्यास का परिमाण होगा। इसी प्रकार चन्द्रमा के विम्ब व्यास को चन्द्रमा की स्पष्ट गति से गुणाकर गुणनफल से चन्द्रमा की मध्यगति का भाग दे, भागफल चन्द्रमा के स्फुट व्यास का परिमाण होगा। सूर्य के स्पष्ट व्यास को अपने भगण (सू० भ०) से गुणा कर, गुणनफल में चन्द्रमा के भगण का भाग दे, या चन्द्रमा की कक्षा योजन संख्या से गुणा कर, गुणनफल में सूर्य की कक्षा योजन संख्या का भाग दे, भागफल चन्द्रमा की कक्षा में अर्थात् चन्द्राधिष्ठित आकाश गोल में सूर्य स्पष्ट व्यास का परिमाण होगा। इसके पश्चात् सूर्य स्पष्ट विम्ब व्यास को योजन संख्या को १५ से भाग दे, भागफल सूर्य के विम्ब व्यास की कला होगी। उस चन्द्रमा के स्पष्ट बिम्ब व्यास योजन संख्या को १५ से भाग दे, भागफल चन्द्रमा के स्पष्ट विम्ब व्यास की कला होगी ॥२,३॥ चन्द्रमा की स्पष्ट गति को पृथिवी के व्यास (१६००) से गुणाकर गुणनफल में चन्द्रमा की मध्य गति का भाग दे, भागफल "सूची" होगी। पृथिवी के स्पष्ट व्यास को सूर्य के स्पष्ट बिम्ब व्यास से घटावे, जो अवशिष्ट हो, उसको चन्द्रमा के मध्य व्यास (४८०)

से गुणा कर, गुणनफल में सूर्य के मध्य व्यास योजन संख्या का भाग दे, भागफल का उक्त "सूची" से घटाने पर शेष अङ्क "तमव्यास" संख्या होगी। इस को पहिले की नाईं १५ से भाग दे, भागफल तमव्यास की कला होगी ॥४।५॥

भानोर्भार्धे महीच्छाया तत्तुल्येऽर्कसमेऽपि वा।
शशाङ्कपाते ग्रहणं कियद्भागाधिकोनके ॥६॥
तुल्यौ राश्यादिभिः स्यातामामावास्यान्तकालिकौ।
सूर्येन्दू पौर्णमास्यन्ते भार्धे भागादिकौ समौ ॥७॥
गतैष्यपर्वनाडीनां स्वफलेनोनसंयुतौ।
समलिप्तौ भवेतां तौ पातस्तात्कालिकोऽन्यथा ॥८॥
छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद् भवेत्।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥९॥
तात्कालिकेन्दुविक्षेपं छाद्यच्छादकमानयोः।
योगार्धात् प्रोज्झ्य यच्छेषं तावच्छन्नं तदुच्यते ॥१०॥

भाषानुवाद—सूर्य से ६ राशि दूर अर्थात् १८० अंश पर पृथिवी की छाया स्थित है। चन्द्रपात या छाया (भूछाया) सूर्य के बराबर राशि अंश में यदि अवस्थित हो तो ग्रहण का सम्भव होगा। उक्त परिमाण से न्यून या अधिक होने पर भी ग्रहण होगा ॥६॥ अमावस्या के अन्त काल में सूर्य और चन्द्रमा की राशि अंश कलादि बराबर होती हैं और पूर्णमासी के अन्त में सूर्य और चन्द्रमा में १८० अंश (६ राशि) का अन्तर (फरक़) हो जाता है अर्थात् अमावस्या को सूर्य के अधोभाग में चन्द्रमा आ जाता है और पूर्णमासी को चन्द्रमा और पृथिवी की छाया समसूत्रस्थ हो जाती है और सूर्य १८० अंश पर रहता है ॥७॥ मध्यरात्रिक स्पष्ट (अ० १। ६७ श्लोक) राश्यादि (राशि, अंश, कला आदि) में पर्वान्त (अमावस्या या पूर्णमासी) काल मध्यरात्रि के पूर्व होने पर तात्कालिक घटावे, नहीं तो योग करे, योगफल चन्द्रमा और सूर्य की सम कला होगी। पात के लिये उस कला का संस्कार करना पड़ेगा अर्थात् तात्कालिक पूर्व होने पर योग करे, नहीं तो घटावे ॥८॥ [1]सूर्यग्रहण में सूर्यमण्डल का आच्छादक (ढकने वाला) चन्द्रमा मेघ की नाईं हो

---

१. टिप्पणी— इस पर कोई यह शङ्का करे कि सूर्य के नीचे बुध उस के नीचे शुक्र तब चन्द्रमा की संस्था है तो जिस प्रकार चन्द्रमा से सूर्यग्रहण होता है, इसी प्रकार बुध एवं शुक्र के आछादक होने से सू० ग्र० क्यों नहीं होता? इस का कारण यह है कि बुध और शुक्र के मण्डल चन्द्रमा की अपेक्षा अत्यन्त छोटे हैं, इस से ये दोनों सूर्य को आच्छादन नहीं कर सकते। अतएव तत्कृत ग्रहण नहीं होता।

जाता है। जैसे सूर्य यद्यपि ऊर्ध्व स्थिय है, तथापि जिस प्रकार बादल उस के नीचे भाग में आकर सूर्य को ढक लेता है तो हम लोगों को उस समय सूर्य नहीं दीख पड़ता, मेघ उसका आछादक हो जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा सूर्य के नीचे मेघ की नाईं आकर उसको ढक लेता है तो उस समय जितना हिस्सा सूर्य मण्डल का चन्द्रमा से ढक जाता है, उतना भाग हम लोग नहीं देखते अर्थात् अन्धकार से आछन्न रहता है। चन्द्रमा पूव की ओर जाता हुआ पृथिवी की छाया में प्रवेश कर जाता है। इसलिये चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा की आच्छादिका पृथिवी की छाया होती है। उपरोक्त कारणों से सूर्यग्रहण में सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब का और चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा और पृथिवी की छाया का गणित किया जाता है। अमावस्या को सूर्य के नीचे चन्द्रया आ जाता है, इसलिये सूर्य का आच्छादक हो जाता है ॥९॥ तात्कालिक चन्द्रमा के विक्षेप को "छाद्य या ग्राह्य" (जो ढक लिया जावे, चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा "छाद्य") और "छादक"=ढकनेवाला (चन्द्रग्रहण में पृथिवी "छादक") के मान को योग कर उसका आधा करे, पुनः इस आधे से तात्कालिक चन्द्रमा के विक्षेप को घटावे, शेष अङ्क "छन्न" वा ग्रास (जितना प्रदेश ढक लिया जावे, ग्रास किया जावे) प्रदेश वा ग्रास होगा। सूर्य वा ग्रास ग्रहण में सूर्य "छाद्य" एवं चन्द्रमा उसका "छादक"। मंण्डल का जितना प्रदेश ढक लिया वा ग्रास किया जावे, वह "छन्न" होता है ॥१०॥

ग्राह्यमानाधिके तस्मिन्सकलं न्यूनमन्यथा।
योगार्धादधिके न स्याद्विक्षेपे ग्राससम्भवः ॥११॥
ग्राह्यग्राहकसंयोगवियोगौ दलितौ पृथक्।
विक्षेपवर्गहीनाभ्यां तद्वर्गाभ्यामुभे पदे ॥१२॥
षष्टया संगुण्य सूर्येन्द्वोर्भुक्त्यन्तरविभाजिते।
स्यातां स्थितिविमर्दार्धे नाडिकादिफले तयोः ॥१३॥
स्थित्यर्धनाडिकाभ्यस्ता गतयः षष्टिभाजिताः।
लिप्तादिप्रग्रहे शोध्यं मोक्षे देयं पुनः पुनः ॥१४॥
तद्विक्षेपैः स्थितिदलं विमर्दार्धं तथासकृत्।
संसाध्यमन्यथा पाते तल्लिप्तादि फलं स्वकम् ॥१५॥

भाषानुवाद—जो ग्राह्यमान ग्रहबिम्ब से "छन्नमान" अधिक हो तो "खग्रास" वा सम्पूर्ण ग्रहण होगा (सर्वग्रास) और ग्राह्यमान से "छन्नमान" न्यून हो तो, न्यून ग्रहण किया जावेगा। और ग्राह्य और ग्राहकमान को जोड़ कर, आधा करने पर यदि वह आधा विक्षेप से न्यून हो तो, ग्रहण नहीं होगा। ग्रहण दो प्रकाक का है एक सर्वग्रास वा सम्पूर्ण ग्रहण और दूसरा आंशिक वा खण्ड ग्रहण होता है ॥११॥ ग्राह्यमान और

ग्राहकमान को एकत्र जोड़े, पुनः उस जोड़े हुए अङ्क को आधा कर एक स्थान में रक्खे और ग्राह्यमान से ग्राहकमान को घटावे, जो शेष अङ्क हो उसको दूसरे स्थान में रक्खे। एवं पहिले रक्खे हुए योगार्द्ध का वर्ग करे, इसी प्रकार दूसरे स्थान में रक्खे हुए वियोगार्द्ध का वर्ग करे, और योगार्द्ध वर्ग से विक्षेप वर्ग को घटावे, इसी प्रकार वियोगार्द्ध वर्ग से विक्षेप वर्ग को घटावे, और दोनों घटाए हुए वर्ग का भिन्न वर्गमूल निकाले, पुनः उन दो वर्गमूलों को भिन्न भिन्न ६० से गुणा करे, गुणनफल में सूर्य की स्पष्ट गति से चन्द्रमा की स्पष्ट गति को घटावे, घटाने से जो फल हो, उसके दोनों भिन्न भिन्न स्थापित गुणनफल में भाग दे, भागफल क्रम से योगार्द्ध का फल स्थूलस्थित्यर्द्ध दण्डादि और वियोगार्द्ध का फल स्थूल विमर्दार्ध दण्डादि होंगे ॥१२,१३॥ सूर्य चन्द्रमा और पात (राहु) की गति को स्थित्यर्द्ध दण्ड से गुणा कर, गुणनफल में ६० का भाग देवे, भागफल कलादि स्पर्श में सूर्य और चन्द्रमा को घटावे और मोक्ष में सूर्य और चन्द्रमा में जोड़े, और पात में इसके विपरीत करे अर्थात् मोक्ष में पात से घटावे और स्पर्श में पात में जोड़े। उससे अर्थात् तात्कालिक चन्द्रमा और उसके पात द्वारा लाई हुई शर कला से स्थित्यर्द्ध निर्णय करे जब तक निश्चय न हो बारम्बार इसी प्रकार करता जावे ॥१४,१५॥

स्फुटतिथ्यवसाने तु मध्यग्रहणमादिशेत्।
स्थित्यर्धनाडिकाहीने स्पर्शो मोक्षस्तु संयुते ॥१६॥
तद्वदेव विमर्दार्धनाडिकाहीनसंयुते।
निमीलनोन्मीलनाख्ये भवेतां सकलग्रहे ॥१७॥
इष्टनाडीविहीनेन स्थित्यर्धेनार्कचन्द्रयोः।
भुक्त्यन्तरं समाहन्यात् षष्ट्याप्ताः कोटिलिप्तिकाः ॥१८॥
भानोर्ग्रहे कोटिलिप्ता मध्यस्थित्यर्धसङ्गुणाः।
स्फुटस्थित्यर्धसम्भक्ताः स्फुटाः कोटिकलाः स्मृताः ॥१९॥
क्षेपो भुजस्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं श्रवस्तु तत्।
मानयोगार्धतः प्रोज्झ्य ग्रासस्तात्कालिको भवेत् ॥२०॥

भाषानुवाद—स्पष्ट तिथि के अन्त में मध्य ग्रहण होता है। उससे सूक्ष्म स्थित्यर्द्ध दण्ड घटाने पर स्पर्श (ग्रास) काल होता है और स्पष्ट तिथि के अन्त में सूक्ष्म स्थित्यर्द्ध दण्ड जोड़ने से मोक्ष काल होता है ॥१६॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रहण में (१६ श्लोक में जैसा कहा है) सूक्ष्म विमर्द्दार्ध घटिका मध्यग्रहण समय से घटावे तो निमीलन काल होगा और मध्यग्रहण समय में सूक्ष्म विमर्द्दार्द्ध दण्ड जोड़े तो उन्मीलन काल होगा। सम्पूर्ण ग्रहण में "स्पर्श" को "निमीलन" और "मोक्ष" को "उन्मीलन" कहते हैं ॥१७॥ सूर्य और चन्द्रमा की गति के (परस्पर घटा कर)

अन्तर कला से ग्रहणारम्भ से इष्ट दण्डादि घटाकर शेष अङ्क को स्थित्यर्द्ध से गुणा करे, गुणनफल में ६० का भाग दे, भागफल कोटि कला होगी ॥१८॥ सूर्य ग्रहण में पूर्वोक्त प्रकार से लाई हुई कोटि कला को स्थित्यर्ध से गुणा करे, गुणनफल में स्फुट स्थित्यर्द्ध का भाग देवे, भागफल स्फुट कोटि कला होगी ॥१६॥ विक्षेप के वर्ग और कोटि फल के वर्ग को एकत्र जोड़े, पुनः इसका वर्गमूल निकाले, वही मूल कर्ण होगा। चन्द्रमा और सूर्य के मान को एकत्र जोड़कर इसका आधा करे। इस आधे से कर्ण को घटावे। शेष अङ्क तात्कालिक होगा ॥२०॥

मध्यग्रहणतश्चोर्ध्वमिष्टनाडीर्विशोधयेत् ।
स्थित्यर्धान्मौक्षिकाच्छेषं प्राग्वच्छेषं तु मौक्षिके ॥२१॥
ग्राह्यग्राहकयोगार्धाच्छोध्याः स्वच्छन्नलिप्तिकाः ।
तद्वर्गात् प्रोज्झ्य तत्कालविक्षेपस्य कृतिम्पदम् ॥२२॥
कोटिलिप्ता रवेः स्पष्टस्थित्यर्धेनाहता हृताः ।
मध्येन लिप्तास्तन्नाड्यः स्थितिवद् ग्रासनाडिकाः ॥२३॥
नतज्याक्षज्ययाभ्यस्ता त्रिज्याप्ता तस्य कार्मुकम् ।
वलनांशाः सौम्ययाम्याः पूर्वापरकपालयोः ॥२४॥
राशित्रययुताद् ग्राह्यात् क्रान्त्यंशैर्दिक्समैर्युताः ।
भेदेऽन्तराज्ज्यावलना सप्तत्यङ्गुलभाजिता ॥२५॥
सोन्नतं दिनमध्यर्धं दिनार्धाप्तं फलेन तु ।
छिन्द्याद्विक्षेपमानानि तान्येषामङ्गुलानि तु ॥२६॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

भाषानुवाद—मध्य ग्रहण के अनन्तर मौक्षिक स्थित्यर्द्ध से इष्ट नाड़ी घटा कर कोटि स्थिर करे और शेष क्रिया पूर्वोक्त (श्लोक १८ में जैसा कहा है) रीति से करे ॥२१॥ ग्राह्य और ग्राहक के मान को एकत्र जोड़े और योगफल का आधा करे। उस आधे से अभीष्ट ग्रास की कला को घटावे, शेष अङ्क को वर्ग करे। वर्ग फल से अभीष्ट ग्रास कालिक विक्षेप के वर्ग को घटावे, शेष अङ्क का वर्गमूल निकाले, वही कोटि कला होगी ॥२२॥ परन्तु सूर्यग्रहण में कोटि कला स्पष्ट स्थित्यर्द्ध से गुणा कर गुणनफल में मध्य स्थित्यर्द्ध से भाग करे, भागफल कोटि कला होगी। उससे जिस प्रकार "स्थिति" का साधन किया जाता है, अर्थात् जिन नियमों से स्थिति का निश्चय करते हैं, उसी प्रकार ग्रास नाड़ी को स्थिर करना चाहिये ॥२३॥ जिस काल का वलन स्थिर करना हो उस काल के नत का निर्णय करे। चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा का एवं सूर्य ग्रहण में सूर्य का नत स्थिर करे। स्वदिनार्द्धान्तर्गत दण्ड पूर्व नत दण्ड एवं स्वदिनार्द्ध से न्यून दण्ड पश्चिम नत दण्ड होता है। उस नत को ६० से

गुणनफल में स्वदिनार्द्ध से भाग दे, भागफल नतांश होगा, उस की ज्या, नतज्या होती है, उसको अभीष्ट अक्षज्या से गुणाकर, गुणनफल में त्रिज्या से भाग दे, भागफल ज्या को धनु बनावे, वह वलनांश होगा, उसको ६० से भाग देवे, भागफल क्रम से पूर्वापर कपाल के पूर्वापर नत का पूर्व का उत्तर वलनांश एवं पश्चिम का उत्तर वलनांश होगा ।।२४।। जिस काल का वलनांश लाना हो उस काल के ३ राशियुक्त ग्राह्य से ग्रह स्फुट की क्रान्ति निर्देश करे। वलनांश यदि एक दिशा में हो तो योग करे, और यदि भिन्न दिशा में हो तो घटावे तो स्फुट वलन होगा। स्फुट वलन ज्या को ७० अङ्गुल से भाग दे, भागफल अङ्गुलादिक वलन ग्रस्त ग्रह का होगा ।।२५।। दिनमान में स्वीय अर्द्ध और अभीष्ट काल की उन्नत घटिका के साथ योग करे, योगफल को दिनार्द्ध से भाग दे, जो भागफल हो उससे कलात्मक विक्षेप ग्राह्य और ग्राहक बिम्बमान प्रभृति को भाग करने से भागफल, अङ्गुलादि होंगे ।।२६।।

इति भाषानुवादे चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

ओ३म्

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ सूर्यग्रहणाधिकारः

मध्यलग्नसमे भानौ हरिजस्य न सम्भवः ।
अक्षोदङ्मध्यभक्रान्तिसाम्ये नावनतेरपि ॥१॥
देशकालविशेषेण यथावनतिसम्भवः ।
लम्बनस्यापि पूर्वान्यदिग्वशाच्च तथोच्यते ॥२॥
लग्नं पर्वान्तनाडीनां कुर्यात्स्वैरुदयासुभिः ।
तज्ज्यान्त्यापक्रमज्याघ्नी लम्बज्याप्तोदयाभिधा ॥३॥
तदा लङ्कोदयैर्लग्नं मध्यसंज्ञं यथोदितम् ।
तत्क्रान्त्यक्षांशसंयोगो दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ॥४॥
शेषं नतांशास्तन्मौर्वी मध्यज्या साभिधीयते ।

भाषानुवाद—अमावास्या के अन्त काल में यदि सूर्य स्फुट और मध्य लग्न (अ० ३।४८) तुल्य हो तो लम्बन का सम्भव नहीं होता है अर्थात् उस समय लम्बन नहीं होता। उत्तर अक्षांश और दशम लग्न की क्रान्ति समान हो तो अवनति (नति) की भी सम्भावना नहीं होती, अर्थात् उस समय नति नहीं होती ॥१॥ देश और काल की विशेषता से जो गोल स्थित द्वारा जिस प्रकार नति की सम्भावना वा उत्पत्ति होती है और मध्य रेखा के पूर्व या पश्चिम में होने के कारण जो लम्बन होता है सो इस समय कहा जाता है ॥२॥ स्वदेशीय उदय प्राण से पर्वान्त (अमावास्या या पूर्णमासी) काल की (सायन) लग्न स्थिर करे। उस की भुजज्या को परमापक्रमज्या (१३९७) से गुणाकर गुणनफल में स्वदेशीय लम्बज्या का भाग दे, भागफल को "उदय" कहते हैं ॥३॥ पर्वान्त काल में लङ्का के उदय प्राण से (सायन) मध्य लग्न साधन करे। मध्यलग्न की क्रान्ति और अक्षांश एक दिशा में हों तो योग करे और यदि भिन्न दिशा में हों तो घटावे, शेष अङ्क नतांश होता है। उसको ज्या करने से मध्यज्या होती है ॥४॥

मध्योदयज्ययाभ्यस्ता त्रिज्याप्ता वर्गितं फलम् ॥५॥
मध्यज्यावर्गविश्लिष्टं दृक्क्षेपः शेषतः पदम् ।
तत्त्रिज्यावर्गविश्लेषान्मूलं शङ्कुः स दृग्गतिः ॥६॥

नतांशबाहुकोटिज्ये स्फुटे दृक्क्षेपदृग्गती।
एकज्यावर्गतश्छेदो लब्धं दृग्गतिजीवया ॥७॥
मध्यलग्नार्कविश्लेषज्या छेदेन विभाजिता।
रवीन्द्वोर्लम्बनं ज्ञेयं प्राक्पश्चाद् घटिकादिकम् ॥८॥
मध्यलग्नाधिके भानौ तिथ्यन्तात् प्रविशोधयेत्।
धनमूनेऽसकृत्कर्म यावत्सर्वं स्थिरीभवेत् ॥९॥
दृक्क्षेपः शीततिग्मांश्वोर्मध्यभुक्तयन्तराहतः।
तिथिघ्नत्रिज्यया भक्तो लब्धं सावनातिर्भवेत् ॥१०॥
दृक्क्षेपात् सप्ततिहृताद् भवेद्वावनतिः फलम्।
अथवा त्रिज्यया भक्तात्सप्तसप्तकसङ्गुणात् ॥११॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्त मध्यज्या को पूर्वानीत उदयज्या से गुणा करे, गुणनफल को त्रिज्या से भाग दे, भागफल को वर्ग करे। वर्गफल को मध्यज्या के वर्ग से घटावे। शेष अङ्क का वर्गमूल निकाले, वही दृक्क्षेप होगा। इस दृक्क्षेप वर्ग से त्रिज्या वर्ग घटाकर शेष अङ्क का मूल निकाले, वही मूल दृग्गति होगी ॥५,६॥ स्थूल पक्ष में दशम लग्न के नतांश की भुजज्या को दृक्क्षेप कहते हैं और कोटिज्या को दृग्गति कहते हैं ॥७॥ एक राशि के ज्या के वर्ग को दृग्गति (पूर्वोक्त ज्या) से भाग करे, भागफल "छेद" होगा। मध्यलग्न से उस काल के सूर्य को घटाकर उसकी ज्या बनावे, इस ज्या में छेद का भाग दे, भागफल दण्डादि मध्यलग्न से पूर्व और पश्चिम निश्चय कर सूर्य से चन्द्रमा के लम्बन दण्डादि स्थिर होंगे ॥८॥ मध्यलग्न से सूर्य अधिक हो तो तिथ्यन्त से काल लम्बन घटावे और यदि न्यून हो तो जोड़े। पुनः लम्बन साधन करके तिथ्यन्त में संस्कार करे। जब तक स्थिर न हो तब तक ऐसा ही करता जावे ॥९॥ दृक्क्षेप (पूर्वानीत) को सूर्य की गति से चन्द्रमा की भुक्ति घटाकर, शेश अङ्क से गुणा कर गुणनफल में १५ गुणित त्रिज्या से (त्रिज्या को १५ से गुणा कर, गुणनफल से) भाग करे, भागफल अवनति (नति) स्थिर होगी ॥१०॥ दृक्क्षेप को ७० से भाग करे, भागफल प्रकारान्तर से कलादिक नति होगी। या दूसरे प्रकार से ४९ से गुणा कर गुणनफल में त्रिज्या से भाग देवे, भागफल कलादिक नति होगी ॥११॥

मध्यज्यादिग्वशात्सा च विज्ञेया दक्षिणोत्तरा।
सेन्दुविक्षेपदिक्साम्ये युवता विश्लेषितान्यथा ॥१२॥
तया स्थितिविमर्दार्धग्रासाद्यं तु यथोदितम्।
प्रमाणं बलनाभीष्टग्रासादि हिमरश्मिवत् ॥१३॥
स्थित्यर्धोनाधिकात् प्राग्वत्तिथ्यन्ताल्लम्बनं पुनः।
ग्रासमोक्षोद्भवं साध्यं तन्मध्यहरिजान्तरम् ॥१४॥

प्राक्कपालेऽधिकम्मध्याद् भवेत् प्राग्रहणं यदि ।
मौक्षिकं लम्बनं हीनं पश्चार्धे तु विपर्ययः ॥१५॥

भाषानुवाद—वह अवनति मध्यज्या को दिशानुसार दक्षिण और उत्तर में होती है अर्थात् जब मध्यज्या दक्षिण में होगी तो नति भी दक्षिण में होगी। एवं जब मध्यज्या उत्तर में होगी तो नति भी उत्तर में होगी। उस नति को चन्द्रमा और विक्षेप यदि एक दिशा में हों तो विक्षेप के साथ योग करे। एवं यदि चन्द्रमा और विक्षेप भिन्न भिन्न दिशा में हों तो विक्षेप से नति घटावे, शेष अङ्क स्फुट विक्षेप होगा ॥१२॥ अवनति संस्कृत विक्षेप (स्पष्ट विक्षेप) से स्थित्यर्द्ध, विमर्द्दार्द्ध, ग्रास, प्रमाण, बलन, अभीष्ट ग्रासापि चन्द्रग्रहण के समान स्थिर करना चाहिये ॥१३॥ तिथ्यन्त में स्थित्यर्द्ध हीन या जोड़े। ऐसी क्रिया अनेक बार करने से स्पर्श और मोक्ष काल का लम्बन साधित होगा। मध्य लग्न के पूर्व में रवि होने से स्पर्श कालीन लम्बन मध्य-कालीन की अपेक्षा से भी वह मोक्ष की अपेक्षा अधिक होगा। परन्तु पश्चिम दिशा में होने से विपर्यय होगा ॥१४,१५॥

तदा मोक्षस्थितिदले देयं प्राग्रहणे तथा ।
हरिजान्तरकं शोध्यं यत्रैतत्स्याद्विपर्ययः ॥१६॥
एतदुक्तं कपालैक्ये तद्भेदे लम्बनैकता ।
स्वे स्वे स्थितिदले योज्या विमर्दार्धेऽपि चोक्तवत् ॥१७॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

भाषानुवाद—उस समय मध्य लग्न के पूर्व में होने से मोक्ष लम्बन और मध्य लम्बन का अन्तर मोक्ष स्थित्यर्द्ध में योग और स्पर्श लम्बन और मध्य लम्बन के अन्तर स्पर्श स्थित्यर्द्ध योग अन्यथा इस के उलटा करने से स्पष्ट स्थित्यर्द्ध होगा। स्पर्श और मध्य या मध्य और मोक्ष यदि मध्य रेखा के दोनों दिशाओं में हों तो दोनों लम्बन योग करना पड़ेगा और स्थित दल में जोड़ना होगा। इसी प्रकार विम-र्दार्द्ध निश्चय करना चाहिये ॥१६।१७॥

इति भाषानुवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

ओ३म्

अथ षष्ठोऽध्यायः

परिलेखाधिकारः ॥

न छेद्यकमृते यस्माद् भेदा ग्रहणयोः स्फुटाः ।
ज्ञायन्ते तत्प्रवक्ष्यामि छेद्यकज्ञानमुत्तमम् ॥१॥
सुसाधितायामवनौ बिन्दुं कृत्वा ततो लिखेत् ।
सप्तवर्गाङ्गुलेनादौ मण्डलं बलनाश्रितम् ॥२॥
ग्राह्यग्राहकयोगार्धसम्मितेन द्वितीयकम् ।
मण्डलं तत्समासाख्यं ग्राह्यार्धेन तृतीयकम् ॥३॥
याम्योत्तराप्राच्यपरासाधनं पूर्ववद्दिशाम् ।
प्रागिन्दोर्ग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽर्कस्य विपर्ययात् ॥४॥
यथादिशं प्राग्ग्रहणं बलनं हिमदीधितेः ।
मौक्षिकं तु विपर्यस्तं विपरीतमिदं रवेः ॥५॥

भाषानुवाद—छेद्यक (गोल स्थिति को दिखलाने के लिये कल्पित प्रकार) के विना सूर्यग्रहण और उसकी स्पर्श और मोक्ष दिशा और परिमाण का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता अर्थात् सूर्य और चन्द्र ग्रहण में विम्ब मण्डल के किस ओर से ग्रहण आरम्भ हो कर किस ओर समाप्त होगा और कितना भाग मण्डल का आच्छादित (ग्रहण) होगा, यह विषय विना छेद्यक के भली भांति नहीं ज्ञात होगा। इस लिये उत्तम ज्ञानसाधक छेद्यक को कहता हूं ॥१॥ जल की नांई बरावर की हुई भूमि (अभीष्ट स्थान) में वृत्त मध्य बिन्दु अर्थात् केन्द्र ज्ञापक चिह्न (point) करे, पुनः उस बिन्दु से ४९ अङ्गुल परिमित व्यासार्द्ध से "बलन" देने के लिये एक वृत्त लिखे ॥२॥ ग्राह्य और ग्राहक को विम्वमान की अङ्गुलियों के आधे परिमित, व्यासार्द्ध से दूसरा वृत्त लिखे। इस का नाम समास वृत्त होगा। और ग्राह्य के बिम्बमान के अङ्गुलियों के अर्ध परिमित व्यासार्द्ध से तीसरा वृत्त लिखे ॥३॥ पूर्ववत् (अ० ३। श्लो० १--४ उक्त) आठ दिशाओं में से याम्योत्तर एवं पूर्वापर रेखा अर्थात् दक्षिण उत्तर रेखा एवं पूर्व और पश्चिम को गई रेखा को साधन करे। चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा के बिम्वमण्डल की पूर्व ओर स्पर्श (ग्रहण आरम्भ) एवं पश्चिम ओर मोक्ष (ग्रहण समाप्त) होता है और सूर्यग्रहण में इसके विपरीत होता है अर्थात् सूर्यमण्डल के पश्चिम भाग में स्पर्श एवं पूर्व भाग में मोक्ष होता है ॥४॥ चन्द्रमा के

ग्राह्य स्पार्शिक बलन को पूर्व चिह्न से दक्षिण हो तो दक्षिण में, उत्तर हो तो उत्तराभिमुख देवे। पूर्व और पश्चिम सूत्र (रेखा) अर्द्धज्या की नांई बलनाश्रित वृत्त में वलन देवे, (इसलिये उस वृत्त को वलनाश्रित वृत्त संज्ञा है) चन्द्रमा के मोक्ष कालिक बलन को विपरीत भाव से पश्चिम चिह्न से पूर्वापर सूत्र से अर्द्धज्या की नांई दक्षिण हो तो उत्तराभिमुख, उत्तर हो तो दक्षिणाभिमुख बलन देवे। सूर्यग्रहण में चन्द्रग्रहण की अपेक्षा उलटे प्रकार से बलनदान होगा। मोक्ष कालिक वलन पूर्व चिह्न से पूर्वापर सूत्र से अर्द्धज्या की नांई दक्षिण हो तो दक्षिणाभिमुख, उत्तर हो तो उत्तराभिमुख देना। स्पर्श कालिक वलन, पश्चिम चिह्न से पूर्वापर सूत्र (रेखा) अर्द्ध ज्या की नांई दक्षिण हो तो उत्तराभिमुख, उत्तर हो तो दक्षिणाभिमुख ॥५॥

विवरण — श्लोक ४—शीघ्रगामी चन्द्रमा सूर्य से छः राशि (१८० अंश) अन्तर में पूर्व की ओर चलता चलता पृथिवी की छाया में आ जाता है। इस कारण चन्द्रग्रहण में पहिले पूर्व दिशा से (मण्डल के) म्लान होता है। एवं पश्चिम दिशा में मोक्ष होता है। और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को पीछे आकर ढक लेता है, इसलिये सूर्य के पश्चिम दिशा में स्पर्श और पूर्वभाग में मोक्ष होता है।

बलनाग्रान्नयेन्मध्यं सूत्रं तद्यत्र संस्पृशेत्।
तत्समासे ततो देयौ विक्षेपौ ग्रासमौक्षिकौ ॥६॥
विक्षेपाग्रात् पुनः सूत्रं मध्यबिन्दुं प्रवेशयेत्।
तद्ग्राह्यबिन्दुसंस्पर्शाद् ग्रासमोक्षौ विनिर्दिशेत् ॥७॥
नित्यशोऽर्कस्य विक्षेपाः परिलेखे यथादिशम्।
विपरीताः शशाङ्कस्य तद्वशादथ मध्यमम् ॥८॥
बलनं प्राङ्मुखं देयं तद्विक्षेपैकता यदि।
भेदे पश्चान्मुखं देयमिन्दोर्भानोर्विपर्ययात् ॥९॥
बलनाग्रात्पुनः सूत्रं मध्यबिन्दुं प्रवेशयेत्।
मध्यसूत्रेण विक्षेपं बलनाभिमुखं नयेत् ॥१०॥

भाषानुवाद—बलनाग्र (प्रथम वृत्त में जहां स्पार्शिक वलनाग्र और जहां मौक्षिक बलनाग्र जाना गया है) से मध्यविन्दु (केन्द्ररूप) तक सूत्र (रेखा) रचना करे। इस रेखा को समास नामक द्वितीय वृत्त में जिस प्रदेश में स्पर्श (छुए) करे, उस रेखा से समास वृत्त में जिस अर्द्धज्या की नाई, स्पर्श और मोक्ष का विक्षेप यथायोग्य देना ॥६॥ समास वृत्त में विक्षेपाग्र से जिस स्थान में ग्राह्यवृत्त का स्पर्श किया है, वहां से रेखा को द्वितीय वार बलनाग्र से रेखा में मध्य केन्द्र तक उसी प्रकार विक्षेपाग्र से मध्य विन्दु तक रेखा प्रवेश करे। उस रेखा से ग्राह्य बिम्ब के वृत्त और परिधि के संयोग स्थान से ग्रास और मोक्ष दिखलावे, स्पार्शिक शराग्ररेखा को ग्राह्य-

वृत में जहां पर मिला हुआ है वहां स्पर्श और मौक्षिक शराग्ररेखा को ग्राह्यवृत्त में जहां संयोग हुआ है, वहां मोक्ष कहे ।।७।। सूर्यग्रहण के परिलेख (ग्रहण को दिखलाने के लिये कल्पित प्रकार) में नित्य ही चन्द्रमा के विक्षेप अपनी ठीक दिशा में होते हैं । और चन्द्रग्रहण में चन्द्र विक्षेप यदि विपरीत दिशा में हों तो अर्थात् दक्षिण में हों तो उत्तर और उत्तर में हों तो दक्षिण विक्षेप होते हैं । इसी के अनुसार स्पार्शिक और मौक्षिक विक्षेप देवे, (यह उदाहरण विपरीत दिशा का दिया गया है) तत्पश्चात् मध्य ग्रहण कालिक दिशा के साथ सूर्यग्रहण में मध्य ग्रहण कालिक स्पष्ट विक्षेप दिक् चिह्न से और चन्द्रग्रहण में मध्य कालिक विपरीत दिक् चिह्न से, यदि उस विक्षेप की एकता हो तो बलन विक्षेप मध्य ग्रहण कालिक विक्षेप है । आशय यह है कि इन दोनों की एक दिशा होगी (यहां चन्द्र विक्षेप दिशा का यथा दिक् स्थित होना ही विपरीत दिशा जानना) ।

विक्षेपाग्राल्लिखेद् वृत्तं ग्राहकार्धेन तेन यत् ।
ग्राह्यवृत्तं समाक्रान्तं तद् ग्रस्तं तमसा भवेत् ।।११।।
छेद्यकं लिखता भूमौ फलके वा विपश्चिता ।
विपर्ययो दिशां कार्यः पूर्वापरकपालयोः ।।१२।।
स्वच्छत्वाद् द्वादशांशोऽपि ग्रस्तश्चन्द्रस्य दृश्यते ।
लिप्तात्रयमपि ग्रस्तं तीक्ष्णत्वान्न विवस्वतः ।।१३।।
स्वसंज्ञितास्त्रयः कार्या विक्षेपाग्रेषु बिन्दवः ।
तत्र प्राङ्मध्ययोर्मध्ये तथा मौक्षिकमध्ययोः ।।१४।।

भाषानुवाद—मध्यकालिक बलनाग्र से मध्य बिन्दु तक रेखा रचना करे । इस रेखा पर मध्यबिन्दु से पुनः बलनाभिमुख विक्षेप का चिह्न करे । ग्राहक के मान को आधा करे । उस आधे परिमाण को व्यासार्द्ध के साथ विक्षेपाग्र के चारों ओर वृत्त कल्पना करने से जो वृत्त होगा वह वृत्त ग्राह्य वृत्त में जितना व्याप्त हो वही तमसावृत अर्थात् उतना भाग मण्डल का ग्राहक से आच्छादित होकर अन्धकार से घिर जावेगा ।।१०,११।। समतल भूमि में या फलक (काठ की पट्टी) पर छेद्यक लिख कर पूर्वापर कपाल लौट पौट करे अर्थात् पूर्व कपाल में बाईं ओर से पश्चिम लिखना और पश्चिम कपाल में बाईं ओर से पूर्व लिखना, यह तो ठीक क्रम से हुआ । परन्तु इसको बदल कर करना कि पूर्व के स्थान में पश्चिम और पश्चिम के स्थान में पूर्व लिखना ।।१२।। चन्द्रमा की स्वच्छा के कारण चन्द्रमण्डल के १२ अंश ग्रहण होने पर भी हम लोग देखते हैं । परन्तु सूर्य की किरणों की प्रखरता से ३ कला का सूर्य ग्रहण भी हम लोगों को नहीं दिखलाई देता ।।१३।। विक्षेपाग्रों में स्पार्शिक विक्षेप मौक्षिक विक्षेप एवं माध्य विक्षेपों का पहिले अपने अपने स्थान में स्पर्श मोक्ष

और मध्यग्रहण जानने के लिये अग्रिम भाग में अपने अपने नाम का साङ्केतिक बिन्दु लिखे। जैसे—स्पर्श शर के अग्रभाग में स्पर्श चिह्नाङ्कित बिन्दु, मोक्ष शर के आगे मो० चि० बिन्दु, एवं मध्यशर के आगे म० चि० बिन्दु लिखे। इस प्रकार तीनों बिन्दुओं को स्थापन करे॥१४॥

लिखेन्मत्स्यौ तयोर्मध्यान्मुखपुच्छविनिःसृतम्।
प्रसार्य सूत्रद्वितयं तयोर्यत्र युतिर्भवेत्॥१५॥
तत्र सूत्रेण विलिखेच्चापं बिन्दुत्रयस्पृशा।
स पन्था ग्राहकस्योक्तो येनासौ सम्प्रयास्यति॥१६॥
ग्राह्यग्राहकयोगार्धात् प्रोज्झ्येष्टग्राससमागतम्।
अवशिष्टाङ्गुलसमां शलाकां मध्यबिन्दुतः॥१७॥
तयोर्मार्गोन्मुखीं दद्याद् ग्रासतः प्राग्ग्रहाश्रिताम्।
विमुञ्चतो मोक्षदिशि ग्राहकाध्वानमेव सा॥१८॥
स्पृशेद्यत्र ततो वृत्तं ग्राहकार्धेन संलिखेत्।
तेन ग्राह्याद्यदाक्रान्तं तत्तमोग्रस्तमादिशेत्॥१९॥

भाषानुवाद—स्पर्श और मध्यबिन्दु के द्वारा (अ० ३ श्लोक २,३) और मोक्ष एवं मध्यबिन्दु द्वारा दो मत्स्य अङ्कित करे और दोनों मत्स्य रेखाओं के बीच से उनके मुख और पृच्छ से निकलती हुई दो रेखा खींचे। जहां इन दो रेखाओं का संयोग हो उसको केन्द्र मान कर उक्त तीन बिन्दुओं को छूता हुआ एक धनुष् बनावे। वह धनुष् ही ग्राहक का मार्ग होगा। अर्थात् जिस मार्ग से ग्राहक ग्रास्य विम्ब को आच्छादन के लिये जावेगा॥१५,१६॥ ग्राह्य और ग्राहक मान को एकत्र जोड़े, पुनः इस के आधे से इष्ट ग्रास घटाकर जो वचे, उस परिमाण से मध्यविन्दु से रेखा उसी मार्ग की ओर खींचे। मध्यग्रहण के पूर्व होने पर स्पर्श दिशा में और मध्यग्रहण के पश्चिम दिशा में होने पर मोक्षाभिमुख एक रेखा लावे। रेखान्त बिन्दु को केन्द्र मान कर ग्राहक मान के आधे परिमाण से सम्यक्तया एक वृत्त रचना करे, वह वृत्त और ग्राह्य वृत्त दोनों के अधिकृत अंश ही तत्कालीन आच्छादित अंश हैं॥१७—१९॥

मानान्तरार्धेन मितां शलाकां ग्रासदिङ्मुखीम्।
निमीलनाख्यां दद्यात् सा तन्मार्गे यत्र संस्पृशेत्॥२०॥
ततो ग्राहकखण्डेन प्राग्वन्मण्डलमालिखेत्।
तद्ग्राह्यमण्डलयुतिर्यत्र तत्र निमीलनम्॥२१॥
एवमुन्मीलने मोक्षदिङ्मुखीं सम्प्रसारयेत्।
विलिखेन्मण्डलं प्राग्वदुन्मीलनमथोक्तवत्॥२२॥

अर्धादूने सधूम्रं स्यात्कृष्णमर्धाधिकं भवेत् ।
विमुञ्चतः कृष्णताम्रं कपिलं सकलग्रहे ॥२३॥
रहस्यमेतद्देवानां न देयं यस्य कस्य चित् ।
सुपरीक्षितशिष्याय देयं वत्सरवासिने ॥२४॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

भाषानुवाद—ग्राह्य मान से ग्राहकमान को घटावे, शेष फल के आधे परिमाण की एक शलाका ग्रास दिशा में उस मार्ग पर स्थापन करे और उस के अग्र भाग को केन्द्र कर ग्राहकमान के परिमाण का वृत्त खींचे। उस वृत्त में जहां पर वह मण्डल को छुवे उसी दिशा में निमीलन आरम्भ होगा ॥२०,२१॥ इस प्रकार से मोक्ष दिशा की ओर उक्त शलाका को स्थापन करके पूर्ववत् अर्थात् जहां पर मण्डल स्पर्श करे वही "उन्मीलन" दिशा होगी ॥२२॥ चन्द्रग्रहण में ग्रास आधे से न्यून होने पर धूम्रवर्ण, आधे से अधिक होने पर काला रङ्ग, जब मण्डल का तीन हिस्सा तो काला और लाल मिला हुआ रङ्ग, और संपूर्ण ग्रास होने पर मण्डल कपिलवर्ण (जर्द रङ्ग) होगा। एवं मोक्ष काल में लाल काला मिला हुआ रङ्ग होता है ॥२३॥ यह छेद्यक ज्ञान का तत्त्व विद्वानों के लिये रहस्य है, इसलिये जिस किसी अपरीक्षित (जिस की भलीभांति ज्योतिष विद्या में तीक्ष्ण बुद्धि न पाई जावे) सर्वसाधारण व्यक्ति को इसका उपदेश न करना चाहिये। किन्तु एक वर्स तक जिस विद्यार्थी की परीक्षा ले ली है, उसी शिष्यो को इसका उपदेश करना चाहिये ॥२४॥

विवरण—श्लोक २३—**भूमि की छाया में कोई प्रकाश नहीं, इस कारण चन्द्रमा की आच्छादिका होने पर चन्द्रग्रहण में अनेक प्रकार के रङ्ग दीखते हैं और चन्द्रमा जलस्वरूप सूर्य का आच्छादक होता है। इस कारण सूर्यग्रहण में सदा काला रङ्ग होता है, दूसरा रङ्ग नहीं होता। इस कारण यहां सूर्य ग्रहण का रङ्ग नहीं कहा गया।**

इति भाषानुवादे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

———

ओ३म्

अथ सप्तमोऽध्यायः

ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ ।
समागमः शशाङ्केन सूर्येणास्तमनं सह ॥१॥
शीघ्रे मन्दाधिकेऽतीतः संयोगो भवितान्यथा ।
द्वयोः प्राग्यायिनोरेवं वक्रिणोस्तु विपर्ययात् ॥२॥
प्राग्यायिन्यधिकेऽतीतो वक्रिण्येष्यः समागमः ।
ग्रहान्तरकलाः स्वस्वभुक्तिलिप्तासमाहताः ॥३॥
भुक्त्यन्तरेण विभजेदनुलोमविलोमयोः ।
द्वयोर्वक्रिण्यथैकस्मिन् भुक्तियोगेन भाजयेत् ॥४॥
लब्धं लिप्तादिकं शोध्यं गते देयं भविष्यति ।
विपर्ययाद् वक्रगत्योरेकस्मिंस्तु धनव्ययौ ॥५॥

भाषानुवाद—पांच तारा ग्रहों अर्थात् मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि के परस्पर योग (एक के साथ दूसरे का मिलना) का नाम "युद्ध" और "समागम" कहा जाता है। चन्द्रमा के साथ उक्त पांचों ग्रहों में से किसी एक ग्रह के योग का नाम "समागम" और सूर्य के साथ उक्त पांचों ग्रहों में से किसी एक ग्रह के योग का नाम "अस्तमन" है॥१॥ जिन दो ग्रहों का "योग" जानना हो उनमें से यदि शीघ्रगामी ग्रह मन्दगामी ग्रह की अपेक्षा अधिक हो तो "योग" गत (हो गया अभीष्ट काल से पहिले) और मन्दगामी ग्रह शीघ्रगामी ग्रह की अपेक्षा अधिक हो तो "योग" भावी (इष्ट काल के पीछे होगा) जानना। यह नियम दो पूर्वगामी ग्रहों के लिये है और वक्रगामी ग्रहों का तो उसके उलटा होता है, अर्थात् वक्री मन्दगामी ग्रह की अपेक्षा वक्री शीघ्रगामी ग्रह अधिक हो तो "योग" भावी और वक्री शीघ्रगामी ग्रह की अपेक्षा वक्री मन्दगामी ग्रह अधिक हो तो "योग" गत जानना और दोनों ग्रहों में से एक वक्री, एवं दूसरा पूर्वगामी ग्रह हो तो . वक्रीग्रह से पूर्वगामी ग्रह अधिक हो तो "योग" गत और पूर्वगामी ग्रह से मन्दगामी ग्रह अधिक हो तो "योग" भावी जानना ॥२॥ दो (जिनका योग) इष्टकालिक ग्रहों की अन्तर कला को (एक की कला को दूसरे की कला से घटाकर) अलग अलग अपनी अपनी गति, कला द्वारा गुणाकर, गुणनफल में दोनों सरलगामी या वक्रगामी हों उनकी स्फुटगति के अन्तर कला (घटाकर) का भाग देवे। अब इसमें विशेषता यह है कि यदि दोनों ग्रहों में से एक

वक्री हो तो दोनों के गति कलाके योग से भाग देवे और अपने अपने भागफल कलादिक का योग गत हो तो सरलगामी ग्रहों से घटावे और योग भावी हो तो दोनों में योग करे और दोनों वक्रगामी ग्रहों के अपने अपने भागफल कलादि का योग गत हो तो जोड़े और भावी हो तो घटावे। दोनों ग्रहों में से एक ग्रह वक्री हो तो दोनों सरलगामी एवं वक्रगामी ग्रहों के अपने अपने कलात्मक फलाङ्क को योग और वियोग करे, अर्थात् योग गत होने पर सरलगामी ग्रह से फल को घटावे और वक्रीग्रह में फल को जोड़े और यदि योग भावी हो तो वक्री ग्रह से फल को घटावे, एवं सरलगामी ग्रह में जोड़े ॥३—५॥

समलिप्तौ भवेतां तौ ग्रहौ भगणसंस्थितौ।
विवरं तद्वदुद्धृत्य दिनादि फलमिष्यते ॥६॥
कृत्वा दिनक्षपामानं तथा विक्षेपलिप्तिकाः।
नतोन्नतं साधयित्वा स्वकाल्लग्नवशात्तयोः ॥७॥
विषुवच्छायया‍भ्यस्ताद्विक्षेपाद् द्वादशोद्धृतात्।
फलं स्वनतनाडीघ्नं स्वदिनार्धविभाजितम् ॥८॥
लब्धं प्राच्यामृणं सौम्याद्विक्षेपात्पश्चिमे धनम्।
दक्षिणे प्राक्कपाले स्वं पश्चिमे तु तथा क्षयः ॥९॥
सत्रिभग्रहजक्रान्तिभागघ्नाः क्षेपलिप्तिकाः।
विकलाः स्वमृणं क्रान्तिक्षेपयोर्भिन्नतुल्ययोः ॥१०॥

भाषानुवाद—उक्त क्रिया पर दोनों ग्रहों की राशि चक्र में संस्थिति (मोकाम) अर्थात् राशि, अंश, कला समान होंगी। "योग" काल जानना हो तो दोनों ग्रहों की अन्तर कला को पूर्वोक्त हारक द्वारा भाग करने पर भागफल जो दिनादि होगा वह समकला काल से इष्ट काल के अन्तर दिनादि होगा ॥६॥ दोनों समकलाकालीन ग्रहों का दिनमान, रात्रिमान और विक्षेप कला का निश्चय करके, ग्रहस्थान गत लग्न से नत और उन्नत का निश्चय करे ॥७॥ विक्षेप को विषुवच्छाया से गुणा कर, गुणनफल को १२ से भाग करे, भागफल को अपने नतदण्ड से गुणा कर गुणनफल में दिनार्द्ध (रात्रि में रात्र्यर्द्ध से) का भाग देवे, भागफल अक्षदृग् ग्रह होगा। इस फल को उत्तर विक्षेप होने से पूर्व कपाल में अक्षदृग् ग्रह स्पष्ट से घटावे और पश्चिम कपाल में जोड़े और यदि दक्षिण विक्षेप हो तो उत्तर भागफल को पूर्व कपाल में योग और पश्चिम कपाल में घटावे ॥८,९॥ तीन राशि मिले हुवे ग्रह स्पष्ट के अनुसार लाये हुवे क्रान्ति के अंश से विक्षेप कला को गुणा करे। गुणनफल विकला (आयन दृक्कर्म की) होगी। पूर्वोक्त क्रान्ति और विक्षेप यदि भिन्न भिन्न दिशा में हों तो ग्रह में योग करे और यदि दोनों एक दिशा में हों तो ग्रह में घटावे ॥१०॥

विवरण—श्लोक ७—अ० ३। श्लोक ४९ के अनुसार ग्रहों के दिनगत, रात्रिगत का निश्चय करे। दिन में जो भाग वीत गया, तथा वीतने वाला है उसके अर्थात् गत और गम्य के अल्प भाग का नाम "उन्नत" और दिन और रात्रि से न्यून अर्थात् दिन के आधे या रात्रि के आधे की ग्रह का "नत" होता है। जिस अंश में ग्रह स्थित है उसके उदय (लग्न) का समय स्थिर करके उससे ग्रह का मध्योदय काल ग्रह का दिनार्द्धमान योग करने से निकल आता है। मध्योदय काल नियत हो जाने पर इष्टदण्ड की पृथक्ता से नतोन्नत अनायास ज्ञात हो जाते हैं।

नक्षत्रग्रहयोगेषु ग्रहास्तोदयसाधने ।
शृङ्गोन्नतौ तु चन्द्रस्य दृक्कर्मादाविदं स्मृतम् ॥११॥
तात्कालिकौ पुनः कार्यौ विक्षेपौ च तयोस्ततः ।
दिक्तुल्ये त्वन्तरं भेदे योगः शिष्टं ग्रहान्तरम् ॥१२॥
कुजार्किज्ञामरेज्यानां त्रिंशदर्धार्धवर्धिताः ।
विष्कम्भाश्चन्द्रकक्षायां भृगोः षष्टिरुदाहृताः ॥१३॥
त्रिचतुष्कर्णयुत्याप्तास्ते द्विघ्नास्त्रिज्यया हताः ।
स्फुटाः स्वकर्णास्तिथ्याप्ता भवेयुर्मानलिप्तिकाः ॥१४॥

भाषानुवाद—नक्षत्र और ग्रह के योग जानने के लिये ग्रहों के उदयास्त के निमित्त चन्द्रमा की शृङ्गोन्नति के निमित्त नक्षत्रों के उदयास्त निमित्त पूर्ववत् पहिले आक्षदृक् एवं आयन दृक्कर्म करे। (यहां नक्षत्रों का आयन दृक्कर्म हो चुका है। इस लिये नक्षत्रों का आयन दृक्कर्म न करे) ॥११॥ पुनः उसी प्रकार (श्लोक २।३,६) मध्य और स्पष्टादि क्रिया द्वारा दोनों को तात्कालिक करे, इन के विक्षेप को भी तात्कालिक करे, यदि इससे भी दोनों ग्रह समकलाकालीन न हों तो अनेक वार इसी प्रकार करता जावे। जब स्थिर हो जावे तो यदि विक्षेप एक दिशा में हो तो वियोग करे और भिन्न दिशा में हो तो योग करने पर ग्रहान्तर अर्थात् दोनों ग्रहों के बिम्ब और केन्द्र का उत्तर, एवं दक्षिण सिद्ध होगा ॥१२॥ चन्द्रमा की कक्षा में मङ्गल का बिम्ब व्यास ३०, शनि का बिम्ब व्यास ३७½, बुध का बिम्ब व्यास ४५, बृहस्पति का बिम्ब व्यास ५२½, शुक्र का बिम्ब व्यास ६० है। इन बिम्ब व्यासों को द्विगुणित त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल में त्रिज्या और चतुर्थ कर्म में शीघ्र कर्ण में जोड़ कर योगफल से भाग देवे, भागफल स्वस्पष्ट बिम्बव्यास होगा। इस स्पष्ट व्यास को १५ से भाग करे, भागफल कलादिमान होगा ॥१३,१४॥

छायाभूमौ विपर्यस्ते स्वच्छायाग्रे तु दर्शयेत् ।
ग्रहः स्वदर्पणान्तःस्थः शङ्क्वग्रे सम्प्रदृश्यते ॥१५॥

पञ्चहस्तोच्छ्रितौ शङ्कू यथादिग्भ्रमसंस्थितौ ।
ग्रहान्तरेण विक्षिप्तावधोहस्तनिखातगौ ॥१६॥
छायाकर्णौ ततो दद्याच्छायाग्राच्छङ्कुमूर्धगौ ।
छायाकर्णाग्रसंयोगे संस्थितस्य प्रदर्शयेत् ॥१७॥
स्वशङ्कुमूर्धगौ व्योम्नि ग्रहौ दृक्तुल्यतामितौ ।
उल्लेखं तारकास्पर्शाद् भेदे भेदः प्रकीर्त्यते ।
युद्धमंशुविमर्दाख्यमंशुयोगो परस्परम् ॥१८॥
अंशादूनेऽपसव्याख्यं युद्धमेकोऽत्र चेदणुः ।
समागमोंऽशादधिके भवतश्चेद् बलान्वितौ ॥१९॥

भाषानुवाद—छाया देने के लिये वराबर की हुई भूमि में शङ्कु स्थापन करके ग्रह के दूसरी दिशा में दृग्ज्या से छायाग्र दिखलावे। छायाग्र में दर्पण (आइना) रखने से दर्पणान्तर स्थित ग्रह और शङ्कु के आगे समसूत्र में दिखाई देगा ॥१५॥ पांच पांच हाथ लम्बी (२४ अङ्गुल का एक हाथ) दो शङ्कु (काष्ठ का सकोमल बनाया हुआ दण्ड) को युति काल में दोनों ग्रह अपने संस्थान से जिधर को हों उसी ओर दक्षिण और उत्तर रेखा के बीच एक- अङ्गुल अन्तर में भूमि में एक हाथ गहरा करके गाड़ देवे, जिससे दोनों शङ्कु चार हाथ ऊपर को खड़ी रहें। छायाग्र से शङ्कु के ऊर्ध्वाग्र तक दो छाया निर्णय करे। छाया और कर्णाग्र रेखा में स्थित मनुष्य को ग्रह दिखलावे, वह भी शंकु के आगे ग्रह को देखेगा ॥१६,१७॥ भौमादि (मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर) पांच ग्रहों के परस्पर योग में ग्रहस्पर्श से बिम्बनेमि स्पर्शमात्र का नाम "उल्लेख" युद्ध है। दोनों ग्रहों के मान के एक खण्ड के तुल्य दक्षिण और उत्तर में मण्डल भेद होने से "भेद" नामक युद्ध होता है। परस्पर दोनों की किरणें यदि मिल जावें तो "अंशुविमर्द" नामक युद्ध होता है। दोनों के दक्षिण उत्तर अंश से ६० कलात्मक से एक अंश भी न्यून पार्थक्य होने पर "अपसव्य" नामक युद्ध होता है। इस अपसव्य युद्ध में दोनों ताराओं में से यदि एक तारा छोटी है तो प्रकाशयुद्ध होता है और दोनों यदि समान हों तो अप्रकाश युद्ध होता है। दक्षिण और उत्तर अन्तर में ६० भाग में से एक भाग अधिक होने पर "समागम" होता है, परन्तु यदि दोनों ग्रह बलवान् (स्थूल मण्डल तथा स्थूल बिम्ब वाले) हों तो समागम प्रकाश होगा और यदि ऐसा न हो तो समागम अप्रकाश होगा ॥१८,१९॥

अपसव्ये जितो युद्धे पिहितोऽणुरदीप्तिमान् ।
रुक्षो विवर्णो विध्वस्तो विजितो दक्षिणाश्रितः ॥२०॥
उदक्स्थो दीप्तिमान्स्थूलो जयी याम्येऽपि यो बली ॥२१॥

आसन्नावप्युभौ दीप्तौ भवतश्चेत्समागमः ।
स्वल्पौ द्वावपि विध्वस्तौ भवेतां कूटविग्रहौ ॥२२॥
उदक्स्थो दक्षिणस्थो वा भार्गवः प्रायशो जयी ।
शशाङ्केनैवमेतेषां कुर्यात्संयोगसाधनम् ॥२३॥
भावाभावाय लोकानां कल्पनेयं प्रदर्शिता ।
स्वमार्गगाः प्रयान्त्येते दूरमन्योन्यमाश्रिताः ॥२४॥

इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

भाषानुवाद—दोनों ग्रहों में से एक दूसरे से विध्वस्त हो जावे उसको पराजित जानना। अपसव्य युद्ध में थोड़ी प्रभावाला, ढका हुआ, छोटे बिम्ब वाला ग्रह पराजित होता है। यह ग्रह रूखा, विवर्ण, प्रभावरहित और दक्षिणस्थ होता है ॥२०॥ अन्य ग्रह की अपेक्षा उत्तर दिक्स्थ ग्रह प्रकाशयुक्त स्थूलबिम्ब और जयी होता है। दक्षिण दिशा में बलवान् होने पर ग्रह जयी होता है ॥२१॥ दोनों ग्रह दीप्तिमान् होकर निकट एक भाग में आ जायें तो "समागम" युद्ध होता है। जो दोनों ही थोड़ी दीप्ति वाले और विध्वस्तबिम्ब हों तो "कूटविग्रह" (कूट और विग्रह) नामक युद्ध होता है ॥२२॥ उत्तर दिशा में या दक्षिण दिशा में हो, शुक्र प्रायः इतर ग्रहों की अपेक्षा दोनों ही दिशाओं में जयी होता है। मङ्गलादि पांच ग्रहों का चन्द्रमा के साथ संयोग काल पूर्वोक्त रीति से साधन करे ॥२३॥ ग्रहगण परस्पर दूरस्थित अपनी अपनी कक्षा में चलते हैं। वे कभी कभी इकट्ठे चलते दीख पड़ते हैं। इस कारण मनुष्यों के ज्ञान के लिये उन ग्रहों के युतिविषयक नियम दिखलाये गये ॥२४॥

इति भाषानुवादे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

ओ३म्

अथाष्टमोऽध्यायः

प्रोच्यन्ते लिप्तिका भानां स्वभोगोऽथ दशाहतः ।
भवन्त्यतीतधिष्ण्यानां भोगलिप्तायुता ध्रुवाः ॥१॥
अष्टार्णवाः शून्यकृताः पञ्चषष्टिर्नगेषवः ।
अष्टार्था अब्धयोऽष्टागा अङ्गागा मनवस्तथा ॥२॥
कृतेषवो युगरसाः शून्यबाणा वियद्रसाः ।
खवेदाः सागरनगा गजागाः सागरर्तवः ॥३॥
मनवोऽथ रसा वेदा वैश्वमाप्यार्धभोगगम् ।
आप्यस्यैवाभिजित्प्रान्ते वैश्वान्ते श्रवणस्थितिः ॥४॥
त्रिचतुःपादयोः संधौ श्रविष्ठा श्रवणस्य तु ।
स्वभोगतो वियन्नागाः षट्कृतिर्यमलाश्विनः ॥५॥
रन्ध्रादयः क्रमादेषां विक्षेपाः स्वादपक्रमात् ।
दिङ्मासविषयाः सौम्ये याम्ये पञ्च दिशो नव ॥६॥
सौम्ये रसाः खं याम्येऽगाः सौम्ये खार्कास्त्रयोदश ।
दक्षिणे रुद्रयमलाः सप्तत्रिंशदथोत्तरे ॥७॥
याम्येऽध्यर्धत्रिककृता नव सार्धशरेषवः ।
उत्तरस्यां तथा षष्टिस्त्रिंशत्षट्त्रिंशदेव हि ॥८॥
दक्षिणे त्वर्धभागस्तु चतुर्विंशतिरुत्तरे ।
भागाः षड्विंशतिः खं च दस्रादीनां यथाक्रमम् ॥९॥

भाषानुवाद—उत्तराषाढ़ा, अभिजित्, श्रवण और धनिष्ठा इन चार नक्षत्रों को छोड़कर अन्यान्य नक्षत्रों की कला संख्या कही जाती है। प्रत्येक नक्षत्र के वक्ष्यमाण भोगाङ्क को १० से गुणा कर, गुणनफल में अश्विन्यादि गत नक्षत्रों की भोग कला की समष्टि संख्या को जोड़े अर्थात् प्रतिनक्षत्र भोग ८०० कला के अनुसार अभीष्ट नक्षत्र (जिस नक्षत्र का ध्रुव जानना हो) पर्यन्त जितने नक्षत्र हों उन की समष्टि (योग) जोड़े, पुनः जोड़ने से जो योगफल हो वही नक्षत्रों का अपना अपना ध्रुव (द्राघिमा) होगा ॥१॥

भाषानुवाद—२—९ श्लोक तक अर्थ निम्नलिखत चक्र द्वारा लिखा गया है—

अनुक्रम संख्या	नक्षत्रों का नाम	स्वभोग	ध्रुव			विक्षेप		
		कला	राशि	अंश	कला	अंश	दिशा	
१	अश्विनी	४८	०	८	०	१०	उत्तर	
२	भरणी	४०	०	२०	०	१२	,,	
३	कृत्तिका	६५	१	७	३०	५	,,	
४	रोहिणी	५७	१	१९	३०	५	दक्षिण	
५	मृगशीर्ष	५८	२	३	०	१०	,,	
६	आर्द्रा	४	२	७	२०	९	,,	
७	पुनर्वसु	७८	३	३	०	६	उत्तर	
८	पुष्य	७६	३	१६	०	०	०	ठीक क्रान्तिवृत्त रेखा पर है, इसलिये इस का विक्षेप शून्य है ॥
९	आश्लेषा	१४	३	१९	०	७	दक्षिण	
१०	मघा	५४	४	९	०	०	०	ठीक क्रान्ति वृत्त रेखा पर है, वि० शून्य ॥
११	पूर्वाफल्गुनी	६४	४	२४	०	१२	उत्तर	
१२	उत्तराफल्गुनी	५०	५	५	०	१३	उत्तर	
१३	हस्त	६०	५	२०	०	११	दक्षिण	
१४	चित्रा	४०	६	०	०	२	,,	
१५	स्वाति	७४	६	१९	०	३७	उत्तर	
१६	विशाखा	७८	७	३	०	१½	दक्षिण	
१७	अनुराधा	६४	७	१४	०	३	,,	
१८	ज्येष्ठा	१४	७	१९	०	४	,,	
१९	मूल	६	८	१	०	९	,,	
२०	पूर्वाषाढा	४	८	१४	०	५½	,,	
२१	उत्तराषाढा[1]	[1]	८	२०	०	५	,,	'पूर्वाषाढा के अन्तर्गत है, इस लिये स्वभोग शून्य ॥
	अभिजित्	०	८	२६	४०	६०	उत्तर	पूर्वाषाढा के शेष भाग में है ॥
२२	श्रवणा	०	८	१०	०	३०	उत्तर	उत्तराषाढा के शेष भाग में है ॥

अनुक्रम संख्या	नक्षत्रों का नाम	स्वभोग	ध्रुव			विक्षेप		
		कला	राशि	अंश	कला	अंश	दिशा	
२३	धनिष्ठा	२०	९	२०	०	३६	उत्तर	श्रवणा के तृतीय एवं चतुर्थ पाद की सन्धि में है ।।
२४	शतभिषक्	८०	१०	२०	०	½	द०	
२५	पूर्वा भाद्रपदा	३६	१०	२६	०	२४	उ०	
२६	उत्तरा भाद्रपदा	२२	११	३७	०	२६	,,	
२७	रेवती	७९	११	२९	५०	०		ठीक क्रान्ति वृत्त रेखा पर है, वि० शून्य ।।

नक्षत्र योग तारा का कदम्बाभिमुख भोग । नक्षत्र योग तारा का कदम्बाभिमुख शर

अनुक्रम संख्या	नक्षत्र	भोग		शरदिशा	शर	
		अंश	कला		अंश	कला
१	अश्विनी	११	५९	उत्तर	९	११
२	भरणी	२४	३५	उत्तर	११	६
३	कृत्तिका	३९	८	उत्तर	४	४४
४	रोहिणी	४८	९	दक्षिण	४	४९
५	मृगशीर्ष	६१	३	दक्षिण	९	४९
६	आर्द्रा	६५	५०	दक्षिण	८	५३
७	पुनर्वसु	९२	५२	उत्तर	६	०
८	पुष्य	१०६	०	उत्तर	०	०
९	आश्लेषा	१०९	५९	दक्षिण	६	५६
१०	मघा	१२९	०	उत्तर	०	०
११	पूर्वा फल्गुनी	१३९	५८	उत्तर	११	१९
१२	उत्तरा फल्गुनी	१५०	१०	उत्तर	१२	५
१३	हस्त	१७४	२२	दक्षिण	१०	६
१४	चित्रा	१८०	४८	दक्षिण	१	५०
१५	स्वाति	१८३	२	उत्तर	३३	५०
१६	विशाखा	२१३	३१	दक्षिण	१	२५
१७	अनुराधा	२२४	४४	दक्षिण	२	५२

अनुक्रम संख्या	नक्षत्र	भोग अंश	भोग कला	शरदिशा	शर अंश	शर कला
१८	ज्येष्ठा	२३०	७	दक्षिण	३	५०
१९	मूल	२४२	५२	दक्षिण	८	४८
२०	पूर्वाषाढ़ा	२५४	३९	दक्षिण	५	२८
२१	उत्तराषाढ़ा	२६०	२३	दक्षिण	४	४९
	अभिजित्	२६४	१०	उत्तर	५९	५८
२२	श्रवण	२८२	२९	०	२९	५४
२३	धनिष्ठा	२९६	५	उत्तर	३५	३३
२४	शतभिषक्	३१९	५०	दक्षिण	०	२८
२५	पूर्वा भाद्रपदा	३३४	२५	उत्तर	२२	३०
२६	उत्तरा भाद्रपदा	३४७	१६	उत्तर	२४	१
२७	रेवती	३५९	५०	दक्षिण	०	०

अशीतिभागैर्याम्यायामगस्त्यो मिथुनान्तगः ।
विंशे च मिथुनस्यांशे मृगव्याधो व्यवस्थितः ॥१०॥
विक्षेपो दक्षिणे भागैः खार्णवैः स्वादपक्रमात् ।
हुतभुग्ब्रह्महृदयौ वृषे द्वाविंशभागगौ ॥११॥
अष्टाभिस्त्रिंशता चैव विक्षिप्तावुत्तरेण तौ ।
गोलं बद्ध्वा परीक्षेत विक्षेपं ध्रुवकं स्फुटम् ॥१२॥
वृषे सप्तदशे भागे यस्य याम्योऽशकद्वयात् ।
विक्षेपोऽभ्यधिको भिन्द्याद्रोहिण्याः शकटं तु सः ॥१३॥
ग्रहवद् द्युनिशे भानां कुर्याद् दृक्कर्म पूर्ववत् ।
ग्रहमेलकवच्छेषं ग्रहभुक्तया दिनानि च ॥१४॥

भाषानुवाद—श्लोक १० से ११½ तक का—

	नक्षत्र	ध्रुव राशि	ध्रुव अंश	ध्रुव कला	विक्षेप राशि	विक्षेप अंश	विक्षेप कला	दिशा
१	अगस्त्य	३	०	०	०	८०	०	दक्षिण
२	मृगव्याध	२	२०	०	०	४०	०	दक्षिण
३	अग्नि	१	२२	०	०	८	०	उत्तर
४	ब्रह्महृदय	१	२२	०	०	३०	०	उत्तर

वक्ष्यमाण गोल बांसग्रादि की शलाका से बांध कर ग्रर्थात् एक गोल यन्त्र तैयार कर भलीभांति नक्षत्रों के ध्रुव तथा विक्षेप की परीक्षा करने से सब विषय स्पस्टतया ज्ञात हो जावेगा ॥१२॥ रोहिणी नक्षत्र का ग्राकार शकट की नाईं है। जो ग्रह वृष राशि के १७ ग्रंश में ग्रवस्थित, एवं जिसका दक्षिण विक्षेप २ ग्रंश से ग्रधिक होगा, वह ग्रह रोहिणी के शकटाकार संनिवेश में प्रवेश करेगा, ग्रर्थात् शकटाकृति को काट देगा। भेदक ग्रह का विक्षेप रोहिणी के विक्षेप से न्यून होना चाहिये, क्योंकि दक्षिण विक्षेप रोहिणी के विक्षेप से ग्रधिक होने से शकटभेद नहीं होगा। यह रा० २। ग्रं० १७ वि० द० वेध द्वारा देखकर सिद्ध किया है ॥१३॥ नक्षत्र के साथ ग्रह योग जानने के लिये ग्रध्याय १।२ लिखित नियमानुसार नाक्षत्रिक ग्रहोरात्र का परिमाण ठीक कर नक्षत्र की द्राघिमा में दृक्कर्म (संस्कार) करे। तदनन्तर पहिले जो ग्रहों के विषय में जिस प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार यहां भी करना चाहिये। ग्रनन्तर ग्रभीष्ट काल में ग्रहों की दैनिक भुक्ति (गति) से पूर्वं रीत्यनुसार "गत" ग्रौर "गम्य" दिन निश्चय करे ॥१४॥

एष्यो हीने ग्रहे योगो ध्रुवकादधिके गतः।
विर्पर्ययाद्वक्रगते ग्रहे ज्ञेयः समागमः ॥१५॥

फल्गुन्योर्भाद्रपदयोस्तथैवाषाढयोर्द्वयोः।
विशाखाश्विनिसौम्यानां योगतारोत्तरा स्मृता ॥१६॥
पश्चिमोत्तरताराया द्वितीया पश्चिमे स्थिता।
हस्तस्य योगतारा सा श्रविष्ठायाश्च पश्चिमा ॥१७॥
ज्येष्ठाश्रवणमैत्राणां बार्हस्पत्यस्य मध्यमा।
भरण्याग्नेयपित्र्याणां रेवत्याश्चैव दक्षिणा ॥१८॥
रोहिण्यादित्यमूलानां प्राची सार्पस्य चैव हि।
यथा प्रत्यवशेषाणां स्थूला स्याद्योगतारका ॥१९॥

भाषानुवाद –ग्राक्षदृक्कर्म संस्कृत नक्षत्र ध्रुव से ग्रायनदृक्कर्मसंस्कृत ग्रह का ध्रुव न्यून होने से नक्षत्र ग्रौर ग्रह का योग ग्रभीष्ट काल से पीछे होगा ग्रौर ग्रधिक हो तो नक्षत्रयोग गत (हो गया) जानना। परन्तु वक्रगति ग्रह का उक्त नियम से विपरीत होता है, ग्रर्थात् ग्रह का ध्रुव न्यून हो तो नक्षत्रयोग "गत" एवं ग्रधिक हो तो नक्षत्र योग "गम्य" (होगा) जानना ॥१५॥ पूर्वा फल्गुनी, उत्तरा फल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, विशाखा, ग्रश्विनी ग्रौर मृगशिर इन नक्षत्रों की उत्तर दिशा में जो सब तारा हैं वे उनकी "योगतारा" हैं ॥१६॥ हस्त नक्षत्र के वायुकोण के पश्चिम भाग में जो तारा हैं उन को हस्तनक्षत्र की 'योगतारा' कहते हैं। धनिष्ठा नक्षत्र के पश्चिम में जो तारा हैं वह धनिष्ठा की "योगतारा"

हैं ॥१७॥ ज्येष्ठा, श्रवण, अनुराधा और पुष्य --इन नक्षत्रों के मध्य भाग में जो तारा हैं वे इनकी "योगतारा" हैं और भरणी, कृतिका, मघा और रेवती इनके दक्षिणस्थ तारायें इनकी "योगतारा" हैं ॥१८॥ रोहिणी, पुनर्वसु, मूल, आश्लेषा के पूर्व भाग में जो तारा हैं वे इन नक्षत्रों की "योगतारा" हैं । इनके अतिरिक्त शेष नक्षत्र अर्थात् आर्द्रा, चित्रा, स्वाति, अभिजित् और शतभिषक् इन नक्षत्रों के अपनी ताराओं में जो बहुत बड़ी तारा हैं वही इनकी "योगतारा" हैं ॥१९॥

पूर्वस्यां ब्रह्महृदयादंशकैः पञ्चभिः स्थितः ।
प्रजापतिर्वृषान्तेऽसौ सौम्येऽष्टत्रिंशदंशकैः ॥२०॥
अपांवत्सस्तु चित्रायाम् उत्तरेंऽशैस्तु पञ्चभिः ।
बृहत् किञ्चिदतो भागैरापः षड्भिस्तथोत्तरे ॥२१॥

इति अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

भाषानुवाद—प्रजापति नक्षत्र ब्रह्महृदयनामक नक्षत्र के ५ अंश पूर्व में स्थित है । इसका ध्रुव राशि १ अंश २७ और विक्षेप अंश ३८ उत्तर है ॥२०॥ चित्रा नक्षत्र के ५ अंश उत्तर में "अपांवत्स" नामक एक नक्षत्र है, इसका ध्रुव १८० अंश, एवं उत्तरविक्षेप ३ अंश है अपांवत्स से थोड़ी दूर पर "आप" नामक तारा है इसका ध्रुव १८० अंश एवं उत्तर विक्षेप ९ अंश हैं ॥२१॥

इति भाषानुवादे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

ओ३म्

अथ नवमोऽध्यायः

अथोदयास्तमययोः परिज्ञानं प्रकीर्त्यते ।
दिवाकरकराक्रान्तमूर्तीनामल्पतेजसाम् ॥१॥
सूर्यादभ्यधिकाः पश्चादस्तं जीवकुजार्कजाः ।
ऊनाः प्रागुदयं यान्ति शुक्रज्ञौ वक्रिणौ तथा ॥२॥
ऊना विवस्वतः प्राच्यामस्तं चन्द्रज्ञभार्गवाः ।
व्रजन्त्यभ्यधिकाः पश्चादुदयं शीघ्रयायिनः ॥३॥
सूर्यास्तकालिकौ पश्चात् प्राच्यामुदयकालिकौ ।
दिवा चार्कग्रहौ कुर्याद् दृक्कर्माथ ग्रहस्य तु ॥४॥
ततो लग्नान्तरप्राणाः कालांशाः षष्टिभाजिताः ।
प्रतीच्यां षड्भयुतयोस्तद्वल्लग्नान्तरासवः ॥५॥

भाषानुवाद—अब उदय (थोड़े तेजवाले ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादिक सूर्य से अलग होने पर जितने समय में पहिली बार दीख पड़ें) और अस्त (सूर्य से दूर होने पर जितने काल में जो ग्रह पहली बार दीख पड़ें) का परिज्ञान (सूक्ष्म रीति से) कहा जाता है। पहिले कहा जा चुका है कि जितने खस्थ पदार्थ अर्थात् ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादिक हैं, प्रायः सूर्य की किरणों से प्रकाशित होते हैं। उन में बहुत से थोड़े तेजवाले और कतिपय एक की अपेक्षा अधिक तेज वाले हैं। यहां चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और नक्षत्रों का उदयास्त कहा जावेगा ॥१॥ सूर्य स्पष्ट का राश्यादि से (राशि, अंश, कलादि) बृहस्पति, मङ्गल, शनि एवं वक्री बुध और शुक्र इन पांच ग्रहों की स्पष्ट राश्यादि अधिक होने से इनका अस्त पश्चिम दिशा में होता है। और सूर्य स्पष्ट की राश्यादि से उक्त पांचों ग्रहों की स्पष्ट राश्यादि न्यून होने से इनका उदय पूर्व दिशा में होता है ॥२॥ शीघ्र चलने वाले चन्द्र बुध और शुक्र की स्पष्ट राश्यादि सूर्य की स्पष्ट राश्यादि से न्यून होने से, इनका अस्त पूर्वदिशा में होता है और उक्त ग्रहों की स्पष्ट राश्यादि सूर्य की स्पष्ट राश्यादि से अधिक होने से इनका उदय पश्चिम दिशा में होता है ॥३॥ यदि पश्चिम दिशा में ग्रहों का अस्तोदय ज्ञात करना हो तो अभीष्ट दिन के सूर्य और ग्रह को अस्तकालिक अर्थात् उस समय सूर्य तथा ग्रह किस राशि, अंश कलादि का भोग करते हैं, गणित द्वारा निश्चय करे। एवं यदि पूर्व दिशा में ग्रहों का अस्तोदय ज्ञान करना हो तो उसी प्रकार सूर्य तथा

ग्रह को अभीष्ट दिन के उदयकालिक करके पीछे आक्षदृक् कर्म करे ॥४॥ तब पूर्व कपाल में सूर्य और दृग् ग्रह (वेध से देखा हुआ ग्रह) के स्फुट से घटाने पर जो लग्न प्राण हो उसको ६० से भाग देवे, भागफल कालांश होंगे और पश्चिम कपाल में ६ राशि जोड़कर सूर्य और दृग्ग्रह के स्पष्ट लग्नान्तर प्राण स्थित करे ॥५॥

एकादशामरेज्यस्य तिथिसंख्यार्कजस्य च ।
अस्तांशा भूमिपुत्रस्य दशसप्ताधिकास्ततः ॥६॥
पश्चादस्तमयोऽष्टाभिरुदयः प्राङ्महत्तया ।
प्रागस्तमुदयः पश्चादल्पत्वाद्दशभिर्भृगोः ॥७॥
एवं बुधो द्वादशभिश्चतुर्दशभिरंशकैः ।
वक्री शीघ्रगतिश्चार्कात्करोत्यस्तमयोदयौ ॥८॥
एभ्योऽधिकैः कालभागैर्दृश्या न्यूनैरदर्शनाः ।
भवन्ति लोके खचरा भानुभाग्रस्तमूर्त्तयः ॥९॥
तत्कालांशान्तरकला भुक्त्यन्तरविभाजिताः ।
दिनादि तत्फलं लब्धं भुक्तियोगेन वक्रिणः ॥१०॥

भाषानुवाद – सूर्य के स्पष्ट राश्यादि से वृहस्पति का स्फुट ११ अंश से अधिक या न्यून होने से उक्त दिशा में (देखो श्लोक ३) वृहस्पति का अस्त वा उदय निश्चय करना चाहिये। १५ अंश अधिक या न्यून होने से शनि का, एवं १७ अंश अधिक वा न्यून होने से उक्त अस्तोदय के निरूपित दिशा में मङ्गल का अस्त वा उदय होगा। सूर्य के स्पष्ट से चन्द्रमा का स्पष्ट १२ अंश अधिक होने से पश्चिम दिशा में चन्द्रमा दिखलाई देगा। सूर्य के स्पष्ट से १२ अंश न्यून होने से चन्द्रमा पूर्व दिशा में अस्तमित होगा (नहीं दीखेगा)। यदि वक्री शुक्र का स्पष्ट सूर्य के स्पष्ट से ८ अंश अधिक हो तो शुक्र पश्चिम दिशा में अस्तमित, ६ एवं ८ अंश न्यून होने से पूर्व दिशा में उदित होगा और वक्रतारहित शुक्र जब शीघ्रगामी होगा तब यदि सूर्य के स्पष्ट से शुक्र का स्पष्ट १० अंश न्यून हो तो पूर्वदिशा में अस्तमित होगा, एवं १० अंश अधिक होने से उक्त शुक्र पश्चिम दिशा में उदित होगा। इसी प्रकार यदि वक्री बुध का स्फुट, सूर्य के स्फुट से १२ अंश अधिक हो तो पश्चिम दिशा में अस्त, एवं १२ अंश न्यून होने से पूर्व दिशा में उदित होगा। वक्रगति रहित बुध का स्फुट राश्यादि सूर्य के स्फुट राश्यादि से १४ अंश न्यून होने से पूर्वदिशा में बुध का अस्त, एवं १४ अंश अधिक होने से पश्चिम दिशा में बुध का उदय होगा ॥६-८॥ पूर्वोक्त (६-८। श्लोकोक्त) कालांश से अधिक होने पर इष्टकाल में ग्रह दृश्य होते हैं। एवं न्यून होने से सूर्य के निकट होने के कारण सूर्य की प्रखर किरणों से ग्रहों के विम्ब घिर कर लोगों को नहीं दीखते ॥९॥ ग्रहों के पूर्वोक्त अपने अपने कालांश से इष्टकालांश घटाकर कला बनावे। पुनः उसको सूर्य और ग्रह की दैनिकभुक्ति को जो घटाई हुई कला उस से

भाग दे, भागफल दिनादि होगा, परन्तु वक्री ग्रह की भुक्ति जोड़ कर भाग देने से भागफल दिनादि होगा ॥१०॥

विवरण श्लोक ६—८—मूल सू० सि० के अनुसार चन्द्रमा १२ अंश, मङ्गल १७ अंश, बुध १३ अंश, बृहस्पति ११ अंश, शुक्र ९ अंश और शनि १५ अंश में। आर्यभट्ट ने भी ऐसा ही लिखा है। एवं आधुनिक पाश्चात्य पण्डितों ने भी ऐसा ही अनुभव किया है। केवल शुक्र का अंग्रेजों ने ८ अंश लिखा है, बाकी सब एकसे हैं।

तल्लग्नासुहते भुक्ती अष्टादशशतोद्धृते ।
स्यातां कालगती ताभ्यां दिनादि गतगम्ययोः ॥११॥
स्वात्यगस्त्यमृगव्याधचित्राज्येष्ठाः पुनर्वसुः ।
अभिजिद् ब्रह्महृदयं त्रयोदशभिरंशकैः ॥१२॥
हस्तश्रवणफल्गुन्यः श्रविष्ठारोहिणीमघाः ।
चतुर्दशांशकैर्दृश्याविशाखाश्विनिदैवतम् ॥१३॥
कृत्तिकामैत्रमूलानि सार्पं रौद्रर्क्षमेव च ।
दृश्यन्ते पञ्चदशभिराषाढाद्वितयं तथा ॥१४॥
भरणीतिष्यसौम्यानि सौक्ष्म्यात् त्रिः सप्तकांशकैः ।
शेषाणि सप्तदशभिर्दृश्यादृश्यानि भानि तु ॥१५॥

भाषानुवाद—सूर्य और ग्रहभुक्ति को उस लग्न प्राण से गुणन कर गुणनफल में १८०० का भाग देवे, भागफल सूर्य और ग्रह के कालांश के तुल्य कालगति होंगी, उन दोनों गतियों से गत और गम्यादि पूर्वप्रक्रियानुसार निश्चय करे ॥११॥ स्वाति, अगस्त्य, मृगव्याध, चित्रा, ज्येष्ठा, पुनर्वसु, अभिजित्, ब्रह्महृदय, इन नक्षत्रों का कालांश १३ अंश है अर्थात् ये नक्षत्र १३ अंश में दृश्य होते हैं। इससे न्यून होने से अदृश्य होते हैं ॥१२॥ हस्त, श्रवण, उत्तराफाल्गुनी, पूर्वाफाल्गुनी, धनिष्ठा, रोहिणी, मघा, विशाखा, अश्विनी, इनका कालांश १४ अंश है अर्थात् ये नक्षत्र १४ अंश में दीख पड़ते हैं, न्यून होने से अदृश्य हो जाते हैं ॥१३॥ कृत्तिका, अनुराधा, मूल, आश्लेषा, आर्द्रा, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा इनके १५ कालांश हैं अर्थात् ये नक्षत्र १५ अंश में दृश्य होते हैं इससे न्यून होने से अदृश्य हो जाते हैं ॥१४॥ भरणी, पुष्य और मृगशिरा ये अत्यन्त छोटे हैं अर्थात् इनके बिम्ब बहुत छोटे हैं। इस कारण २१ अंश में दीख पड़ते हैं, न्यून होने से अदृश्य होते हैं और शेष नक्षत्र शतभिषक्, पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा, रेवती, अग्नि, प्रजापति, अपांवत्स और आप, इनका कलांश १७ अंश है, ये नक्षत्र १७ अंश में दीख पड़ते हैं, इस से न्यून होने से अदृश्य होते हैं॥१५॥

अष्टादशशताभ्यस्ता दृश्यांशाः स्वोदयासुभिः ।
विभज्य लब्धाः क्षेत्रांशास्तैर्दृश्यादृश्यताथवा ॥१६॥

प्रागेषामुदयः पश्चादस्तो दृक्कर्म पूर्ववत्।
गतैष्यदिवसप्राप्तिर्भानुभुक्तया सदैव हि ॥१७॥
अभिजिद् ब्रह्महृदयं स्वातिवैष्णववासवाः ।
अहिर्बुध्न्यमुदक्स्थत्वान्न लुप्यन्तेऽर्करश्मिभिः ॥१८॥

इति नवमोऽध्यायः ॥९॥

भाषानुवाद—कालांश को १८०० से गुणन कर गुणनफल को लग्न प्राण से भाग देवे, भागफल क्रान्तिवृत्तस्थ अंश होगा अर्थात् उसी अंश से दृश्य और अदृश्य होता है ॥१६॥ इन नक्षत्रों का उदय पूर्व दिशा में एवं अस्त पश्चिम दिशा में होता है। और इनका आक्षदृक् कर्म पूर्ववत् करना चाहिये एवं सदा सूर्य की गति से (१० श्लोकोक्त नियम) दिन आदि निर्णय करे ॥१७॥ अभिजित्, ब्रह्महृदय, स्वाति, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, इन नक्षत्रों का उत्तर विक्षेप अधिक होता है, इस कारण सूर्य की किरणों से कभी लुप्त नहीं होते अर्थात् इनका कभी अस्त नहीं होता ॥१८॥

इति भाषानुवादे नवमोऽध्यायः ॥९॥

ओ३म्

अथ दशमोऽध्यायः

उदयास्तविधिः प्राग्वत् कर्तव्यः शीतगोरपि ।
भागैर्द्वादशभिः पश्चाद् दृश्यः प्राग्यात्यदृश्यताम् ।।१।।
रवीन्द्वोः षड्भयुतयोः प्राग्वल्लग्नान्तरासवः ।
एकराशौ रवीन्द्वोश्च कार्या विवरलिप्तिकाः ।।२।।
तन्नाडिकाहते भुक्ती रवीन्द्वोः षष्टिभाजिते ।
तत्फलान्वितयोर्भूयः कर्तव्या विवरासवः ।।३।।
एवं यावत्स्थिरीभूता रवीन्द्वोरन्तरासवः ।
तैः प्राणैरस्तमेतीन्दुः शुक्लेऽर्कास्तमयात्परम् ।।४।।
भगणार्द्धं रवौ दत्त्वा कार्यास्तद्विवरासवः ।
तैः प्राणैः कृष्णपक्षे तु शीतांशुरुदयं व्रजेत् ।।५।।

भाषानुवाद—पूर्वोक्त प्रकार से (पूर्वाधिकारोक्त) चन्द्रमा का भी उदयास्त साधन करे। १२ अंश दूर होने पर चन्द्रमा पश्चिम दिशा में दिखाई देता और पूर्व दिशा में १२ अंश दूर होने पर अदृश्य होता है।।१।। शुक्लपक्ष के अभीष्ट दिन के सायङ्काल में सूर्य और चन्द्रमा का आयन दृक्कर्म और आक्षदृक्कर्म करे, पुनः दृक्कर्म संस्कृत सूर्य और चन्द्रमा में छः राशि योग करे। पूर्वोक्त रीति से (अ० ३ श्लो० ४९) लग्नान्तर प्राण निश्चय करे और छः राशि मिलाने पर यदि सूर्य और चन्द्रमा एक राशि में हों तो छः राशियुक्त सूर्य और चन्द्रमा की अन्तर कला करे। एवं प्राण और कला की घटिका से प्राण को ३६० से भाग देवे, भागफल घटिका कला उदय प्राण से गुणन कर गुणनफल प्राण में पुनः एकराशि की कला से भाग देने पर जो प्राण हो उसको ३६० से भाग देवे भागफल घटिका होगी। उससे सूर्य और चन्द्रमा की दैनिककलात्मक गति से गुणन कर गुणनफल में ६० का भाग देवे। भागफल को अपने अपने छः राशियुक्त सूर्य और चन्द्रमा में जोड़कर पुनः पूर्ववत् अन्तर प्राण करे, एवं उस घटिका से सूर्यास्त कालिक छः राशियुक्त संस्कृत सूर्य और चन्द्रमा को चलाकर जबतक अन्तर प्राण स्थिर न हो इसी प्रकार करता जावे। सूर्यास्त के पीछे उक्त प्राण संख्या काल के वीतने पर चन्द्रमा का अस्त होगा ।।२-३—४।। कृष्णपक्ष में सूर्य स्पष्ट में छः राशि मिलाकर चन्द्रमा के अन्तर प्राण का निश्चय करे। उन्हीं प्राण संख्याकाल के पीछे कृष्णपक्ष में चन्द्रोदय का काल है।।५।।

अर्केन्द्वोः क्रान्तिविश्लेषो दिक्साम्ये युतिरन्यथा ।
तज्ज्येन्दुरर्काद्यत्रासौ विज्ञेया दक्षिणोत्तरा ।।६।।
मध्याह्नेन्दुप्रभाकर्णसङ्गुणा यदि सोत्तरा ।
तदार्कघ्नाक्षजीवायां शोध्या योज्या च दक्षिणा ।।७।।
शेषं लम्बज्यया भक्तं लब्धो बाहुः स्वदिङ्मुखः ।
कोटिः शङ्कुस्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं श्रुतिर्भवेत् ।।८।।
सूर्योनशीतगोर्लिप्ताः शुक्लं नवशतोद्धृताः ।
चन्द्रबिम्बाङ्गुलाभ्यस्तं हृतं द्वादभिः स्फुटम् ।।९।।

भाषानुवाद—यदि सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्तिज्या एक दिशा में हों तो इन का अन्तर करे (घटाकर) और यदि दोनों भिन्न दिशा में हों तो योग करे। सूर्य से चन्द्रमा की संस्थिति (रहना) दक्षिण या उत्तर हो, उसी के अनुसार क्रान्तिज्या भी (दक्षिण या उत्तर) होगी ।।६।। उस काल की स्वमध्य रेखागत चन्द्रमा की छाया कर्ण को ऊपर कहे हुये फल से गुणन करे। गुणनफल यदि दक्षिणा हो तो १२ से गुणन की हुई अक्षज्या में योग, यदि गुणनफल उत्तरा हो तो वियोग करना चाहिये ।।७।। यह शेष लब्ध लम्बज्या से भाग करे, भागफल स्वदिक् सूचक बाहु होगा। चन्द्रमा के शङ्कु को (१२ अङ्गुल की कोटि) कोटि जानकर भुज और कोटि के वर्ग का योग करे, वर्गफल मूल निकालने से कर्ण होगा ।।८।। चन्द्रमा से सूर्य घटाकर कला करे, इस कला में ९०० का भाग देवे, भागफल शुक्लांश होगा। चन्द्रमा के विम्बाङ्गुल से (चन्द्रग्रहणाधिकारोक्त रीति से) गुणा करे, गुणनफल को १२ से भाग देवे, भागफल स्फुट शुक्ल होगा ।।९।।

दत्त्वार्कसञ्ज्ञितं विन्दुं ततो बाहुं स्वदिङ्मुखम् ।
ततः पश्चान्मुखीं कोटिं कर्णं कोट्यग्रमध्यगम् ।।१०।।
कोटिकर्णयुताद् बिन्दोर्बिम्बं तात्कालिकं लिखेत् ।
कर्णसूत्रेण दिक्सिद्धि प्रथमं परिकल्पयेत् ।।११।।
शुक्लं कर्णेन तद्बिम्बयोगादन्तर्मुखं नयेत् ।
शुक्लाग्रयाम्योत्तरयोर्मध्ये मत्स्यौ प्रसाधयेत् ।।१२।।
तन्मध्यसूत्रसंयोगाद् बिन्दुत्रिस्पृग्लिखेद्धनुः ।
प्राग्बिम्ब यादृगेव स्यात्तादृक् तत्र दिने शशी ।।१३।।
कोट्या दिक्साधनात् तिर्यक्सूत्रान्ते शृङ्गमुन्नतम् ।
दर्शयेदुन्नतां कोटिं कृत्वा चन्द्रस्य साकृतिः ।।१४।।
कृष्णे षड्भयुतं सूर्यं विशोध्येन्दोस्तथासितम् ।
दद्याद्वामं भुजं तत्र पश्चिमं मण्डलं विधोः ।।१५।।
इति दशमोऽध्यायः ।।१०।।

भाषानुवाद बराबर की हुई भूमि में (ग्रभीष्टस्थान में) दिक्साधन करके पूर्वपश्चिम रेखा ग्रौर दक्षिण उत्तर रेखा खींचे। उक्त खींचे हुए रेखास्थान में ग्रर्कसंज्ञक विन्दु (चिह्न) लिखे। उस विन्दु से ग्रपनी दिशा के ग्रनुसार (दक्षिण या उत्तर) भुज ग्रंगुल गिनकर (पूर्वसाधित) उसके ग्रनुसार रेखा खींचे। उस भुज रेखा के ग्रग्रभाग से पश्चिममुखगामी कोटि (१२ ग्रङ्गुल) के परिमाण से रेखा खींचे। कोटि के ग्रागे से मध्यविन्दु तक की रेखा ही कर्ण होगी। कोटि ग्रौर कर्ण रेखा के संयोगस्थान में मध्यबिन्दु लिखकर तात्कालिक साधित चन्द्रमण्डल खींचे। इस विम्बमण्डल में पहिले कर्ण रेखा द्वारा दिक्सिद्धि (साधन) दिखलावे। चन्द्रमण्डल में जहां कर्ण रेखा लगी है वही चन्द्रवृत्त में पूर्वदिशा, कर्णरेखा को ग्रपने मार्ग से चन्द्र-वृत्त परिधि में ग्रागे निकल कर जहां पर कर्ण रेखा पर भाग में लगी है वही पश्चिम दिशा, उन दोनों मत्स्य द्वारा चन्द्रवृत्त में जहां दक्षिण उत्तर रेखा लगी है वही दक्षिण उत्तर दिशा हैं। शुक्ल (पूर्व साधित) को कर्ण मार्ग द्वारा कर्ण रेखा ग्रौर चन्द्रमण्डल की परिधि के संयोग स्थान से वृत्त के केन्द्र की ग्रोर रेखा खींचे। चन्द्र-वृत्त के भीतर कर्ण रेखा पर पश्चिम से शुक्ल की ग्रङ्गुलि गिन कर चिह्न करे ग्रौर चन्द्रवृत्त में जहां शुक्लाग्र का चिह्न है ग्रौर चन्द्र वृत्त परिधि में जहां दक्षिण उत्तर का चिह्न है इन दोनों के बीच से दो मछली की ग्राकृति की रेखा बनावे। शुक्लाग्र ग्रौर दक्षिण चिह्न द्वारा एक मछली, एवं शुक्लाग्र ग्रौर उत्तर चिह्न द्वारा दूसरी मछली बनावे। इन दोनों मछलियों के मुख ग्रौर पूंछ से निकली हुई रेखा के संयोग (चन्द्रमण्डल के भीतर या बाहर के शुक्लाग्र पश्चिम हो तो पूर्व में "संयोग" ग्रौर शुक्लाग्र पूर्व में हो तो पश्चिम में "संयोग" से ग्रपने ग्रपने मार्ग में फैली हुई रेखा के सम्पात स्थान से) स्थान को केन्द्र करके त्रिबिन्दुस्पृक् (शुक्लाग्र बिन्दु, दक्षिण बिन्दु, उत्तर बिन्दु, इन तीन बिन्दुग्रों को छूता हुग्रा) धनु रेखा खींचे। पूर्वकाल में लिखित चन्द्रबिम्ब जिस प्रकार होगा एवं लिखित धनु द्वारा जैसा पश्चिम काल में होगा उसी प्रकार उस दिन (श्रृङ्गोन्नति के गणित के लिये ग्रभीष्ट दिन संध्यासमय) भी चन्द्रमा ग्राकाश में दिखाई देगा ॥१०—१३॥ कोटि रेखा द्वारा चन्द्रवृत्त में कर्ण रेखा के समान दिक्साधन से परिलेख में शुक्ल धनु के कोटि ग्रग्रभागात्मक ऊंचा देखकर दक्षिण उत्तर रेखा के ग्रन्त में उच्चश्रृङ्ग दिखलावे, वही ग्राकृति (परिलेख सिद्ध) ग्राकाशस्थ चन्द्रमा का ग्राकार होगी ॥१४॥ कृष्णपक्ष में चन्द्रमा के स्पष्ट से छः राशि युक्त सूर्य घटावे ग्रौर शुक्ल की नाईं (पूर्वोक्त प्रकार) ग्रसित (काला-पन) निर्णय करे ग्रौर कृष्ण परिलेख में पूर्वोक्त भुज को विपरीत दिखलावे ग्रर्थात् सूर्य चिह्न से उत्तरभुज को दक्षिण से दिखलावे एवं सूर्य चिह्न से दक्षिणभुज को उत्तर से दिखलावे ग्रौर चन्द्रमण्डल को पश्चिम ग्रोर ग्रसित दिखलावे ॥१५॥

इति भाषानुवादे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ओ३म्

अथैकादशोऽध्यायः

एकायनगतौ स्यातां सूर्याचन्द्रमसौ यदा।
तद्युतौ मण्डले क्रान्त्योस्तुल्यत्वे वैधृताभिधः ॥१॥
विपरीतायनगतौ चन्द्रार्कौ क्रान्तिलिप्तिकाः।
समास्तदा व्यातीपातौ भगणार्धे तयोर्युतौ ॥२॥
तुल्यांशुजालसंपर्कात्तयोस्तु प्रवहावृतः।
तद्दृक्क्रोधभवो वह्निर्लोकाभावाय जायते ॥३॥
विनाशयति पातोऽस्मिल्लोकानामसकृद्यतः।
व्यातीपातः प्रसिद्धोऽयं संज्ञाभेदेन वैधृतः ॥४॥
स कृष्णो दारुणवपुर्लोहिताक्षो महोदरः।
सर्वानिष्टकरो रौद्रो भूयो भूयः प्रजायते ॥५॥

भाषानुवाद—सूर्य और चन्द्रमा जब एक अयन (चाहे दक्षिणायन या उत्तरायण) में होते हैं और जब दोनों को स्पष्ट राश्यादिक जोड़ने से १२ राशि के परिमाण की होती हैं, एवं दोनों की क्रान्ति समान होती हैं, तब "वैधृत" नामक पात होता है ॥१॥ परन्तु जब सूर्य और चन्द्रमा भिन्न भिन्न अयन में रहते, एवं उनकी क्रान्ति कला समान होती हैं और दोनों की स्पष्ट राश्यादि जोड़ने से ६ राशि के बराबर हों तो "व्यतीपात" नामक पात होता है ॥२॥ सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के परस्पर मिलने से दृग्रूप क्रोध से उत्पन्न अग्नि प्रवह वायु से प्रज्वलित होता हुआ लोगों को अशुभ फल देनेवाला होता है ॥३॥ पूर्वोक्त पात रूप अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्ति समान होने पर अनेकवार होता है और लोगों का नाश करता है, इसलिये इसको "व्यतीपात" और "वैधृत" कहते हैं ॥४॥[1] सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्ति समान होने पर जो उक्त दोनों नाम का पात होता है, उसका वर्ण (रंग) काला, कठिन शरीर, लाल नेत्र, महोदर (बड़ा पेट) सब लोगों को हानि पहुंचाने वाला, एवं नाशकारक वारंवार होता है ॥५॥

भास्करेन्द्वोर्भचक्रान्तश्चक्रार्धावधिसंस्थयोः।
दृक्तुल्यसाधितांशादियुक्तयोः स्वावपक्रमौ ॥६॥

१. श्लोक ३—५ का विशेष विवरण देखो इसी अध्याय की अन्तिम व्याख्या ॥

अथौजपदगस्येन्दोः क्रान्तिर्विक्षेपसंस्कृता ।
यदि स्यादधिका भानोः क्रान्तेः पातो गतस्तदा ॥७॥

ऊना चेत्स्यात्तदा भावी वामं युग्मपदस्य च ।
पदान्यत्वं विधोः क्रान्तिर्विक्षेपाच्चेद्विशुध्यति ॥८॥

क्रान्त्योर्ज्ये त्रिज्यया भिन्ने परक्रान्तिज्ययोद्धृते ।
तच्चापान्तरमर्धं वा योज्यं भाविनि शीतगौ ॥९॥

शोध्यं चन्द्राद्गते पाते तत्सूर्यगतिताडितम् ।
चन्द्रभुक्त्या हृतं भानौ लिप्तादि शशिवत्फलम् ॥१०॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्त रीति से (अ० १० श्लोक ११) दृक्तुल्य साधित अंशादि युक्त संस्कृत चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट राश्यादि को जोड़ने से जब १२ राशि में या छः राशि के निकट हो तो उस समय के सूर्य की क्रान्ति एवं चन्द्रमा की विक्षेप संस्कृत क्रान्ति निश्चय करे ॥६॥ ओजपद (देखो अ० २ श्लोक ३४) में स्थित चन्द्रमा की विक्षेप संस्कृत स्पष्ट क्रान्ति सूर्य की क्रान्ति से अधिक हो तो "पात" गत (साधित क्रान्ति काल से पहिले हो गया) जाने और यदि चन्द्रमा की स्पष्ट क्रान्ति सूर्य की क्रान्ति से न्यून हो तो "पात" भावी (साधित क्रान्ति काल से पीछे होगा) जाने और युग्म पदस्थ (देखो अ० २। श्लोक ३४) चन्द्रमा के होने से उक्त रीति से विपरीत होता है, अर्थात् जब "पात" गत कहा गया है, उस समय "पात" भावी और जब "पात" भावी कहा गया है, उस समय "पात" गत जानना। जब चन्द्रमा से विक्षेप क्रान्ति घटाना हो तो (चन्द्रमा की स्पष्ट क्रान्ति लाने में) चन्द्रमा अन्य पदस्थ हो जाता है (विषम पदस्थ हो युग्म पदस्थ हो जावेगा) ॥७,८॥ सूर्य और चन्द्रमा की साधित क्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणा कर गुणनफल में परम क्रान्तिज्या का दोनों में भाग दे, भागफल ज्या को अलग अलग धनु बनावे। उस धनु का अन्तर वा अन्तरार्ध (जब अन्तर थोड़ा हो तो "अन्तर" और जब अन्तर अधिक हो तो उस का आधा करे) जब पात भावी हो तो चन्द्रमा की राश्यादि में जोड़े और जब पात गत हो तो चन्द्रमा की राश्यादि से घटावे। उक्त चन्द्रमा के साधन में जो संस्कार किया गया है, उस फल को सूर्य की स्पष्ट गति से गुणा कर गुणनफल में चन्द्रमा की स्पष्ट गति से भाग देवे, भागफल चन्द्रमा की नाईं कलादि होगा। पुनः इस को (चन्द्रमा में जैसा योग या वियोग किया गया है) सूर्य में योग वा वियोग करे, फल स्पष्ट सूर्य होगा ॥९,१०॥

तद्वच्छशाङ्कपातस्य फलं देयं विपर्ययात् ।
कर्मैतदसकृत्तावद् यावत्क्रान्ती समे तयोः ॥११॥
क्रान्त्योः समत्वे पातोऽथ प्रक्षिप्तांशोनिते विधौ ।

हीनेऽर्धरात्रिकाद्यातो भावी तात्कालिकेऽधिके ॥१२॥
स्थिरीकृतार्धरात्रेन्द्वोर्द्वयोर्विवरलिप्तिकाः ।
षष्टिघ्नाश्चन्द्रभुक्तयाप्ताः पातकालस्य नाडिकाः ॥१३॥

रवीन्दुमानयोगार्धं षष्टया सङ्गुण्य भाजयेत् ।
तयोर्भु क्तयन्तरेणाप्तं स्थित्यर्धं नाडिकादि तत् ॥१४॥

पातकालः स्फुटो मध्यः सोऽपि स्थित्यर्धवर्जितः ।
तस्य सम्भवकालः स्यात्तत्संयुक्तोऽन्त्यसंज्ञितः ॥१५॥

भाषानुवाद—चन्द्रमा के फल कलादि को उक्त प्रकार चन्द्रफल को पात की गति से गुणाकर, गुणनफल में चन्द्रमा की स्पष्ट गति से भाग देवे, भागफल को जिस प्रकार चन्द्रमा के योग वा वियोग (पहिले कहा जा चुका है) किया गया है उसके उलटे प्रकार से अर्थात् जहां चन्द्रमा में योग कहा गया है वहां पात में वियोग और जहां चन्द्रमा में वियोग कहा गया है, वहां पात में योग करना ॥११॥ सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्ति जब समान हों तो स्पष्ट पात होता है। प्रक्षिप्तांश संस्कृत चन्द्रमा मध्यरात्रिक चन्द्रमा से घटाने पर मध्यरात्रि में पात गत और तात्कालिक चन्द्रमा अधिक हो तो पात भावी होता है ॥१२॥ क्रान्ति साम्यगत चन्द्रमा और मध्यरात्रिक चन्द्रमा की अन्तर कला को ६० से गुणाकर गुणनफल में अर्द्धरात्रिक चन्द्रमा की स्पष्ट कलात्मक गति से भाग देवे, भागफल पात काल से स्पष्ट की अन्तर नाड़ी होगी ॥१३॥ सूर्य और चन्द्रमा के मान को एकत्र जोड़े, पुनः इसका आधा करे, इस आधे को ६० से गुणा कर गुणनफल में सूर्य की स्पष्ट गति से चन्द्रमा की स्पस्ट गति को घटाकर शेष अङ्क से भाग देवे, भागफल स्थित्यर्द्ध दण्ड होगा ॥१४॥ १३ श्लोक द्वारा लाया हुआ पात का मध्य काल है। उस से स्थित्यर्द्ध वियोग करने पर फल पात का "सम्भव" (आरम्भ) काल है। एवं स्थित्यर्द्ध योग करने पर फल पात का "अन्त्यकाल" है ॥१४,१५॥

आद्यन्तकालयोर्मध्यः कालो ज्ञेयोऽतिदारुणः ।
प्रज्वलज्ज्वलनाकारः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥१६॥

एकायनगतं यावदर्केन्द्वोर्मण्डलान्तरम् ।
सम्भवस्तावदेवास्य सर्वकर्मविनाशकृत् ॥१७॥
स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः ।
प्राप्यते सुमहच्छ्रेयस्तत्कालज्ञानस्तथा ॥१८॥
रवीन्द्वोस्तुल्यता क्रान्त्योर्विषुवत्सन्निधौ यदा ।
द्विर्भवेद् द्विस्तदा पातः स्यादभावो विपर्ययात् ॥१९॥

भाषानुवाद—पात के आरम्भ और समाप्ति के बीच का काल अत्यन्त कठिन,

देदीप्यमान अग्निस्वरूप सब शुभ कर्मों से वर्जित है ॥१६॥[1] जितने काल तक सूर्य और चन्द्रमा के मण्डल का कोई अंश एक स्थान (एकमार्ग) में हो तो उस समय पात का आरम्भ सब शुभ कर्मों का नाशकारी होता है ॥१७॥ पातकाल को जानकर स्नान, दान, जप, श्राद्ध, व्रतादि कार्य करने से बड़ा कल्याणकारक होता है ॥१८॥ जब विषुवत् के निकट चन्द्रमा और सूर्य की क्रान्ति समान होती है तो उस समय क्रान्ति के अभाव से दो वैधति और व्यतीपात नामक पात होते हैं और यदि सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्ति तुल्य न हो तो दोनों में से कोई भी पात नहीं होता ॥१६॥

शशाङ्कार्कयुतेर्लिप्ता भभोगेन विभाजिताः ।
लब्धं सप्तदशान्तोऽन्यो व्यतीपातस्तृतीयकः ॥२०॥
सार्पेन्द्रपौष्णधिष्ण्यानामन्त्याः पादा भसन्धयः ।
तदग्रभेष्वाद्यपादो गण्डान्तं नाम कीर्त्यते ॥२१॥
व्यतीपातत्रयं घोरं गण्डान्तत्रितयं तथा ।
एतद् भसन्धित्रितयं सर्वकर्मसु वर्जयेत् ॥२२॥
इत्येतत्परमं पुण्यं ज्योतिषां चरितं हितम् ।
रहस्यं महदाख्यातं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥२३॥

इति पूर्वखण्डम्

इत्येकादशोऽध्यायः ॥११॥

भाषानुवाद—अयनांश संस्कृत चन्द्रमा और सूर्य की कला को जोड़कर योग-फल में ८०० का भाग देवे, भागफल अन्त में होने पर व्यतीपात नाम तीसरा पात होता है ॥२०॥ आश्लेषा, ज्येष्ठा, रेवती, इन नक्षत्रों का चौथा चरण "भसन्धि" होता है। एवं अश्विनी, मघा और मूल इन नक्षत्रों का पहिला चरण "गण्डान्त" होता है ॥२१॥ तीन व्यतीपात (दो क्रान्तिसाम्य वाले एवं विषुवत् निकट का), तीन गण्डान्त, तीन नक्षत्र सन्धि, ये सब शुभ कर्मों में अतिदूषित होने से त्याज्य हैं ॥२२॥ यह परम पवित्र ग्रह नक्षत्रादिकों की गति आदि का ज्ञान परम हितकर रहस्य कहा। अब आगे क्या सुनने की इच्छा है ॥२३॥

विवरण—पात या योग उसको कहते हैं जब चन्द्रमा और सूर्य की गति का योग १३°—२०' होता है उतने काल में एक "योग" होता है। ये योग अश्विनी आदि २७ नक्षत्र में २७ योग होते हैं। फलित वालों ने २७ योगों के भिन्न भिन्न नाम रखकर उन से शुभाशुभ फल की कल्पना की है, उसी फलित ज्योतिष के अनुसार यहां भी ३, ४, ५, १६, १७, १८ और २१ श्लोक किसी ने मिलाये हैं। इस विचार से कि "सूर्यसिद्धान्त" प्राचीन

---

१. श्लोक १६, १७, १८ के लिये देखो इसी अध्याय की अन्तिम व्याख्या ॥

ग्रन्थ है। इस कारण "योगफल" कहना इस के अनुसार प्रामाणिक होगा। अब हम आर्यभट्ट एवं वराहमिहिरकृत सिद्धान्त ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं जिस से स्पष्ट सिद्ध होगा कि उपर्युक्त श्लोक अवश्य किसी ने मिलाये हैं—

रविशशिनक्षत्रगणाः सम्मिश्राश्च व्यतीपाताः ॥२॥
(आर्यभट्ट काल क्रिया पाद)

अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के नक्षत्र भाग का योग जब समान हो तो "व्यतीपात" योग होता है।

अर्कघ्ने व्यतीपाता द्युगणे पञ्चाम्वरहुताशैः ॥४॥
(पञ्चसिद्धान्तिका अ० १२)

अर्थात् जब युगीय गत व्यतीपात योग जानना हो तो अहर्गण को १२ से गुणा कर गुणनफल में ३०५ का भाग दे, भागफल युग के आरम्भ से वीते हुवे व्यतीपात की संख्या होगी। इस के अतिरिक्त व्यतीपात जनित शुभाशुभ फल का वर्णन कुछ भी उक्त दोनों प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्मा, इन्द्र, वैधृति ये योग हैं॥

❀ यह पूर्वखण्ड समाप्त हुवा ❀

इति भाषानुवादे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

ओ३म्

अथोत्तरखण्डे द्वादशोऽध्यायः

भूगोलाध्यायः

अथार्कांशसमुद्भूतं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।
भक्त्या परमयाभ्यर्च्य पप्रच्छेदं मयासुरः ॥१॥
भगवन्किम्प्रमाणा भूः किमाकारा किमाश्रया ।
किंविभागा कथञ्चात्र सप्त पातालभूमयः ॥२॥
अहोरात्रव्यवस्थां च विदधाति कथं रविः ।
कथं पर्येति वसुधां भुवनानि विभावयन् ॥३॥
देवासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ।
किमर्थं तत्कथं वा स्याद् भानोर्भगणपूरणात् ॥४॥
पित्र्यं मासेन भवति नाडीषष्टया तु मानुषम् ।
तदेव किल सर्वत्र न भवेत्केन हेतुना ॥५॥
दिनाब्दमासहोराणामधिपा न समाः कुतः ।
कथं पर्येति भगणः सग्रहोयं किमाश्रयः ॥६॥
भूमेरुपर्युपर्यूर्ध्वाः किमुत्सेधाः किमन्तराः ।
ग्रहर्क्षकक्षाः किम्मात्राः स्थिताः केन क्रमेण ताः ॥७॥
ग्रीष्मे तीव्रकरो भानुर्न हेमन्ते तथाविधः ।
कियती तत्करप्राप्तिर्मानानि कति किञ्च तैः ॥८॥

भाषानुवाद—तदनन्तर मयनामक असुर ने सूर्य के अंश से उत्पन्न पुरुष को हाथ जोड़, परम भक्ति से प्रणाम कर यह पूछा कि ॥१॥ हे भगवन् ! इस पृथिवी का परिमाण क्या है (कितनी परिधि, क्या व्यास क्रम)? आकार कैसा है (गोल, चिपटी, दर्पणोदराकार इत्यादि)? किसके आश्रय से ठहरी है (शेष नाग पर, बैल पर इत्यादि) ? इसके क्या क्या विभाग हैं (कितने भागों में बंटी है)? और किस प्रकार से इसमें सातों पाताल की संस्था हैं ? (७ पाताल किस क्रम से ऊपर नीचे हैं ?)॥२॥ सूर्य किस प्रकार से दिन रात्रि की व्यवस्था करता है ? और इस पृथिवी तथा अन्यान्य भुवनों को प्रकाश करता हुआ किस प्रकार अपनी धुरी पर भ्रमण करता है ? ॥३॥ उत्तर मेरु निवासी और दक्षिण मेरु निवासियों को दिन रात्रि विपर्यय से क्यों होता है ? और क्यों उनका अहोरात्र सूर्य के १२ राशियों के भ्रमण

के समान है ? ॥४॥ चन्द्रलोक निवासी का हमारे एक महीने के बराबर एक अहो-रात्र, मनुष्यों का ६० घड़ी का अहोरात्र होता है। इन प्रत्येक के दिन रात्रि एकसे क्यों नहीं होते भिन्न भिन्न क्यों हैं ? ॥५॥ दिन, वर्ष, मास और "होरा" इन के अधिपति भिन्न भिन्न क्यों हैं ? ग्रहगण किस के आश्रय से ठहरे हुये अपने अपने भगणों को पूरा करते हैं ? ॥६॥ पृथिवी से ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा की कक्षायें कितनी दूर ऊपर को हैं ? इन में एक कक्षा से दूसरी कक्षा का अन्तर (फासला) क्या है ? परिमाण क्या है ? (परिधि, व्यास आदि) और वे किस प्रकार स्थित हैं ? (पहिले कौन ग्रह, तदनन्तर कौन इत्यादि क्रम) ॥७॥ ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों की प्रखरता, हेमन्त में किरणों की मन्दता, ऐसा क्यों होता है, क्यों नहीं सब ऋतुओं में सूर्य की किरणें समान होतीं ? सूर्य की किरणों की प्रखरता, मन्दता आदि जानने के क्या क्या नियम हैं ? और मान (सावन नाक्षत्र आदि अ० १ में जो कहे गये हैं) कितने और वे कौन कौन से हैं, उन प्रत्येक का क्या क्या प्रयोजन है ? ॥८॥

एतं मे संशयं छिन्धि भगवन्भूतभावन।
अन्यो न त्वामृते छेत्ता विद्यते सर्वदर्शिवान् ॥९॥
इति भक्त्योदितं श्रुत्वा मयोक्तं वाक्यमस्य हि।
रहस्यं परमाध्यायं ततः प्राह पुनः स तम् ॥१०॥
शृणुष्वैकमना भूत्वा गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
प्रवक्ष्याम्यतिभक्तानां नादेयं विद्यते मम ॥११॥
वासुदेवः परं ब्रह्म तन्मूर्त्तिः पुरुषः परः।
अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पञ्चविंशात्परोऽव्ययः ॥१२॥
प्रकृत्यन्तर्गतो देवो बहिरन्तश्च सर्वगः।
सङ्कर्षणोऽपः सृष्ट्वादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥१३॥
तदण्डमभवद्धैमं सर्वत्र तमसावृतम्।
तत्रानिरुद्धः प्रथमं व्यक्तीभूतः सनातनः ॥१४॥

भाषानुवाद—हे भगवन् ! आप मेरे पूर्वोक्त सन्देहों को दूर कीजिये। आप ज्योतिष शास्त्र के सब विषयों को जानते हैं और आप को सब विषय उपस्थित (याद) हैं। इस कारण मेरे लिये आप के अतिरिक्त दूसरा संशय को दूर करने वाला नहीं है ॥९॥ इस प्रकार भक्ति भाव से कहे हुए मयासुर के वचनों को सुनकर सूर्यांश पुरुष पुनः १२ वां अध्याय परम रहस्य कहने लगा ॥१०॥ अच्छा तो परम रहस्य अध्यात्मज्ञान कहता हूं एकाग्र चित्त हो सुनो ! ऐसा कोई पदार्थ मेरे पास नहीं जो मैं तुम्हारे सदृश अपने अतिभक्त को न कह सकूं वा न देऊं ॥११॥ वासुदेव (जिस में सम्पूर्ण चराचर जगत् निवास करता है) परब्रह्म उस ही का

नामान्तर, परम पुरुष, अव्यक्त, निर्गुण, शान्त, अव्यय और २५ प्रकृत्यादि (१ प्रकृति, २ महत्, ३ अहङ्कार, ४ रूप, ५ रस, ६ गन्ध, ७ स्पर्श, ८ शब्द, ९ वाक्, १० पाणि, ११ पाद, १२ गुदा, १३ उपस्थ, १४ नेत्र, १५ जिह्वा, १६ नाक, १७ त्वचा, १८ कान, १९ मन, २० पृथिवी, २१ जल, २२ तेज, २३ वायु, २४ आकाश २५ जीव) से भिन्न है ॥१२॥ जगत् के उपादानरूप प्रकृति के बाहर और भीतर अर्थात् सर्वत्र व्यापक सङ्कर्षण (ईश्वर) ने सृष्टि की आदि (कल्प की आदि में, क्योंकि सृष्टि तो प्रवाह से अनादि है) पहिले जल को रचा और उस में अपनी शक्ति विशेष को निक्षेप किया ॥१३॥ वह जल शक्ति विशेष में मिलकर अन्धकार से घिरा हुआ सोने के अण्डे की नाईं हो गया। उसमें प्रथम सनातन अनिरुद्ध (विराट्) प्रकट हुए ॥१४॥

हिरण्यगर्भोभगवानेऽष च्छन्दसि पठ्यते।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात्प्रसूत्या सूर्य उच्यते ॥१५॥

परं ज्योतिस्तमःऽपारे सूर्योऽयं सवितेति च।
पर्येति भुवनान्येष भावयन्भूतभावनः ॥१६॥

प्रकाशात्मा तमोहन्ता महानित्येष विश्रुतः।
ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्युस्रा मूर्त्तिर्यजूंषि च ॥१७॥

त्रयीमयोऽयं भगवान्कालात्मा कालकृद्विभुः।
सर्वात्मा सर्वगः सूक्ष्मः सर्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥१८॥

रथे विश्वमये चक्रं कृत्वा संवत्सरात्मकम्।
छन्दांस्याश्वाः सप्त युक्ताः पर्यटत्येष सर्वदा ॥१९॥

भाषानुवाद—वेद में उक्त परमेश्वर के नाम हिरण्यगर्भ, सृष्टि की आदि में प्रकट होने से आदित्य और सृष्टि के निमित्त सूक्ष्म ब्रह्मस्वरूप से स्थूल (विराट्-स्वरूप) होने के कारण सूर्य कहे गये हैं ॥१५॥ उक्तगुणविशिष्ट अनिरुद्ध ही परम ज्योतिष्मान् सविता अर्थात् समस्त सूर्यादि प्रकाशकों का भी प्रकाशक है और अन्धकार (प्रलयावस्थारूपी अन्धकार) को नाश कर भूतभावन ज्योतिःस्वरूप परमात्मा सब भुवनों (ब्रह्माण्डों) में व्यापक हो रहे हैं ॥१६॥ प्रकाशस्वरूप तिमिरनाशक महान् इत्यादि नामों से वह जगदीश्वर प्रसिद्ध है। उस प्रकाशस्वरूप ईश्वर का ऋग्वेद मण्डलरूप है, सामवेद किरण रूप है और यजुर्वेद मानो उस की मूर्त्ति है, इस प्रकार वेदत्रयात्मक वह भगवान् कालस्वरूप काल का कर्त्ता, अणिमादि गुणयुक्त, सर्वात्मा, सर्वग और सूक्ष्म होने पर भी इसमें सब जगत् अवस्थित है ॥१७,१८॥ वह कालात्मा परमेश्वर, ब्रह्माण्डरूपी रथ पर, वर्षरूपी चक्र द्वारा, वेद के ७ छन्द स्वरूप

(गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, ये सात छन्द हैं) घोड़ों को बनाकर, निरन्तर व्यापक हो रहा है (सब लोक लोकान्तरों को चला रहा है) ॥१९॥

त्रिपादममृतं गुह्यं पादोऽयं प्रकटोऽभवत् ।
सोऽहंकारं जगत्सृष्ट्यै ब्रह्माणमसृजत्प्रभुः ॥२०॥

तस्मै वेदान्वरान् दत्त्वा सर्वलोकपितामहम्।
प्रतिष्ठाप्याण्डमध्येऽथ स्वयं पर्येति भावयन् ॥२१॥

अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माहंकारमूर्त्तिभृत् ।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्षणोस्तेजसां निधिः ॥२२॥

मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धरा क्रमात् ।
गुणैकवृद्ध्या पञ्चैव महाभूतानि जज्ञिरे ॥२३॥

अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः ।
तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे ॥२४॥

पुनर्द्वादशधात्मानं व्यभजद्राशिसंज्ञकम् ।
नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं वशी ॥२५॥

ततश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकम् ।
ऊर्ध्वमध्याधरेभ्योऽथ स्रोतोभ्यः प्रकृतीः सृजन् ॥२६॥
गुणकर्मविभागेन सृष्ट्वा प्रागवदनुक्रमात् ।
विभागं कल्पयामास यथास्वं वेददर्शनात् ॥२७॥

भाषानुवाद—वेदात्मा परमात्मा के तीन पाद सदैव छिपे रहते हैं, चतुर्थ पाद में ही यह जगत् प्रकट है, उस अनिरुद्ध ने अपना स्थूल स्वरूप, सृष्टि करने के समय ब्रह्मा नामधारी होकर वेदानुकूल सृष्टि करने के लिये प्रथम अहङ्कार स्वरूप (ब्रह्मा की) उत्पत्ति की। और स्थूल स्वरूप से वेद के अनुकूल सृष्टि करने लगा, और सम्पूर्ण जगत् के रचयिता होने से पितामह नाम से प्रसिद्ध होकर ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है ॥२०, २१॥ तब अहङ्कार ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा और नेत्र से तेजोनिधि सूर्य को उत्पन्न किया ॥२२॥ पुनः मन से आकाश, पुनः वायु, अग्नि, जल और पृथिवी एक एक गुण की वृद्धि द्वारा पांचों महाभूतों को उत्पन्न किया ॥२३॥ प्रकाशात्मा होने से सूर्य अग्नि स्वरूप, चन्द्रमा जलरूप को रच कर पुनः तेज से मङ्गल, पृथिवी से बुध, आकाश से बृहस्पति, जल से शुक्र, और वायु से शनि इन पांच ग्रहों को उत्पन्न किया ॥२४॥ पुनः वशी (ब्रह्मा) ने अपनी इच्छा से १२ विभागात्मक राशि चक्र और २७ नक्षत्रादिक की सृष्टि की ॥२५॥ तदनन्तर

उत्तम, मध्यम, निकृष्ट त्रिगुणात्मक क्रम से देव, मनुष्य, असुर और चराचर विश्व को निर्माण किया ।।२६।। पुनः ब्रह्मा ने गुण (सत्, रज, तम) और कर्म (पूर्व जन्मार्जित) के अनुसार वेदोक्त रीति से सृष्टि करके विभाग किया व जगत् का विभाग किया ।।२७।।

ग्रहनक्षत्रताराणां भूमेर्विश्वस्य वा विभुः ।
देवासुरमनुष्याणां सिद्धानां च यथाक्रमम ।।२८।।
ब्रह्माण्डमेतत्सुषिरं तत्रेदं भूर्भुवादिकम् ।
कटाहद्वितयस्येव सम्पुटं गोलकाकृति ।।२९।।
ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते ।
तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधः क्रमशस्तथा ।।३०।।
मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः ।
परिभ्रमन्त्यधोऽधस्थाः सिद्धा विद्याधरा घनाः ।।३१।।
मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति ।
बिभ्राणः परमां शक्ति ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ।।३२।।
तदन्तरपुटाः सप्त नागासुरसमाश्रयाः ।
दिव्यौषधिरसोपेता रम्याः पातालभूमयः ।।३३।।

भाषानुवाद—ग्रह, नक्षत्र, तारा, पृथिवी, देव, असुर, मनुष्य, सिद्ध इन के स्थानों का विभाग किया अर्थात् इन प्रत्येक की संस्था को क्रम से विभाग किया ।।२८।। पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड में भूर्भुवादि (भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जनलोक, महर्लोक, तपोलोक, सत्यलोक) लोक अवस्थित हैं। यह ब्रह्माण्ड दो कटाह जोड़ने से जैसा गोलाकार होता है, इस प्रकार का है अर्थात् गोलाकार है ।।२९।। ब्रह्माण्ड में परिधि का नाम आकाश कक्षा है। उस में सब से ऊपर राशि चक्र, उसके नीचे शनि, उसके नीचे वृहस्पति, उस के नीचे मङ्गल, उस के नीचे सूर्य, उस के नीचे शुक्र, उस के नीचे बुध, उस के नीचे चन्द्रमा भ्रमण करता है। उस के नीचे सिद्ध विद्याधरगण के घूमने का मार्ग अन्तरिक्ष है और सब से नीचे मेघ मण्डल है ।।३०, ३१।। ब्रह्म की धारणात्मिका परमा शक्ति के ऊपर यह भूगोल अण्ड (ब्रह्माण्ड) के बीच आकाश में भ्रमण करता हुआ अवस्थित है ।।३२।। उस भूगोल के **भीतर** नाग और असुर आदि मनुष्य विशेष के निवास को ७ पाताल हैं (अतल, **बितल**, सुतल, तल, तलातल, रसातल, पाताल) जिन में अनेक प्रकार स्वप्रकाशयुक्त रमणीक ओषधि हैं ।।३३।।

अनेकरत्ननिचयो जाम्बूनदमयो गिरिः ।
भूगोलमध्यगो मेरुरुभयत्र विनिर्गतः ।।३४।।

उपरिष्टात्स्थितास्तस्य सेन्द्रा देवा महर्षयः ।
अधस्तादसुरास्तद्वद् द्विषन्तोऽन्योन्यमाश्रिताः ॥३५॥

ततः समन्तात्परिधिः क्रमेणायं महार्णवः ।
मेखलेव स्थितो धात्र्या देवासुरविभागकृत् ॥३६॥

समन्तान्मेरुमध्यात्तु तुल्यभागेषु तोयधेः ।
द्वीपेषु दिक्षु पूर्वादिनगर्यो देवनिर्मिताः ॥३७॥

भूवृत्तपादे पूर्वस्यां यमकोटीति विश्रुता ।
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा ॥३८॥

याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तस्मिन्महापुरी ।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्त्तिता ॥३९॥

भाषानुवाद—भूगोल के बीच और दोनों उत्तर दक्षिण से मेरु के बीच स्वर्णमय नाना प्रकार के रत्नों से भरा हुआ मेरु नामक पर्वत है ॥३४॥ उत्तर मेरु के पास इन्द्रादि देवता और महर्षिगण वास करते हैं, एवं दक्षिण मेरु के निकट असुरगण अवस्थित हैं। परस्पर को नीचस्थ समझते हुए दूसरी दिशा में ठहरे हुए हैं ॥३५॥ उस दण्डाकार मेरु दण्ड की चारों ओर यह महासमुद्र है, जो क्रम से भूगोल में मेखला की नाईं ब्रह्मा ने देवता और असुरों के स्थानों के विभाग करने वाला पदार्थ रचा है। उक्त समुद्र के उत्तर भूगोल का आधा भाग भारतवर्ष रूपी देवभूमि (आर्यों के रहने का स्थान) है और उक्त समुद्र के दक्षिण भूगोल के आधे भाग में छः द्वीप और छः समुद्र असुरों के रहने का स्थान हैं ॥३६॥ दण्डाकार मेरु के मध्य प्रदेश से घेरा रूप समुद्र की चारों दिशाओं में समविभागात्मक देवनिर्मित चार पुरी हैं ॥३७॥ भूवृत्त (५०५९ योजन) चतुर्थांश परिमाण व्यवधान में पूर्व की ओर भद्राश्व वर्ष है। उस में यमकोटि नामक पुरी है, जो सोने की भीत और तोरणों से घेरी हुई है और भूवृत्त के चतुर्थांश योजन परिमाण व्यवधान में दक्षिण में भारतवर्ष है। उस के मध्य में लङ्का नामक महापुरी है और भूवृत्त के चतुर्थांश योजन परिमाण व्यवधान में पश्चिम में केतुमाल वर्ष है। उसमें रोमक नामक नगरी है ॥३८,३९॥

उदक् सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्त्तिता ।
तस्यां सिद्धा महात्मानो निवसन्ति गतव्यथाः ॥४०॥

भूवृत्तपादविवरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः ।
ताभ्यश्चोत्तरगो मेरुस्तावानेव सुराश्रयः ॥४१॥
तासामुपरिगो याति विषुवत्स्थो दिवाकरः ।

न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते ॥४२॥
मेरोरुभयतो मध्ये ध्रुवतारे नभःस्थिते।
निरक्षदेशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रये ॥४३॥
अतो नाक्षोच्छ्रयस्तासु ध्रुवयोः क्षितिजस्थयोः।
नवतिर्लम्बकांशास्तु मेरावक्षांशकास्तथा ॥४४॥
मेषादौ देवभागस्थे देवानां याति दर्शनम्।
असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्भागसञ्चरः ॥४५॥

भाषानुवाद—उत्तरभाग में कुरुवर्ष में सिद्धपुरी नामक नगरी है, वहां सिद्ध महात्मा लोग सब कष्टों से रहित होकर सुखपूर्वक वास करते हैं ॥४०॥ पूर्वोक्त नगरी सब परस्पर भूवृत्त के चतुर्थ अंश के योजन परिमित अन्तर पर अवस्थित हैं। एवं इन नगरियों के समान अन्तर पर उत्तर मेरु है। जहां के निवासियों की देवसंज्ञा है ॥४१॥ पूर्वोक्त नगरियों के ऊपर जब सूर्य दीखता है वही विषुवत् वृत्त है। जब सूर्य विषुववृत्तस्थ होता है तो वहां विषुवच्छाया (पलभा) और अक्षोन्नति (अक्षध्रुव की) नहीं होती ॥४२॥ दोनों मेरु के मध्य में ध्रुवतारा अवस्थित हैं। निरक्षदेशस्थ (पूर्वोक्त नगर स्थित) मनुष्यों के उत्तर और दक्षिण क्षितिज वृत्त में दोनों ध्रुव तारा हैं ॥४३॥ इस लिये दोनों (ध्रुवतारा) क्षितिज वृत्त में ध्रुवौच्च्य (उन्नति) नहीं है। दोनों ध्रुव क्षितिज वृत्त में हैं। इस कारण वहां का लम्बकांश ९० और मेरु का अक्षांश ९० है ॥४४॥ जब सूर्य मेशादि (मेष, वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह, कन्या इन छः राशियों की उत्तर गोलार्द्ध संज्ञा है) अर्थात् उत्तर मेरु प्रदेश में दीखता है तो उत्तर मेरुनिवासियों को छः मास पर्यन्त दृश्य होता है और जब तुलादि (तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन इन छः राशियों की दक्षिण गोलार्द्ध संज्ञा है) राशियों में सूर्य दीखता है तो दक्षिण मेरुवासियों को छः मास तक सूर्य दृश्य होता है ॥४५॥

विवरण—यद्यपि सिद्धान्त ग्रन्थ में भूगोल का विशेष वर्णन करना प्रकरण विरुद्ध है, तथापि जितने अंश से गणित का सम्बन्ध है उतने का वर्णन करना आवश्यक है। हमारे संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः "सप्तद्वीपा वसुमती" इत्यादि लिखा है। अर्थात् सात द्वीप और नव खण्ड। परन्तु द्वीप शब्द से लोग "आइलैण्ड" (Island) समझते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि यदि हमारे ऋषियों को द्वीप शब्द से आइलैण्ड अभीष्ट होता तो भारतवर्ष की द्वीप में गणना न करते। इस से द्वीप शब्द से पेनन्सुला (Penensula) अर्थात् जिसके दो ओर पानी हो (द्वयोः आपो यस्य)। इस से आधुनिक सात विभाग से ठीक मिलता है। दो अमेरिका, युरोप एशिया, आफरिका, ओशिनीआ और आस्ट्रेलिया ये सात विभाग हैं॥

संस्कृत --१ जम्बूद्वीप, २ प्लक्षद्वीप, ३ शल्मलीद्वीप, ४ कुशद्वीप, ५ क्रौञ्च द्वीप, ६ शाकद्वीप, ७ पुष्करद्वीप । अब जम्बूद्वीप के नव खण्ड हैं ।।

१ नाभि वर्ष (भारतवर्ष) समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण "आर्यावर्त्त" देश है । जो राजा भरत के समय से भारतवर्ष कहलाया ।।	४ इलावृत्त वर्ष
	५ रम्यक वर्ष
	६ हिरण्यक वर्ष
	७ कुरुवर्ष
२ किम्पुरुष वर्ष	८ भद्राश्ववर्ष
३ हरिवर्ष	९ केतुमालवर्ष

अत्यासन्नतया तेन ग्रीष्मे तीव्रकरा रवेः ।
देवभागेऽसुराणां तु हेमन्ते मन्दतान्यथा ।।४६।।
देवासुरा विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम् ।
पश्यन्त्यन्योन्यमेतेषां वामसव्ये दिनक्षपे ।।४७।।
मेषादावुदितः सूर्यस्त्रीन्राशीनुदगुत्तरम् ।
सञ्चरन्प्रागहर्मध्यं पूरयेन्मेरुवासिनाम् ।।४८।।
कर्कादीन्सञ्चरंस्तद्वदह्नः पश्चार्धमेव सः ।
तुलादींस्त्रीन्मृगादींश्च तद्वदेव सुरद्विषाम् ।।४९।।
अतो दिनक्षपे तेषामन्योन्यं हि विपर्ययात् ।
अहोरात्रप्रमाणं च भानोर्भगणपूरणात् ।।५०।।
दिनक्षपार्धमेतेषामयनान्ते विपर्ययात् ।
उपर्यात्मानमन्योन्यं कल्पयन्ति सुरासुराः ।।५१।।

भाषानुवाद—इसी कारण (पूर्वोक्त प्रकार सूर्य के उत्तरायण, दक्षिणायन होने से) सूर्य जब ग्रीष्मऋतु में देवभाग में निकटतर (दूसरे की अपेक्षा) होता है तो वहां इस की किरणों की प्रखरता से गरमी अधिक होती और उस समय असुरभाग (दक्षिणमेरु) में गरमी की न्यूनता और शीत की वृद्धि होती है । एवं हेमन्त ऋतु में सूर्य देवभाग से दूर और असुरभाग के निकटतर होता है तो उस समय देवभाग में सूर्य की किरणों की मन्दता और शीत की वृद्धि होती है और असुरभाग में सूर्य की किरणों की प्रखरता और शीत की मन्दता होती है ।।४६।। जिस समय सूर्य विषुवत् रेखा पर होता है उस समय उत्तर मेरुनिवासी एवं दक्षिण मेरुनिवासी सूर्य को क्षितिज रेखा में देखते हैं । इस प्रकार सूर्य के उत्तरायण दक्षिणायन होने के कारण परस्पर देव और असुरों के दिन रात्रि विपर्यय से (बर अबस) होते हैं। अर्थात् सूर्य जब उत्तरायण होता है तो देवों का दिन और उस समय असुरों की

रात्रि, एवं सूर्य जब दक्षिणायन होता है तो देवों की रात्रि और असुरों का दिन होता है ।।४७।। उत्तर मेरुनिवासियों के भाग में जब सूर्य मेष, वृष, मिथुन राशिस्थ होता है तो इन का पूर्वार्ध दिन (प्रातःकाल से मध्याह्न तक) होता और उस समय असुरों की आधीरात (सायङ्काल से आधीरात तक) होती और जब कर्क, सिंह, कन्या इन तीन राशियों में होता है तो देवभाग में अपराह्न (दिन का पिछला आधा) होता और उस समय असुरभाग में पिछली आधीरात (आधी रात से भोर के पहिले तक) होती है । इसी प्रकार जब सूर्य तुला, वृश्चिक, धनु इन तीन राशियों में होता है तो असुरभाग में दिन का पूर्वार्द्ध और देवभाग में आधीरात होती है और जब सूर्य मकर, कुम्भ, मीन इन तीन राशियों में होता है तो असुरभाग में अपराह्न और देवभाग में पिछली आधी रात होती है ।।४८,४९।। पूर्वोक्त कारण से देव और असुरों का अहोरात्र (दिन रात) परस्पर विपर्यय से होता है । सूर्य के भगणकाल का पूरा होना ही इन दोनों का एक अहोरात्र होता है ।।५०।। सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने के कारण देवता और असुरों का दिनार्द्ध और रात्र्यर्द्ध विपर्यय से होता है अर्थात् जब देवों का दिनार्द्ध, तब असुरों की आधीरात एवं जब असुरों का दिनार्द्ध तब देवों की आधी रात होती है । देव और असुरगण निज निज स्थान को एक दूसरे की अपेक्षा ऊपर समझते हैं, अर्थात् देवगण असुरों को अपने से नीचस्थ और इसी प्रकार असुरगण देवों को अपने से नीचस्थ समझते हैं ।।५१।।

अन्येऽपि समसूत्रस्था मन्यन्तेऽधः परस्परम् ।
भद्राश्वकेतुमालस्था लङ्कासिद्धपुराश्रिताः ।।५२।।

सर्वत्रैव महीगोले स्वस्थानमुपरि स्थितम् ।
मन्यन्ते खे यतो गोलस्तस्य क्वोर्ध्वं क्व वाप्यधः ।।५३।।

अल्पकायतया लोकाः स्वस्थानात्सर्वतोमुखम् ।
पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्राकारां वसुन्धराम् ।।५४।।

सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषाम् ।
उपरिष्टाद् भगोलोऽयं व्यक्षे पश्चान्मुखः सदा ।।५५।।

भाषानुवाद—उसी प्रकार अन्य समसूत्रस्थ देशवासीगण अपने को ऊपर और दूसरों को नीचस्थ समझते हैं । जैसे भद्राश्व वर्ष देशस्थ पुरुष, केतुमाल देशस्थ, लङ्कानिवासी और सिद्धपुरवासी गण परस्पर एक दूसरे को ऊपर नीचस्थ मानते हैं ।।५२।। पृथिवी के गोल होने से भूगोल के सब ही प्रदेश में अपने अपने स्थान को लोग ऊर्ध्व समझते हैं, परन्तु यह भूगोल निराधार आकाश गोल में है, इस कारण इसके किस भाग में ऊंचाई एवं किस भाग में नीचाई कही जावे अर्थात् इसमें

ऊंचा नीचा कहां ? ॥५३॥ छोटे शरीर होने के कारण से लोग अपने अपने स्थान से चारों ओर इस गोल पृथिवी को भी चपटी देखते हैं ॥५४॥ यह भूगोल देवताओं के निकट सव्य क्रम से (पूर्व से, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर) और असुरों के निकट अपसव्यादि क्रम से (पूर्व, उत्तर, पश्चिम, दक्षिण) और निरक्षदेश में सदा पूर्व से पश्चिम की ओर भ्रमण करता है ॥५५॥

अतस्तत्र दिनं त्रिंशन्नाडिकं शर्वरी तथा ।
हानिवृद्धी सदा वामं सुरासुरविभागयोः ॥५६॥
मेषादौ तु सदा वृद्धिरुदगुत्तरतोऽधिका ।
देवांशे च क्षपाहानिर्विपरीतं तथासुरे ॥५७॥
तुलादौ द्युनिशोर्वामं क्षयवृद्धी तयोरुभे ।
देशक्रान्तिवशान्नित्यं तद्विज्ञानं पुरोदितम् ॥५८॥

भाषानुवाद—पूर्वोक्त कारण से निरक्ष देश में सदा तीस घड़ी का दिन एवं तीस ही घड़ी की रात्रि होती है। सुरासुर विभाग में दिन रात्रि की हानि और वृद्धि विपरीत भाव से होती है अर्थात् जब देव (उत्तर मेरु) में दिन का ह्रास एवं रात्रि की वृद्धि होती है तो असुरभाग (दक्षिण मेरु) में दिन की वृद्धि और रात्रि का ह्रास होता है और देवभाग में दिन की वृद्धि और रात्रि का ह्रास होता है तब असुरभाग में दिन की हानि एवं रात्रि की वृद्धि होती है ॥५६॥ सूर्य जब मेषादि अर्थात् मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या इन छः राशियों में उत्तरायण में होता है तो उत्तर मेरु प्रदेश में दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है। और उस असुरभाग में इसके विपरीत होता है अर्थात् दिन का ह्रास और रात्रि की वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब सूर्य तुलादि अर्थात् तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन इन छः राशियों में होता है तब असुरभाग में दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है और देवभाग में दिन की हानि एवं रात्रि की वृद्धि होती है। क्षय और वृद्धि (दिन+रात्रि की) सूर्य की क्रान्ति के कारण होती है जिस के विषय में अ० २ में में कहा जा चुका है ॥५७,५८॥

भूवृत्तं क्रान्तिभागघ्नं भगणांशविभाजितम् ।
अवाप्तयोजनैरर्को व्यक्षाद्यात्युपरि स्थितः ॥५९॥
परमापक्रमादेवं योजनानि विशोधयेत् ।
भूवृत्तपादाच्छेषाणि यानि स्युर्योजनानि तैः ॥६०॥
अयनान्ते विलोमेन देवासुरविभागयोः ।
नाडीषष्ट्या सकृदहर्निशाप्यस्मिन्सकृत्तथा ॥६१॥

तदन्तरेऽपि षष्टयन्ते क्षयवृद्धी अहर्निशोः ।
परतो विपरीतोऽयं भगोलः परिवर्त्तते ॥६२॥

ऊने भूवृत्तपादे तु द्विज्यापक्रमयोजनैः ।
धनुर्मृगस्थः सविता देवभागे न दृश्यते ॥६३॥

तथा चाऽसुरभागे तु मिथुने कर्कटे स्थितः ।
नष्टच्छायामहीवृत्तपादे दर्शनमादिशेत् ॥६४॥

भाषानुवाद—भूवृत्त (५०५९) को सूर्य की क्रान्ति से गुणा कर गुणनफल को ३६० से भाग दे, भागफल योजन संख्या निरक्ष देश से उतने योजन दूर स्थित स्थान में सूर्य मध्याह्न के समय मस्तकोपरि होगा ॥५९॥ सूर्य की परम क्रान्ति (२४ अंश परिमित) के योजन को भूवृत्त (५०५९) के चोथे भाग से घटाने पर शेष योजन संख्या रहती है। निरक्षदेश से उतने दूर दक्षिण और उत्तरप्रदेश में विपरीत भाव से ६० घड़ी का दिन और रात होता है अर्थात अयनान्त। जब मकरराशिस्थ सूर्य उत्तर-भाग में होता है उस समय देवभाग में ६० घड़ी की रात एवं असुरभाग में ६० घड़ी का दिन होता है और जब कर्क राशिस्थ सूर्य होता है तब निरक्ष देश से उत्तर उतने योजनान्तरित देश में ६० घड़ी का दिन एवं दक्षिणभाग में ६० घड़ी की रात्रि होती है ॥६०, ६१॥ निरक्ष देश में पूर्वोक्त रीति से जितनी दूर उत्तर और दक्षिण प्रदेश में ६० घड़ी में हानि और वृद्धि कही गयी हैं उस के अनुसार वहां दिन रात होते हैं परन्तु निरक्ष के दक्षिण और उत्तर उक्त अवधि से आगे के देशों में यह भूगोल गणित के विरुद्ध भ्रमण करता है, इसलिये उस से परे के देशों में दिन रात्रि की ह्रास वृद्धि नहीं कही गई ॥६२॥ दो राशि की ज्या के क्रान्ति के अंश को भूवृत्त (५०५९) से घटावे शेष फल योजन निरक्ष देश से उत्तर उतने दूर प्रदेश में धनु और मकर राशि का सूर्य देवों को नहीं दीखता अर्थात् उन की रात्रि रहती और निरक्षदेश से दक्षिण प्रदेश में उक्त योजन दूर पर मिथुन और कर्क राशि का सूर्य असुरों को नहीं दीखता अर्थात् उन की रात्रि रहती है। जिस स्थान में पृथिवी की छाया नहीं है वहां सूर्य का दर्शन होता अर्थात् दिन होता है और पृथिवी के वृत्त के चतुर्थांश में सदैव सूर्य दर्शन कहना चाहिये ॥६३, ६४॥

एकज्यापक्रमानीतैर्योजनैः परिवर्जितैः ।
भूमिकक्षाचतुर्थांशे व्यक्षाच्छेषैस्तु योजनैः ॥६५॥

धनुर्मृगालिकुम्भेषु संस्थितोऽर्को न दृश्यते ।
देवभागेऽसुराणां तु वृषाद्ये भचतुष्टये ॥६६॥

मेरौ मेषादिचक्रार्धे देवाः पश्यन्ति भास्करम् ।

सकृदेवोदितं तद्वदसुराश्च तुलादिगम् ॥६७॥
भूमण्डलात्पञ्चदशे भागे देवेऽथवासुरे ।
उपरिष्टाद् व्रजत्यर्कः सौम्ययाम्यायनान्तगः ॥६८॥
तदन्तरालयोश्छाया याम्योदक् सम्भवत्यपि ।
मेरोरभिमुखं याति परतः स्वविभागयोः ॥६९॥
भद्राश्वोपरिगः कुर्याद् भारते तूदयं रविः ।
रात्र्यर्धं केतुमाले तु कुरावस्तमयं तदा ॥७०॥
भारतादिषु वर्षेषु तद्वदेव परिभ्रमन् ।
मध्योदयार्धरात्र्यस्तकालान्कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥७१॥

भाषानुवाद—एक राशि की ज्या के क्रान्ति अंश के योजन से भूवृत्त के चतुर्थांश योजन के घटाने पर शेष योजन संख्या होगी । उतनी दूर निरक्ष देश के उत्तर भाग में वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, राशि स्थित सूर्य तत्रत्य लोगों (देवताओं) को नहीं दीखता । और निरक्षदेश से दक्षिणभाग में उतने योजन अन्तर में वृष, मिथुन, कर्क, सिंह राशिस्थ सूर्य असुरों को नहीं दीखता । और उत्तर मेरु निवासियों को वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह इन राशियों में स्थित सूर्य देवों को दीखता है। एवं वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ राशि में अवस्थित सूर्य असुरों को दीखता है ॥६५,६६॥ उत्तर मेरु निवासियों को मेषादि (मेष, वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह, कन्या) चक्रार्धगत सूर्य एक बार उदय हुआ छः महीने तक दृश्य होता है और दक्षिण मेरु निवासियों को तुलादि (तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन) अपर चक्रार्धगत सूर्य एक वार उदय हुआ छः मास तक दीखता है ॥६७॥ निरक्षदेश से भूवृत्त के १५ भाग (अंश) दूर उत्तर प्रदेश में—(उतने योजन परिमित अन्तर पर) उत्तरायण में देवभाग में सूर्य मस्तकोपरि दीखता है और १५ अंश परिमित योजन अन्तर पर दक्षिणायनसूर्य असुरभाग में मस्तक के ऊपर दीखता है ॥६८॥ निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित अन्तर उत्तर और दक्षिण प्रदेश की अभीष्ट कालिक छाया दक्षिण या उत्तर होती है अर्थात् निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित अन्तर में उत्तर देश में मध्याह्न नतांश दक्षिण रहने पर छाया उत्तर रहती है। नतांश उत्तर रहने पर छाया दक्षिण होता है । इसी प्रकार निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित अन्तरदेश में सूर्य के उत्तरस्थ होने पर छाया दक्षिण और सूर्य के दक्षिणस्थ होने पर छाया उत्तर होगी और निरक्ष देश से १५ अंश योजन परिमित उत्तर और दक्षिण प्रदेश से आगे उत्तर और दक्षिण मेरु के सम्मुख छाया पड़ती है ॥६९॥ भारतवर्ष में जब सूर्य मस्तक के ऊपर होता है तो भारतवर्ष में मध्याह्न, केतुमाल में

सूर्योदय, कुरुवर्ष में आधीरात और भद्राश्व वर्ष में सायङ्काल होता है। जब केतुमालवर्ष में सूर्य मस्तक के ऊपर होता है तो केतुमाल में मध्याह्न, कुरुवर्ष में सूर्योदय, भद्राश्व वर्ष में आधी रात और भारतवर्ष में सायङ्काल होता है और जब कुरुवर्ष में सूर्य मस्तक के ऊपर होता है तो कुरुवर्ष में मध्याह्न, भद्राश्ववर्ष में सूर्योदय, भारतवर्ष में आधी रात और केतुमाल वर्ष में सूर्यास्त होता है। उक्त देशों में जो मध्याह्न आधी रात सूर्योदय और सूर्यास्त की व्यवस्था कही गई है, उसी प्रकार यथायोग्य दिन रात्रि के शेष भागों की भी व्यवस्था कर लेनी चाहिये ॥७०,७१॥

ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य नतिर्मेरुं प्रयास्यतः।
निरक्षाभिमुखं यातुर्विपरीते नतोन्नते ॥७२॥

भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः।
पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ॥७३॥

सकृदुद्गतमब्दार्धं पश्यन्त्यर्कं सुरासुराः।
पितरः शशिगाः पक्षं स्वदिनं च नरा भुवि ॥७४॥

उपरिस्थस्य महती कक्षाल्पाधःस्थितस्य च।
महत्या कक्षया भागा महान्तोऽल्पास्तथाल्पया ॥७५॥

कालेनाल्पेन भगणं भुङ्क्तेऽल्पभ्रमणाश्रितः।
ग्रहः कालेन महता मण्डले महति भ्रमन् ॥७६॥

स्वल्पयातो बहून्भुङ्क्ते भगणाञ्छीतदीधितिः।
महत्या कक्षया गच्छंस्ततःस्वल्पं शनैश्चरः ॥७७॥

भाषानुवाद—उत्तरीय मेरु की ओर जाने वाले को ध्रुवतारा की उन्नति (ऊंचा उठना) और आकाश के दक्षिण भाग की अवनति (दक्षिण भाग के तारे नीचे जाते दीखते) दिखलाई देती और दक्षिण ध्रुव की ओर जाने वाले को इसके उलटा अर्थात् जैसे जैसे दक्षिण ध्रुव की ओर जाता है, ध्रुवतारा की उन्नति और उत्तर के तारों की अवनति दिखलाई देती है और निरक्ष देश की ओर जाने वाले को इससे विपरीत ही बोध होता है; अर्थात् उत्तर भागस्थ पुरुष को निरक्ष प्रदेश की ओर जाने से उत्तर ध्रुवतारा की नति और भचक्र (नक्षत्र सब) की उन्नति दिखलाई देती है और दक्षिण भागस्थ पुरुष को निरक्ष की ओर जाने से दक्षिण ध्रुव की नति, एवं भचक्र को उन्नति दिखलाई देती है ॥७२॥ दो ध्रुवों में (उत्तर दक्षिण) बंधे हुये भचक्र के मध्य में ग्रहगण प्रवह वायु से (मध्याकर्षण द्वारा) अपनी अपनी कक्षा में घूमते हैं ॥७३॥ देवता और असुरगण जिस प्रकार एक वार उदय हुये सूर्य को छः मास तक देखते हैं, पितृगण (चन्द्रलोकस्थित) चन्द्रस्थित होने के

कारण १५ दिन (पक्ष भर) तक और पृथिवी के मनुष्य १ सारे दिन सूर्य को देखते हैं ।।७४।। क्रम से जैसे जैसे ग्रहों की कक्षा ऊपर को है, वैसे वैसे बड़ी है । एवं नीचे जिन ग्रहों की कक्षा हैं, वे छोटी हैं । इस कारण कक्षागत अंश बहुत और थोड़े होते हैं ।।७५।। जिन ग्रहों की कक्षा छोटी है वे थोड़े समय में, एवं जिन की बड़ी कक्षा है, वे बहुत समय में अपने अपने भगण को भोगते हैं ।।७६।। एक ही समय में छोटी कक्षा के कारण चन्द्रमा अनेक बार बहुत भगण भोग कर लेता है। परन्तु शनि अपनी बड़ी कक्षा होने से थोड़े भगण भोगता है ।।७७।।

मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः ।
वर्षाधिपतयस्तद्वत्तृतीयाश्च प्रकीर्त्तिताः ।।७८।।

ऊर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपाः स्मृताः ।
होरेशाः सूर्यतनयादधोऽधः क्रमशस्तथा ।।७९।।

भवेद् भकक्षा तिग्मांशोर्भ्रमणं षष्टिताडितम् ।
सर्वोपरिष्टाद् भ्रमति योजनैस्तैर्भमण्डलम् ।।८०।।

कल्पोक्तचन्द्रभगणा गुणिताः शशिकक्षया ।
आकाशकक्षा सा ज्ञेया करव्याप्तिस्तथा रवेः ।।८१।।

सैव यत्कल्पभगणैर्भक्ता तद्भ्रमणं भवेत् ।
कुवासरैर्विभज्याह्नः सर्वेषां प्राग्गतिः स्मृता ।।८२।।

भुक्तियोजनजा सङ्ख्या सेन्दोर्भ्रमणसङ्गुणा ।
स्वकक्षाप्ता तु सा तस्य तिथ्याप्ता गतिलिप्तिकाः ।।८३।।

कक्षा भूकर्णगुणिता महीमण्डलभाजिता ।
तत्कर्णा भूमिकर्णोना ग्रहौच्च्यं स्वं दलीकृताः ।।८४।।

भाषानुवाद—शनि के नीचे के वृत्त में (शनि, रवि, सोम, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र) गया हुआ क्रमशः चौथा ग्रह दिन का स्वामी और शनि के नीचे वृत्त में (शनि, भौम, शुक्र, सोम, गुरु, सूर्य, बुध) गया हुआ क्रमशः तीसरा ग्रह वर्ष का स्वामी होता है ।।७८।। चन्द्रमा के वृत्त से ऊपर गये हुये (चन्द्रमा, बुध, शुक्र, रवि, भौम, गुरु, शनि) मास के स्वामी होते हैं । शनि से नीचे (शनि, गुरु, भौम, रवि, शुक्र, बुध, चन्द्रमा) क्रम से गया हुआ ग्रह होरा का स्वामी होता है ।।७९।। सूर्य की कक्षा (४३३१५०० योजन) को ६० से गुणा कर गुणनफल नक्षत्र कक्षा योजन का परिमाण होता है । वह सब ग्रहों के ऊपर है ।।८०।। एक कल्प में चन्द्रमा के जितने भगण होते हैं, इस को चन्द्रमा की कक्षा से गुणा करने से गुणनफल आकाश कक्षा होगी । इतने योजन में सूर्य की किरणें व्याप्त होती हैं ।।८१।। उक्त आकाश कक्षा

को ग्रहों के अपने अपने कल्प भगण से भाग दिया जावे तो भागफल अपनी अपनी कक्षा होगी। इस कक्षा को कल्प के सावन दिन से भाग करे, भागफल सब ग्रहों की अपनी अपनी प्रात्यहिक पूर्व गति होगी ॥८२॥ भुक्तियोजन को चन्द्रमा की कक्षा से गुणा करे, गुणनफल में अभीष्ट ग्रह की कक्षा से भाग देवे, भागफल उस ग्रह की गतिकला होगी ॥८३॥ ग्रहकक्षा को भूकर्ण (८००) से गुणा कर गुणनफल को भूवृत्त (५०५९) द्वारा भाग करने पर भागफल इष्ट ग्रह का कक्षाकर्ण होगा। उस से भूकर्ण को घटाकर वियोगफल में दो का भाग देवे भागफल ग्रहों की पृथिवी से दूरता का निर्णय होगा ॥८४॥

खत्रयाब्धिद्विदहनाः कक्षा तु हिमदीधितेः।
ज्ञशीघ्रस्याङ्कखद्वित्रिकृतशून्येन्दवस्ततः ॥८५॥

शुक्रशीघ्रस्य सप्ताग्निरसाब्धिरसषड्यमाः।
ततोऽर्कबुधशुक्राणां खखार्थैकसुरार्णवाः ॥८६॥

कुजस्याप्यङ्कशून्याङ्कषड्वेदैकभुजङ्गमाः।
चन्द्रोच्चस्य कृताष्टाब्धिवसुद्वित्र्यष्टवह्नयः ॥८७॥

कृततु मुनिपञ्चाद्रिगुणेन्दुविषया गुरोः।
स्वर्भानोर्वेदतर्काष्टद्विशैलार्थखकुञ्जराः ॥८८॥

पञ्चवाणाक्षिनागर्तु रसाद्र्यर्काः शनेस्ततः।
भानां रविखशून्याङ्कवसुरन्ध्रशराश्विनः ॥८९॥

खव्योमखत्रयखसागरषट्कनागव्योमाष्टशून्ययमरूपनगाष्टचन्द्राः।
ब्रह्माण्डसम्पुटपरिभ्रमणं समन्तादभ्यन्तरे दिनकरस्य करप्रसारः ॥९०॥

इति सूर्यसिद्धान्ते द्वादशो भूगोलाध्यायः ॥१२॥

भाषानुवाद—चन्द्रमा की कक्षा ३२४००० योजन, बुध शीघ्रोच्च की कक्षा १०४३२०९ योजन है ॥८५॥ शुक्र शीघ्रोच्च की कक्षा २६६४६३७ योजन, सूर्य बुध और शुक्र मध्य की कक्षा ४३३१५०० योजन है अर्थात् इन तीनों की कक्षा का परिमाण एक ही है ॥८६॥ मङ्गल की कक्षा ८१४६९०९ योजन, चन्द्रोच्च की कक्षा ३८३२८४८४ योजन है ॥८७॥ बृहस्पति की कक्षा ५१३७५७६४ योजन, चन्द्रमा के पात (राहु) की कक्षा ८०५७२८६४ योजन है ॥८८॥ शनि की कक्षा १२७६६८२५५ योजन। भकक्षा २५९८९००१२ योजन है ॥८९॥ ब्रह्माण्ड की कक्षा १८७१२०८०८६४०००००० योजन है, इन का मध्य सूर्य की किरणों का विस्तार है ॥९०॥

विवरण—आकाश कक्षा जो लिखी है यह वास्तविक आकाश कक्षा नहीं, किन्तु ग्रह-कक्षा जानने के लिये आकाशकक्षा मान कर एक प्रकार की संख्या मान ली गई है। भास्कराचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है:—

ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि।
यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः ॥३॥

(सि० शि० कक्षाध्याय)

अर्थात्—ब्रह्माण्ड की इतनी ही कक्षा है, यह ठीक नहीं। परन्तु पूर्वाचार्यों ने इस संख्या से ग्रहादि कक्षा का परिमाण निश्चय किया है। पुनः—

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्भुजङ्गेन्दुभि-
र्ज्योतिःशास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनैः।
तद्ब्रह्माण्डकटाहसम्पुटतटे केचिज्जगुर्वेष्टनं,
केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥६७॥

अर्थात्—ज्योतिषशास्त्रवित् पण्डितगण कहते हैं कि आकाश की कक्षा की योजन संख्या १८७१२०६९२००००००० है। इस को कोई कोई ब्रह्माण्ड कटाह के सम्पुटस्थ वेष्टन समझते हैं। एवं किसी किसी पौराणिक का अनुमान है कि यह लोकालोक पर्वत का वेष्टन (घेरा) मात्र है ॥६७॥

इति भाषानुवादे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

ओ३म्

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

ज्यौतिषोपनिषदध्यायः

अथ गुप्ते शुचौ देशे स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।
सम्पूज्य भास्करं भक्त्या ग्रहान्भान्यथ गुह्यकान् । १।।

पारम्पर्योपदेशेन यथाज्ञानं गुरोर्मुखात् ।
आचार्यः शिष्यबोधार्थं सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ।।२।।

भूभगोलस्य रचनां कुर्यादाश्चर्यकारिणीम् ।
अभीष्टं पृथिवीगोलं कारयित्वा तु दारवम् ।।३।।

दण्डं तन्मध्यगं मेरोरुभयत्र विनिर्गतम् ।
आधारकक्षाद्वितयं कक्षा वैषुवती तथा ।।४।।

भगणांशाङ्गुलैः कार्या दलितैस्तिस्र एव ताः ।
स्वाहोरात्रार्धकर्णैश्च तत्प्रमाणानुमानतः ।।५।।

क्रान्तिविक्षेपभागैश्च दलितैर्दक्षिणोत्तरैः ।
स्वैःस्वैरपक्रमैस्तिस्रो मेषादीनामपक्रमात् ।।६।।

कक्षाः प्रकल्पयेत्ताश्च कर्कादीनां विपर्ययात् ।
तद्वत्तिस्रस्तुलादीनां मृगादीनां विलोमतः ।।७।।

भाषानुवाद—एकान्त पवित्र (साफ) स्थान में स्नानादि नित्यक्रिया कर शुद्धमन होकर आचार्य (सूर्यांशपुरुष) वस्त्रादिक पहनकर सूर्य और ग्रहाधिष्ठित नारायण को प्रणाम कर, शिष्य (मयासुर) को सुगमतया बोध के लिये प्रत्यक्ष करके जिस प्रकार गुरुमुख से एवं परंपरा से ज्ञान प्राप्त किया था, ज्योतिष के सब विषयों को मय को दिखलाया ।।१,२।। शिष्य को भलीभांति भूगोल एवं भगोल विषयक (पूर्वोक्त) ज्ञान हो । गणक को चाहिये कि किसी गोल विद्यावित् शिल्पज्ञ से अभीष्ट काठ का आश्चर्यकारी भूगोल और भगोल बनवावे, उस भूगोल में दोनों ओर (दक्षिण उत्तर) निकाला हुआ मेरु दण्ड आधार की दो कक्षा और दो विषुवद्वृत्त की कक्षा बनाये ।।३,४।। स्वाहोरात्रार्द्ध कर्ण परिमाण से व्यास विशिष्ट तीन वृत्तों को खींचे और प्रत्येक वृत्त में तीन सौ साठ, तीन सौ साठ भाग चिह्न करे,

क्रान्ति विक्षेपांश अङ्कित दक्षिणोत्तर रेखा में मेषादि के अपक्रम के अनुसार अपक्रमांश में उक्त तीनों वृत्तों को संयोग करावे, वे ही विपरीत भाव (वर अक्स) से कर्कादि की कक्षा होंगी। उसी प्रकार दक्षिण ओर भी तुलादि की तीन कक्षाओं को संयुक्त करे, वे ही विलोम (उलटे क्रम) से मकरादि की कक्षा होंगी ॥५,६,७॥

याम्यगोलाश्रिताः कार्याः कक्षाधाराद् द्वयोरपि।
याम्योदग्गोलसंस्थानां भानामभिजितस्तथा ॥८॥

सप्तर्षीणामगस्त्यस्य ब्रह्मादीनां च कल्पयेत्।
मध्ये वैषुवती कक्षा सर्वेषामेव संस्थिता ॥९॥
तदाधारयुतेरूर्ध्वमयने विषुवद्द्वयम्।
विषुवत्स्थानतो भागैः स्फुटैर्भगणसञ्चरात् ॥१०॥

क्षेत्राण्येवमजादीनां तिर्यग्ज्याभिः प्रकल्पयेत्।
अयनादयनं चैव कक्षा तिर्यक् तथापरा।
क्रान्तिसंज्ञा तया सूर्यः सदा पर्येति भासयन् ॥११॥

चन्द्राद्याश्च स्वकैः पातैरपमण्डलमाश्रितैः।
ततोऽपकृष्टा दृश्यन्ते विक्षेपान्तेष्वपक्रमात् ॥१२॥

उदयक्षितिजे लग्नमस्तं गच्छच्च तद्वशात्।
लङ्कोदयैर्यथासिद्धं खमध्योपरि मध्यमम् ॥१३॥

भाषानुवाद—उत्तर, दक्षिण गोलस्थित, अभिजित् आदि नक्षत्रगण की कक्षा सब को आधारकक्षा के ऊपर संयुक्त करे। इसी प्रकार सप्तर्षि, अगस्त्य, ब्रह्म-हृदयादि की कक्षा होंगी। सब के बीच के भाग में विषुवतीकक्षा रहेगी ॥८,९॥ विषुवती और आधार कक्षा के संयोगस्थान से ऊपर के प्रदेश में दो अयन और दो विषुव का चिह्न करे, उस के बाद विषुव रेखा से राशि अन्तर में मेषादि १२ क्षेत्र तिर्छे निरूपण करे। एक अयन से दूसरा अयन गत तिर्छे कक्षा को "क्रान्ति-कक्षा" कहते हैं। इसी कक्षा में सूर्य भ्रमण करते दीखता है। चन्द्रादि अपने पात से आकृष्ट होकर अन्य वृत्त में भ्रमण करता है। उसी प्रकार आकृष्ट होकर अपने अपक्रम से विक्षेपान्त में दृश्य होता है। उदय क्षितिजवृत्त में उन के अंश ही उदय लग्न हैं। एवं अस्त में अस्त लग्न है ॥१०-१३॥

मध्यक्षितिजयोर्मध्ये या ज्या सान्त्याभिधीयते।
ज्ञेया चरदलज्या च विषुवत्क्षितिजान्तरम् ॥१४॥

कृत्वोपरि स्वकं स्थानं मध्ये क्षितिजमण्डलम् ॥१५॥

वस्त्रच्छन्नं बहिश्चापि लोकालोकेन वेष्टितम्।

अमृतस्रावयोगेन कालभ्रमणसाधनम् ॥१६॥

तुङ्गबीजसमायुक्तं गोलयन्त्रं प्रसाधयेत् ।
गोप्यमेतत्प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह ॥१७॥

तस्माद् गुरूपदेशेन रचयेद् गोलमुत्तमम् ।
युगे युगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः ।
प्रसादात्कस्यचिद् भूयः प्रादुर्भवति कामतः ॥१८॥

कालसंसाधनार्थाय तथा यन्त्राणि साधयेत् ।
एकाकी योजयेद् बीजं यन्त्रे विस्मयकारिणि ॥१९॥

भाषानुवाद—मध्य और क्षितिज के मध्य में जो ज्या है वही "अन्त्या" है। विषुवत् और क्षितिज के अन्तर को "चरदलज्या" कहते हैं ॥१४॥ काष्ठ के बनाये हुए उक्त भूगोल में अपने स्थान को सब से ऊपर कर के मध्य में क्षितिज मण्डल स्थिर करे ॥१५॥ दृष्टान्त गोल के क्षितिज के बाहर वस्त्र से ढक कर वस्त्र के ऊपर वृत्तों को अङ्कन करके जलप्रवाह से कालसाधन करे ॥१६॥ गणक को चाहिये कि पारे के साथ गोलयन्त्र को सिद्ध करे जिस में ६० नाक्षत्रिक घटिकाओं में दृष्टान्त गोल भ्रमण कर जावे। यह विषम विषय भली भांति प्रत्यक्षतया दिखलाने और स्पष्टतया कहने से तो सब को समझ में आवेगा ॥१७॥ इस लिये गुरु के उपदेश से गणक उत्तम गोल बनावे। यह (सावित्रविद्या) युग युग में लुप्तप्राय हो जाती है, परन्तु ईश्वर को कृपा से पुनः किन्हीं ऋषि द्वारा प्रकट होती है ॥१८॥ कालसाधन के लिये स्वयं इस यन्त्र के अतिरिक्त अन्यान्य यन्त्र भी अच्छे शिलपज्ञ द्वारा बनवावे और केवल एक पारा आश्चर्यकारी यन्त्रों में मिलवावे ॥१९॥

शङ्कुयष्टिधनुश्चक्रै श्छायायन्त्रैरनेकधा ।
गुरूपदेशाद्विज्ञेयं कालज्ञानमतन्द्रितैः ॥२०॥

तोययन्त्रकपालाद्यै र्मयूरनरवानरैः ।
ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत् ॥२१॥

पारदाराम्बुसूत्राणि शुल्बतैलजलानि च ।
बीजानि पांसवस्तेषु प्रयोगास्तेऽपि दुर्लभाः ॥२२॥

ताम्रपात्रमधश्छिद्रं न्यस्तं कुण्डेऽमलाम्भसि ।
षष्टिर्मज्जत्यहोरात्रे स्फुटं यन्त्रं कपालकम् ॥२३॥

नरयन्त्रं तथा साधु दिवा च विमले रवौ ।
छायासंसाधनैः प्रोक्तं कालसाधनमुत्तमम् ॥२४॥

ग्रहनक्षत्रचरितं ज्ञात्वा गोलं च तत्त्वतः ।
ग्रहलोकमवाप्नोति पर्यायेणात्मवान्नरः ॥२५॥

इति ज्यौतिषोपनिषदध्यायस्त्रयोदशः ॥१३॥

भाषानुवाद—निष्कपट तथा भ्रमरहित गुरु के उपदेश से गणक को चाहिये कि शङ्कु, यष्टि, धनु, चक्र और अनेक प्रकार के छायायन्त्र द्वारा कालसाधन करे अर्थात् कालज्ञान करे ॥२०॥ कपालादि जलयन्त्र, मयूर नामक स्वयंवह यन्त्र, शङ्कुनामक नर या छायायन्त्र, या नरनामक स्वयंवह यन्त्र बनाए और मयूरनामक स्वयंवह यन्त्र में इस प्रकार निपुणता से वालु भरे जिस में क्रम क्रम से ६० घड़ी में सब वालु गिर जावे ॥२१॥ पूर्वोक्त यन्त्र तथा पारे से मिला हुआ जलयन्त्र, सूत्र, शिल्प की निपुणता, तेल मिला हुआ जल, पारा, बालू इन सब का प्रयोग करना (सर्वसाधारण के लिये) बहुत कठिन है ॥२२॥ निर्मल जल भरे हुए माटी के घड़े में एक तामे का बना हुआ कटोरा जिस के नीचे छेद हो, रक्खे, यह कपालकनामक-यन्त्र अहोरात्र में साठ वार जल में डूबेगा ॥२३॥ दिन में जब बादलरहित आकाश स्वच्छ हो उस समय सूर्य के आतप में छाया द्वारा काल जानने के लिये नरयन्त्र (१२ अंगुल) साधन करे ॥२४॥ ग्रह नक्षत्रादि चरित (स्थित्यादि) भूगोल और खगोल को भली भांति जानकर मनुष्य ग्रहादि लोकों को यथावत् जान लेता है और आत्मज्ञानी हो जाता है (जिस से मोक्ष होता है) ॥२५॥

इति भाषानुवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

ओ३म्

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

मानाध्यायः

ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं गुरोस्तथा ।
सौरञ्च सावनञ्चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव ॥१॥

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः ।
बार्हस्पत्येन षष्टयब्दं ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः ॥२॥

सौरेण द्युनिशोर्मानं षडशीतिमुखानि च ।
अयनं विषुवच्चैव संक्रान्तेः पुण्यकालता ॥३॥

तुलादिषडशीत्यह्नां षडशीतिमुखं क्रमात् ।
तच्चतुष्टयमेव स्याद् द्विस्वभावेषु राशिषु ॥४॥

षड्विंशे धनुषो भागे द्वाविंशे निमिषस्य च ।
मिथुनाष्टादशे भागे कन्यायास्तु चतुर्द्दशे ॥५॥

ततः शेषाणि कन्याया यान्यहानि तु षोडश ।
ऋतुभिस्तानि तुल्यानि पितृणां दत्तमक्षयम् ॥६॥

भाषानुवाद—कालमान नौ प्रकार के हैं—ब्राह्म, दैव, पित्र्य, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र मान हैं ॥१। उनमें से लोक में प्रायः चार मानों का नित्य प्रयोजन पड़ता है, वे ये हैं—सौर, चान्द्र, नाक्षत्रिक और सावन। ६० वर्ष के ज्ञान के लिये बृहस्पतिमान का प्रयोजन होता है। एवं शेष ब्राह्म, दैव, पित्र्य, प्राजापत्य इन का प्रयोजन नित्य नहीं होता, परन्तु कभी कभी होता है ॥२॥ अहोरात्र का परिमाण, षडशीति मुख आदि, (संक्रान्ति विशेष) अयन, (उत्तरायण, दक्षिणायन) विषुवत् और संक्रान्ति की पुण्यकालता ये सब सौरमान से निर्णीत होते हैं ॥३॥ तुलादि राशि के प्रारम्भ से ८६ सौर दिन में षडशीतिमुख नाम की संक्रान्ति होती है। यह क्रम से चार द्विस्वभाव वाली राशियों में होती है ॥४॥ प्रथम षडशीतिमुख धनु राशि के २६ अंश में, दूसरा मीन राशि के २२ अंश में, तीसरा मिथुनराशि के १८ अंश में, चौथा कन्याराशि के १४ अंश में होता है ॥५॥ कन्याराशि के अवशिष्ट १६ अंश (अर्थात् १४ अंश तो षडशीतिमुख, शेष १६

अंश) यज्ञकार्य के लिये अच्छा है। इस समय पितृगण के लिये दिया हुआ अक्षय होता है ।।६।।

विवरण श्लो० ६ – इस समय के दान की प्रशंसापरक वचन की उपपत्ति समझ में नहीं आती कि क्यों ऐसा लिखा है और न यह सिद्धान्त ज्योतिष का विषय है। पञ्चसिद्धान्तिका की टीका में भी महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी जी इसी विषय पर लिखते हैं कि "तुला आदिर्यस्याः सा तुलादिः कन्या तस्याः षडशीतिमुखेषु ये दिवसाः षोडशावशेषाः सन्ति ते पितृदिवसास्तत्र पितृणां दत्तमक्षयं स्यादित्यत्र प्राचीनवचनान्येव प्रमाणानीति" अर्थात् उक्त पितृदिवस में दान देने से अक्षय होता है इस की कोई उपपत्ति नहीं इस में प्राचीन वचन ही प्रमाण हैं ।।

भचक्रनाभौ विषुवद्द्वितयं समसूत्रगम् ।
अयनद्वितयं चैव चतस्रः प्रथितास्तु ताः ।।७।।

तदन्तरेषु संक्रान्तिद्वितयं द्वितयं पुनः ।
नैरन्तर्यात्तु संक्रान्तेर्ज्ञेयं विष्णुपदीद्वयम् ।।८।।

भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम् ।
कर्कादेस्तु तथैव स्यात्षण्मासा दक्षिणायनम् ।।९।।

द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः ।
मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सरः ।।१०।।

अर्कमानकलाः षष्ट्या गुणिता भुक्तिभाजिताः ।
तदर्धनाड्यः संक्रान्तेरर्वाक्पुण्यं तथा परे ।।११।।

अर्काद्विनिःसृतः प्राचीं यद्यात्यहरहः शशी ।
तच्चान्द्रमानमंशैस्तु ज्ञेया द्वादशभिस्तिथिः ।।१२।।

भाषानुवाद—नक्षत्रचक्र की नाभि (बीच) में दो विषुवन् (मेष और तुला) विन्दु (चिह्न) समसूत्रग (वरावर) हैं और उसी प्रकार दो अयन (मकर अयनान्त, कर्कट अयनान्त) भी हैं। ये चार विन्दु सदा प्रसिद्ध हैं ।।७।। पूर्वोक्त दोनों विषुव अयन में निरन्तर दो संक्रान्ति होती हैं और जो चार संक्रान्ति उन के पीछे होती हैं उन को विष्णुपदी कहते हैं ।।८।। (शेष संक्रान्ति का नाम षडशीति है) सूर्य के मकर (मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष, मिथुन ये छः राशि) संक्रान्ति के पीछे छः सौर मास की उत्तरायण संज्ञा है और कर्कट की संक्रान्ति (कर्कट, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, छः राशि) के पीछे छः सौरमास की दक्षिणायन संज्ञा है ।।९।। मकर संक्रान्ति के पीछे सूर्य के दो दो राशि भाग काल की शिशिरादि ऋतुसंज्ञा होती है और इस

प्रकार १२ महीनों का वर्ष होता है ।।१०।। सूर्यबिम्बमान की कला को ६० से गुणा कर गुणनफल में सूर्य की दैनिकभुक्ति से भाग देवे, भागफल कलादि का आधार परिमित समय संक्रान्तिकाल में घटाने वा जोड़ने से जो वियोगफल और योगफल रूप से समय होंगे उनका अन्तर (मध्य) अतिपुण्यप्रद होता है ।।११।। सूर्य का साथ छोड़कर प्रतिदिन चन्द्रमा पूर्वदिशा में जाता है, उस के लिये सूर्य से १२ अंश जाने को जितना समय लगता है उतने समय की एक तिथि संज्ञा है ।।१२।।

तिथिः करणमुद्वाहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा ।
व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ।।१३।।

त्रिंशता तिथिभिर्मासश्चान्द्रः पित्र्यमहः स्मृतम् ।
निशा च मासपक्षान्तौ तयोर्मध्ये विभागतः ।।१४।।

भचक्रभ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते ।
नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्वान्तयोगतः ।।१५।।

कार्त्तिक्यादिषु संयोगे कृत्तिकादि द्वयं द्वयम् ।
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रयं स्मृतम् ।।१६।।

वैशाखादिषु कृष्णे च योगः पञ्चदशे तिथौ ।
कार्त्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात्तथा ।।१७।।

उदयादुदयं भानोः सावनं तत्प्रकीर्त्तितम् ।
सावनानि स्युरेतेन यज्ञकालविधिस्तु तैः ।।१८।।

भाषानुवाद--तिथि, करण (अ० २ देखो) विवाह, क्षौरादि (चौल कर्म), व्रत, उपवास (किसी यज्ञ या वैदिक संस्कार निमित्त) यात्रा (कहीं जाना, उस की तारीख मालूम करना) ये सब चान्द्रमान द्वारा निर्णीत किये जाते हैं ।।१३।। ३० चान्द्र दिन का एक चान्द्रमास होता है। एवं इसी को पित्र्य अहोरात्र भी कहते हैं। चान्द्रमास दो प्रकार का होता है। एक अमावास्या से अमावास्या तक। दूसरा पूर्णमासी से पूर्णमासी तक। पहिले को अमान्त और दूसरे को पूर्णिमान्त चान्द्रमास कहते हैं। चान्द्रमास से १५ दिन का पित्र्य दिन और १५ दिन की पित्र्य रात्रि होती है ।।१४।। दैनिक नक्षत्रचक्र के भ्रमणकाल का नाक्षत्रिक अहोरात्र होता है, और पूर्णमासी के अन्त में जो नक्षत्र होता है उसी के नाम से महीने का नाम होता है ।।१५।। कार्त्तिकादि मास की पूर्णमासी से दो दो नक्षत्रों में एक एक मास होता है, परन्तु आश्विन, भाद्रपद और फाल्गुन इन तीन मासों में तीन तीन नक्षत्र होते हैं ।।१६।। जिस प्रकार वैशाखादि मास में पूर्णमासी को तिथि के नक्षत्र के नाम से महीने का नाम होता है, उसी प्रकार बृहस्पति के अस्त और उदय समय कृष्णपक्ष

को अमावास्या तिथि के नक्षत्र के नाम से वर्ष का नाम होता है।।१७।। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के मध्यवर्त्ती काल को 'सावन' दिन कहते हैं। इसी सावन मान से यज्ञकाल विधि निर्णीत होता है ।।१८।।

सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा।
मध्यमा ग्रहभुक्तिस्तु सावनेनैव गृह्यते ।।१९।।
सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रे विपर्ययात् ।
यत्प्रोक्तं तद् भवेद्दिव्यं भानोर्भगणपूरणात् ।।२०।।
मन्वन्तरव्यवस्था च प्राजापत्यमुदाहृतम् ।
न तत्र द्युनिशोर्भेदो ब्राह्मं कल्पः प्रकीर्त्तितम् ।।२१।।
एतत्ते परमाख्यातं रहस्यं परमाद्भुतम् ।
ब्रह्मैतत्परमं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।।२२।।
दिव्यं चार्क्षं ग्रहाणां च दर्शितं ज्ञानमुत्तमम् ।
विज्ञायार्कादिलोकेषु स्थानं प्राप्नोति शाश्वतम् ।।२३।।

भाषानुवाद—सूतक (जन्म मरण सम्बन्धी) आदि (वैद्यकशास्त्र द्वारा रोगियों को उपवास कराने की, विधि चान्द्रायण व्रत) आशौच, दिन, मास और वर्ष के अधिपति (अ० २ देखो) ग्रहों को दैनिक वा वार्षिक गति इन सब का गणित सावनमान से होता है ।।१९।। उत्तर मेरु निवासी और दक्षिण मेरु निवासियों का अहोरात्र विपरीत भाव से होता है (देखो अ० १२) और सूर्य के भगण (१२ राशि) पूर्ण कालका ही दिव्य दिन होता है ।।२०।। मन्वन्तर की व्यवस्था पहले कही जा चुकी है (देखो अ० १) वही "प्राजापत्यमान" है। इसमें अन्यान्यमान की तरह दिन रात्रि का भेद नहीं और कल्प ही "ब्राह्म मान" है ।।२१।। हे मय ! यह परम रहस्य ज्योतिष शास्त्र मैंने कहा। खगोल विद्या होने से अन्यान्य विद्याओं से यह अद्भुत है। ज्योतिष सम्बन्धी अविद्यारूपी पापों का नाश करनेवाला अतिपवित्र है, मानो ब्रह्म ही है। (सृष्टि सम्बन्धी यथावत् ज्ञान होने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है) ।।२२।। ग्रह और नक्षत्रादिक आकाशस्थ पदार्थ सम्बन्धी उत्तम ज्ञान मैंने तुम से कहा है। उसको यथावत् जानने से अनुत्तम सुख प्राप्त होता है। एवं ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ।।२३।।

यहां २३ वें से आगे निम्नलिखित २१ श्लोक किसी किसी पुस्तक में पाये जाते हैं, जिन को रङ्गनाथ टीकाकार ने लिखा है कि ये श्लोक किसी धृष्ट ने प्रक्षिप्त किये हैं। हम भी मूलमात्र छाप देते हैं। यथा—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम् ।।१।।

न देयं तत् कृतघ्नाय वेदविप्लावकाय च ।
अर्थलुब्धाय मूर्खाय साहङ्काराय पापिने ॥२॥
एवंविधाय पुत्रायाप्यदेयं सहजाय च ।
दत्तेन वेदमार्गस्य समुच्छेदः कृतो भवेत् ॥३॥
व्रजेतामन्धतामिस्रं गुरुशिष्यौ सुदारुणम् ।
ततः शान्ताय शुचये ब्राह्मणायैव दापयेत् ॥४॥
चक्रानुपातजो मध्यो मध्यवृत्तांशजः स्फुटः ।
कालेन दृक्समो न स्यात् ततो बीजक्रियोच्यते ॥५॥
राश्यादिरिन्दुरङ्कघ्नो भक्तो नक्षत्रकक्षया ।
शेषं नक्षत्रकक्षायास्त्यजेच्छेषकयोस्तयोः ॥६॥
यदल्पं तद्भजेद्भानां कक्षया तिथिनिघ्नया ।
बीजं भागादिकं तत् स्यात् कारयेत् तद्धनं रवौ ॥७॥
त्रिगुणं शोधयेदिन्दौ जिनघ्नं भूमिजे क्षिपेत् ।
दृग्यमघ्नमृणं ज्ञोच्चे खरामघ्नं गुरावृणम् ॥८॥
ऋणं व्योमनवघ्नं स्याद्दानवेज्याचलोच्चके ।
धनं सप्ताहतं मन्दे परिधीनामथोच्यते ॥९॥
युग्मान्तोक्ताः परिधयो ये ते नित्यं परिस्फुटाः ।
ओजान्तोक्तास्तु ते ज्ञेयाः परबीजेन संस्कृताः ॥१०॥
वच्मि निर्बीजकानोजपदान्ते वृत्तभागकान् ।
सूर्य्येन्द्वोर्मनवो दन्ता धृतितत्त्वकलोनिताः ॥११॥
बाणतर्का महीजस्य सौम्यस्याचलबाहवः ।
वाक्पतेरष्टनेत्राणि व्योमशीतांशवो भृगोः ॥१२॥
शून्यर्तवोऽर्कपुत्रस्य बीजमेतेषु कारयेत् ।
बीजं खाग्न्युद्धृतं शोध्यं परिध्यंशेषु भास्वतः ॥१३॥
इनाप्तं योजयेदिन्दोः कुजस्याश्वहतं क्षिपेत् ।
विदश्चन्द्रहतं योज्यं सूरेरिन्द्रहतं धनम् ॥१४॥
धनं भृगोर्भुवा निघ्नं रविघ्नं शोधयेच्छनेः ।
एवं मान्दाः परिध्यंशाः स्फुटाः स्युर्वच्मि शीघ्रकान् ॥१५॥
भौमस्याभ्रगुणाक्षीणि बुधस्याब्धिगुणेन्दवः ।
बाणाक्षा देवपूज्यस्य भार्गवस्येन्दुषड्यमाः ॥१६॥

शनैश्चन्द्राब्धयः शीघ्रा ग्रोजान्ते वीजवर्जिताः ।
द्विघ्नं स्वं कुजभार्गेषु ग्रोजं द्विघ्नमृणं विदः ॥१७॥
ग्रत्यष्टिघ्न घनं सूरेरिन्दुघ्नं शोधयेत् कवेः ।
चन्द्रघ्नमृणमार्कस्य स्युरेभिर्दृक्समा ग्रहाः ॥१८॥
एतद्बीजं मया ख्यातं प्रीत्या परमया तव ।
गोपनीयमिदं नित्यं नोपदेश्यं यतस्ततः ॥१९॥
परीक्षिताय शिष्याय गुरुभक्ताय साधवे ।
देयं विप्राय नान्यस्मै प्रतिकञ्चुककारिणे ॥२०॥
वीजं निःशेषसिद्धान्तरहस्यं परमं स्फुटम् ।
यात्रापाणिग्रहादीनां कार्याणां शुभसिद्धिदम् ॥२१॥

इत्युक्त्वा मयमामन्त्र्य सम्यक् तेनाभिपूजितः ।
दिवमाचक्रमेऽर्कांशः प्रविवेश स्वमण्डलम् ॥२४॥
मयोऽथ दिव्यं तज्ज्ञानं ज्ञात्वा साक्षाद् विवस्वतः ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मेने निर्धूतकल्मषम ॥२५॥
ज्ञात्वा तमृषयश्चाथ सूर्यलब्धवरं मयम् ।
परिवव्रुरुपेत्याथो ज्ञानं पप्रच्छुरादरात् ॥२६॥
स तेभ्यः प्रददौ प्रीतो ग्रहाणां चरितं महत् ।
ग्रत्यद्भुततमं लोके रहस्यं ब्रह्मसम्मितम् ॥२७॥

इति सूर्यसिद्धान्ते मानाध्यायश्चतुर्दशः ॥१४॥

भाषानुवाद—इस प्रकार मयासुर को सूर्यांश पुरुष ग्रच्छे प्रकार ज्योतिष का उपदेश कर ग्रपने स्वर्गतुल्य सूर्यमण्डल में प्रवेश कर गया ॥२४॥ सूर्यांश पुरुष के ग्रन्तर्द्धान होने पर मयासुर ने सूर्यांश पुरुष से ज्ञान पाने पर भी ग्रपने को साक्षात् सूर्य ही से ज्ञान पाया जाना। इस विचार से पापरहित ग्रौर कृतकार्य समझने लगा ॥२५॥ सूर्य के वरदान से ज्योतिष का ज्ञान मयासुर को प्राप्त हुग्रा। ऐसी जनश्रुति सुन कर मुनिगण उस के पास ग्राकर ग्रादर सहित ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान पूंछने लगे ॥२६॥ ग्रौर मयासुर ने भी ऋषियों के सत्कार से प्रसन्न होकर उन को ज्योतिष का ज्ञान ग्रहादिकों की स्थित्यादि ग्रतिग्रद्भुत ग्रौर रहस्य मानो मोक्षशास्त्र स्वरूप का उपदेश किया ॥२७॥

इति सूर्यसिद्धान्ते भाषानुवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

समाप्तश्च सूर्यसिद्धान्तः ॥